आचार्य-श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी-जैन-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क (१४)

卐 श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः 卐

प्राप्तिस्थान—श्रीकेसरबाईज्ञानमन्दिर पाटण

आचार्यदेवश्रीमद्विजयकमलसूरि-जैन-ग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क-१४

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः ।

सम्पादकौ संशोधकौ च-पंन्यास-मानविजय-कान्तिविजयौ

प्रकाशकः—पत्तनस्थ-केसरबाई-ज्ञानमन्दिरसंस्थापकः

श्रेष्ठी नगीनदास करमचन्द संघवी

प्रतयः ५००

विक्रम सं० २००६]   मूल्यं रूप्यैकादशकम्   [वीर सं० २४७६

प्राप्तिस्थानम्–
श्रीकेसरबाईज्ञानमन्दिर
C/o नगीनभाई हॉल
पाटण [उ० गुजरात]

अद्भुतप्रतिभादर्शसङ्क्रान्ताशेषविष्टपम् । नमामि तमहं सिद्धव्याख्यातारं मुनीश्वरम् ॥१॥
चक्रे परोपकाराय परमार्थप्रकाशिनी । उपमित्यभिधा येन कथाद्भुतनिधानभूः ॥२॥

[प्रस्तुतग्रन्थ–प्रथमप्रस्तावे]

मुद्रक–
शाह गुलाबचन्द लल्लुभाई
श्री महोदय प्रीन्टींग प्रेस,
C/o दाणापीठ–भावनगर.

प्रकाशकीय-निवेदन ।

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित 'उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धार' नामनो अद्यावधि अमुद्रित आ ग्रन्थ 'आचार्यदेव श्रीमद् विजयकमलसूरिजी जैन ग्रन्थमाला'ना १४मा ग्रन्थाङ्क तरीके श्रीकेसरवाई ज्ञानमन्दिर तरफथी सम्पादित करावी समाज समक्ष रजू करतां अमने अत्यन्त आनन्द थाय छे. आ ग्रन्थनुं सम्पादन अने संशोधन पूज्यपाद परमगुरुदेव सच्चारित्रचूडामणि सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजना पट्टधर पूज्यपाद व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजना शिष्यरत्नो पूज्य पंन्यासजी श्रीमानविजयजी महाराज तथा पूज्य पंन्यासजी श्रीकान्तिविजयजी महाराजे पांच हस्तलिखित प्रतिओना आधारे करेल छे. आ ग्रन्थ छपाववामां कोईनी पण आर्थिक सहाय मळेल नथी. अत्यारनी असह्य मोंघवारीना कारणे छपामण तथा कागळना भावो चार पांच गुणा वधी जवाथी धारवा करतां वधु खर्च थई गयेल छे; एटले जे किंमत राखवामां आवेल छे ते सामान्य नजरे जोनारने वधु लागशे, परन्तु ज्ञानपिपासु आत्माओ किंमत तरफ लक्ष्य नहि आपतां आवा अप्रकाशित ग्रन्थनी उपयोगिता तरफ ज ध्यान आपशे एवी आशा राखीये छीये. सम्पादन संबंधी सघळी हकीकत तेओश्रीए पोताना सम्पादकीय वक्तव्यमां लखी छे, एटले ते त्यांथी जोई लेवा विनंति छे.

विक्रम संवत् २००६
द्वितीय आषाढ शुक्ल प्रतिपदा.

संघवी नगीनदास करमचंद
पत्तनस्थ-श्रीकेसरवाई—ज्ञानमन्दिरना संस्थापक.

सम्पादकीय-वक्तव्य ।

प्रारम्भइतिहास—विक्रम संवत २००३ ना पोष मासमां पाटण जवानो प्रसंग उपस्थित थयो. त्यां गया बाद तत्रत्य हस्तलिखित प्रतिओ पैकी '**उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धार**'नी प्रति तरफ ध्यान खेंचायुं. सामान्य अवलोकन कर्या बाद तेनी उपयोगिता लागवाथी प्रेसभोग्य कोपी करावी. प्रेसकोपीना प्रथम वांचन उपरथी एने मुद्रित कराववानो निर्धार थयो. त्यारबाद जे प्रति उपरथी प्रेसकोपी करावी हती तेनी साथे मेळवणी करी लीधी. अशुद्धिओना परिमार्जन माटे प्रत्यन्तरोनी तपास करतां तेनी एक ताडपत्रीय अने बीजी त्रण कागळनी प्रतिओ उपलब्ध थई. त्यारबाद ए चारे प्रतिओ साथे प्रेसकोपी 'आदिथी अन्त सुधी' मेळवी पाठभेदोनी काची नोंध तैयार करी. तदनन्तर अर्थानुसन्धाननी पर्यालोचना करी; भ्रष्ट पाठोने रद करी, उपयोगी पाठभेदोनी तारवणी करी लीधी. आम छतां य ताडपत्रनी प्रति माटे तो ए धोरण स्वीकार्युं के एनो भ्रष्ट देखातो पाठ तथा अर्थानुसन्धाननी दृष्टिए अन्य प्रतिओ करतां उतरती कोटिनो पाठ पण फूटनोटमां पाठभेद तरीके नोंधवो. तेनुं कारण ए हतुं के–ए प्रति शुद्धप्रायः हती, अने आथी ज अमे आ ग्रन्थना प्रकाशनमां मुख्य स्थान ताडपत्रनी प्रतिने आप्युं छे. बस आ कार्य समाप्त थया बाद कोई कार्यप्रसंगे **संघवी नगीनदास करमचंदनुं** पाटण आववानुं थयुं. तेमने आ ग्रन्थनी उपयोगिता अने मुद्रण कराववानी आवश्यकता समजाववामां आवी

अने ते वात तेमणे सहर्ष स्वीकारी. आ दरम्यान मारा वडिल भ्राता पंन्यासजी **श्रीमन्मानविजयजी म०** पाटण पधार्या. तेओश्रीने आ ग्रन्थना संशोधन अने संपादनमां सहयोग आपवा में विनन्ति करी, जेनो हार्दिकभावे तेओश्रीए स्वीकार कर्यो. पछी आ संस्करणने सुन्दर अने शुद्ध बनाववा माटे एनुं मुद्रण **महोदय प्रेस**–भावनगरमां कराववा निर्णय थयो. आ रीतिए सदरहु ग्रन्थना मुद्रणना श्रीगणेश मंडाया.

प्रस्तुतसंस्करणनी आवश्यकता—कोई पण ग्रन्थना संस्करणमां मुख्यत्वे त्रण हेतुओ होय छे. १–ते ग्रन्थ अमुद्रित ज होय, २–मुद्रित होवा छतां अलभ्य या दुष्प्राप्य होय अने ३–प्राप्य होवा छतां अशुद्धिओथी भरपूर होय. आ न्याये प्रस्तुत ग्रन्थ छपाववानो मुख्य हेतु तो अद्यावधि एनी अमुद्रित अवस्था ज छे. आ सिवाय बीजो ए पण एक हेतु छे के—आ ग्रन्थनुं मूल स्थान जे '**सिद्धर्षिगणिनी उपमिति**' छे ते विशालकाय होवाना कारणे व्याख्यान माटे एनो उपयोग जवल्लेज थाय छे. ज्यारे प्रस्तुत ग्रन्थ एनो ज–सारभागनो ज–संक्षेपमां उद्धाररूप होवाथी अल्पकाय होवाना कारणे व्याख्यान माटे उपयोगी थवा साथे अल्पबुद्धिवाळा जिज्ञासुने मूल उपमितिमां प्रवेश करवा माटे सागरमां प्रयाण करनारने नावानी जेम उपकारी थशे.

सम्पादनसम्बन्धी—आ ग्रन्थनुं सम्पादन अने संशोधन अमारा बेना सहयोगथी थयुं छे. एमां अमे पांच हाथ-पोथीओनो उपयोग कर्यो छे. सम्पादकनुं ए एक अवश्य कर्तव्य छे के–मुद्रित थता ग्रन्थनुं सम्पादन तेवी अपूर्वयोजना अने संकलनाथी करवुं जोईए के जेथी अभ्यासीओने ए ग्रन्थ रसिक थई पडे, तेमज तेनी बाह्य रोचिष्णुता ज एवी अनेरी

होवी जोईए के जेथी ए ग्रन्थ सहृदयोने हृदयङ्गम बनवा साथे तत्पठनेच्छुकोने आकर्षण करी शके. उपर्युक्त सम्पादकीय जवाबदारीने लक्ष्यमां राखीने अमे पण आ ग्रन्थने यथाशक्ति रोचक बनाववा तेमज शुद्ध बनाववा शक्य प्रयत्न कर्यो छे. जे जे स्थळोए अमने पांचे प्रतिनो पाठ अशुद्ध लाग्यो छे ते ते स्थळे मूल उपमितिनी साथे अर्थानुसन्धाननो विचार करी सुधारेलो पाठ आवा (   ) गोळ कोष्ठकमां मूक्यो छे, अने ज्यां अमने संदिग्ध पाठ लाग्यो छे त्यां अमे आ प्रमाणे (?) चिह्न सूचव्युं छे. प्रत्येक प्रस्तावनी क्रमसर विषयसूचि अमे विस्तृत अनुक्रमणिकामां आपी छे. अनुक्रमणिकाना विषयो मूल उपमितिमां क्यां छे? ए जणाववा माटे अमे त्यां अनुक्रमणिकामां, सि० उ० पृ० आ शिर्षक नीचे, छपायेली मूल उपमितिना पृष्ठाङ्को पण जणाव्या छे, जे देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थाङ्क ४६–४९ नी प्रति उपरथी छे. आम करवानुं कारण ए छे के–विशेषजिज्ञासु मूल उपमितिमांथी ते स्थल शीघ्र खोळी शके, अने सामान्यजिज्ञासु आ ग्रन्थना दुर्बोध स्थळने मूल उपमितिद्वारा सुबोध करी शके.

ग्रन्थपरिचय—प्रस्तुतग्रन्थ–रूपक कथानी आलममां पराकाष्ठाए पहोंचेल सिद्धव्याख्यातृ श्रीसिद्धर्षिगणिकृत उपमितिना अनुकरणरूपे एमांथी उद्धृत साररूप छे. ए उपमितिग्रन्थमां कयी कयी विशिष्टताओ छे, अगर ए ग्रन्थ कया ग्रन्थ जेवो छे एम कहेवा करतां एमां सर्व प्रकारनी विशिष्टता छे अने ए ग्रन्थ उपमातीत छे एम कहेवुं एज समुचित छे.

१ सिद्धव्याख्यातुराख्यातु महिमान हि तस्य कः। समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमितिः कथा ॥१॥ [सक्षेपसमरादित्यचरित्रे]

एज ग्रन्थना सारोद्धाररूप आ ग्रन्थ संक्षेपरुचिजीवोना उपकारार्थे *आलेखायो छे.

मूल उपमितिनी माफक आ ग्रन्थमां पण आठ प्रस्तावो छे. आ ग्रन्थनी श्लोक संख्या ५७३० छे अने ते श्लोकबद्ध छे. सारो य ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दमां होवा छतां प्रत्येक प्रस्तावनो अन्तिम श्लोक बीजा छन्दमां छे. प्रत्येक प्रस्तावमां कयो कयो विषय छे तेनुं संक्षेपमां वर्णन प्रथम प्रस्तावना श्लो. ८ थी ११ मां आ प्रमाणे करवामां आव्युं छे—

पहेला प्रस्तावमां कथानिर्माणनुं कारण, बीजा प्रस्तावमां संसारीजीवनी तिर्यञ्चगतिनुं वर्णन, त्रीजा प्रस्तावमां क्रोध, हिंसा अने स्पर्शनेन्द्रियथी उत्पन्न थता दोषोनुं आलेखन, चोथा प्रस्तावमां मान, मृषावाद अने रसनेन्द्रियना विकारो, पांचमा प्रस्तावमां माया, चोरी अने घ्राणेन्द्रियजन्य विपाक, छट्ठा प्रस्तावमां लोभ, मैथुन अने चक्षु–इन्द्रियनुं परिणाम, सातमा प्रस्तावमां मोह, परिग्रह अने श्रवणेन्द्रियना दोषो अने आठमा प्रस्तावमां पूर्वना प्रस्तावोमां कथित सर्वघटनानी योजना.

आ उपरथी समजी शकाशे के मूल उपमितिना विषयोमां खास कशो य फेरफार कर्या विना ज आ ग्रन्थनी रचना करवामा आवी छे. कथाना पात्रोनी आखीए संकलना अने पात्रोना नामो आदिनी रचना कोई पण जातनो सुधारो वधारो कर्या विना तेनी ते ज राखी छे. मात्र ग्रन्थने सक्षेपमां रचवानो होवाथी नगरो, नगरीओ, ऋतुओ, उपदेशो

* सक्षेपरुचिलोकानामुपकाराय साम्प्रतम् । तस्या एव मया कोऽपि सारोद्धारः प्रतन्यते ॥ प्रस्तुतग्रन्थ–प्रस्ताव १, श्लो० ७ ॥

आदिनुं वर्णन टूंकाववामां आव्युं छे. आम छतां य कथाना रसने क्यांय ओछो थवा दीधो नथी अने अन्यथा पण वर्णव्यो नथी. कोई कोई स्थळे तो एना एज श्लोको सीधा अत्र उतार्या छे. आ बधुं तुलनात्मक दृष्टिए अवलोकन करनारने जणाया विना नहि रहे. यद्यपि उपमितिना अनुकरणरूप बीजा अनेक ग्रन्थो छे, पण सर्वांगीण अनुकरण करनारो आना जेवो बीजो एके य ग्रन्थ नहि होय एम अमारुं मानवुं छे. कारण के आ आखो य ग्रन्थ मूल कथानी साथे ने साथे ज चाले छे. कोई नवो विषय वधार्यो नथी अने वर्णनविभाग सिवायनो कोई पण विषय छोडी दीधो नथी. अलबत, अनुकरणरूप ग्रन्थो पैकी वैराग्यकल्पलता नामनो ग्रन्थ आ प्रस्तुत ग्रन्थ करतां विशालकाय छे. एमां य पात्रोना नामो आदि सघळुंए वर्णन उपमिति प्रमाणे ज छे. परंतु एना लेखक तर्क, प्रमाण, सप्तभंगी अने नयादि सूक्ष्मप्रज्ञाज्ञेय विषयोना समर्थ विद्वान् बहुश्रुत न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज होवाना कारणे एमां एमनी प्रौढ प्रतिभाना छांटणा होय ज, एटले ज एमां, उपमितिमां नहि आवेला केटलाए 'समन्तभद्रादि त्रण प्रकारनी जिनपूजा, समाधि अने समता आदि' विषयोनुं मनोरंजक विस्तृत वर्णन असाधारण विद्वत्तापूर्वक आलेखायुं छे. आ सिवाय अनुकरणरूप जे बीजा ग्रन्थो छे तेमांना केटलाक अतिसंक्षिप्त छे अने केटलाकमां तो मात्र उपमितिना थोडाक पात्रोनुं ज आछुं वर्णन छे. आथी अनुकरणरूप ग्रन्थोमां आ ग्रन्थनुं स्थान असाधारण छे.

ग्रन्थकारपरिचय—प्रस्तुत ग्रन्थना रचयिता चन्द्रगच्छीय आचार्यश्रीदेवेन्द्रसूरिजी छे. प्रशस्तिमां पोते पोतानी गुरुपरम्परानुं आलेखन आ प्रमाणे कर्युं छे.

श्रीभद्रेश्वरसूरिः
|
श्रीहरिभद्रसूरिः
|
श्रीशान्तिसूरिः
|
*श्रीअभयदेवसूरिः
|
श्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिः
|
श्रीमुनिरत्नसूरिः
|
श्रीश्रीचन्द्रसूरिः

श्रीयशोदेवसूरिः | श्रीदेवेन्द्रसूरिः

---

* ताडपत्र सिवायनी बाकीनी चार प्रतिओमां आ नामना स्थाने 'श्रीउदयदेवसूरि'नुं नाम छे. संभव छे के कदाच तेमनु नाम पदप्रदान वखते बदलायुं होय.

ग्रन्थकार महर्षिने आचार्यपदवी तेमना वडिल भ्राता श्रीयशोदेवसूरिजीए आपी हती. तेओश्रीए आ ग्रन्थ विक्रम संवत १२९८ना कार्तिक कृष्ण छठना पुष्यनक्षत्रयुक्त दिवसे समाप्त कर्यो छे. आ उपरथी तेओश्रीनी सत्ता १३ मी सदीना उत्तरार्धथी १४ मी सदीना पूर्वार्ध सुधी होवी जोईए. तेओश्रीनी जन्मभूमि, दीक्षा, विहारभूमि अने साहित्यसर्जन आदिनी बीजी कशीज माहिती उपलब्ध साधनोमां शोध करवा छतां मळी शकी नथी.

आ ग्रन्थकारे साहित्यचोरीना पापथी बचवा माटे प्रस्ताव १ श्लो. १२ मांमां स्पष्ट जणावी दीधुं छे के–आ मारी कृतिमां अर्थो अने कोई कोई स्थळे पदो पण उपमितिनां ज छे. मात्र केवल श्लोकबद्ध अने ते पण थोडा श्लोकमां रचेली होवाथी नवी कृति कहेवाय छे.

आजे सारा जगतमां प्रत्येक क्षेत्रमां अनीति, अप्रमाणिकता अने चौर्यवृत्ति, द्रव्योपार्जन अगर यशःकीर्ति माटे पूरजोशमां थई रही छे. ए मेली रमतना छांटा साहित्य जेवा आध्यात्मिक क्षेत्रने पण नथी लाग्यां एम कही शकाय तेम नथी. परन्तु आ ग्रन्थकार तो एवी अप्रमाणिकता अने चौर्यवृत्तिथी सर्वथा अलिप्त रह्या छे ए एमना ज कथन उपरथी स्पष्ट देखाय छे. दुःखाता हृदये लखवुं पडे छे के वर्तमानमां कोई कोई व्यक्तिओ तरफथी सस्ती कीर्ति खाटवा साहित्यचोरीद्वारा पर-

१ 'अन्यच्चार्थास्त एवात्र पदान्यपि च कुत्रचित्। केवलं केवलस्तोकश्लोकक्लृप्तिर्नवोच्यते'॥

२ एथी ज नाट्यदर्पणमा 'अकवित्व परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम्। अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका'॥ आवो उल्लेख छे.

प्रयत्नने पोताना नामे चढाववानो प्रयत्न करवामा आवे छे, ए खूब ज शोचनीय छे. शिष्टसमाजमां अन्य चोरीनी जेम साहित्यचोरी पण दूषित अने घृणित ज मानवामां आवेली छे ए जराए भूलवा जेवुं नथी.

ग्रन्थसंशोधकपरिचय—पूर्वकालमां ग्रन्थकारो पोताना ग्रन्थोने बीजा विद्वानो पासे संशोधन कराव्या पछी स्वकीय ग्रन्थने प्रसिद्धिमां मूकता हशे एनी इतिहास साक्षी पूरे छे. एज न्याये प्रस्तुत ग्रन्थ पण समकालीन प्रसिद्ध संशोधक चन्द्रगच्छीय श्रीप्रद्युम्नसूरिजीए शोधेल छे, जे आ ग्रन्थनी प्रशस्तिथी जाणी शकाय छे. आ श्रीप्रद्युम्नसूरिजीए पोते संक्षेप-समरादित्यचरित्र, प्रव्रज्याविधानवृत्ति आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे अने नीचे जणावेला तेमना समकालीन ग्रन्थकारोने ग्रन्थरचनामां अने संशोधनमा सहाय पण करी छे.

१ श्रीबालचन्द्रसूरिनी उपदेशकन्दलीवृत्ति तथा विवेकमञ्जरीवृत्तिनी रचनामां सहाय करी छे, अने

१ वि. सं. १२९९ मां श्रीउदयप्रभसूरिकृत उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति,

२ वि. सं. १३३२ मां श्रीमुनिदेवसूरिरचित श्रीशान्तिनाथचरित्र,

३ वि. सं. १३३४ मां श्रीप्रभाचन्द्रसूरिविरचित प्रभावकचरित्र,

४ वि. सं. १३३४ मां पण्डित श्रीधर्मकुमारप्रणीत श्रीशालिभद्रचरित्र,

५ श्रीरत्नप्रभसूरिनिर्मित कुवलयमालाकथासंक्षेप,

६ श्रीविनयचन्द्रसूरिविहित श्रीमल्लिनाथचरित्र, अने

७ श्रीमानतुङ्गसूरिक्लृप्त श्रीश्रेयांसनाथचरित्र, एम सात ग्रन्थो शोधी आपवामां सहाय करी छे.

प्रशस्तिमां जणाव्या प्रमाणे एमनी गुरुपरम्परा आ प्रमाणे छे.

चन्द्रगच्छीय श्रीदेवानन्दसूरिः

- श्रीरत्नप्रभसूरिः
- श्रीकनकप्रभसूरिः
  - श्रीबालचन्द्रसूरिः
  - श्रीप्रद्युम्नसूरिः

आ श्रीप्रद्युम्नसूरिनी आचार्यपदवी तेमना वडिल गुरुभ्राता श्रीबालचन्द्रसूरिना हाथे थई हती.

प्रतिओनो परिचय—प्रस्तुत संस्करणमां अमे पांच हाथपोथीओनो उपयोग कर्यो छे—

१ पाटण-संघवीना पाडानी ताडपत्रनी, जेनी अमे ता० संज्ञा राखेली छे.

२–३ पाटण श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिरनी, जेनी अमे क० अने ख० संज्ञा राखी छे.

४ अमदावाद डेहेलाना उपाश्रयनी, जेनी अमे ग० संज्ञा राखी छे.

५ वडोदरा पूज्यपाद शान्तमूर्ति श्रीहंसविजयजी शास्त्रसंग्रहनी, जेनी अमे घ० संज्ञा राखी छे.

आ पांचे प्रतिओनो परिचय आपतां पहेलां एक वात जणावीये छीए के–आ संस्करणमां अमे ताडपत्रनी प्रतिने ज मुख्यत्व आप्युं छे. आम छतां बीजी कागळनी प्रतिओनी साथे ज्यां ज्यां भिन्नता आवी त्यां त्यां तात्पर्यने दृष्टिपथमां राखी मूल उपमितिमां ए स्थळ तपासी संगतपाठने मुख्य स्थान आप्युं छे, अने ताडपत्रीय पाठने फूटनोटमां आप्यो छे. ज्यारे बीजी कागळनी चार प्रतिओ माटे ए धोरण स्वीकार्युं छे के–जे प्रतिनो पाठ मूल उपमितिनी साथे चालतो होय तेने मुख्य स्थान आपी प्रत्यन्तरनो पाठ सर्वथा अशुद्ध न होय तो पाठान्तर तरीके नोंध्यो छे.

१ ता० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य जूनो डाभडा नंबर–९३ अने नवो डाभडा-नंबर ११२ छे. पत्र संख्या २९२ छे. लंबाई पहोळाई १५$\frac{१}{२}$"×२$\frac{१}{४}$" छे. प्रतिनी स्थिति सारी छे. आम छतां य छेल्ला प्रशस्तिवाळा बे पत्रो (२९१–२९२)नी जमणी बाजुमां लगभग १$\frac{१}{२}$ इंच जेटलो भाग तूटी गयो छे. आ भाग क्यारे अने कोना हाथे तूट्यो एनी अमने कशी ज खबर नथी, परन्तु सने १९३७ मां छपायेल पत्तनस्थ–प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि(प्रथमभाग)मां आ प्रशस्ति खण्डित स्थितिमां मुद्रित थई छे. एटले तूटेलो भाग ते पहेलां ज गुम थयो छे ए नक्की छे. आ प्रतिमां प्रशस्ति घणी मोटी छे. ए प्रशस्ति आपता पहेलां एक वात ए जणाववानी छे के–आ प्रशस्ति अत्यार अगाउ त्रण स्थळे मुद्रित थई गई छे.

१ पत्तनस्थ–प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि प्रथम भागना पृष्ठ ५० उपर.

२ प्रशस्तिसंग्रहना (संपादक अमृतलाल मगनलाल शाह) पृष्ठ ५८ उपर.

३ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रहना (सींघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १८) पृष्ठ ६८ उपर.

आ त्रण स्थळे मुद्रित थयेली प्रस्तुत प्रशस्तिनी मौलिकता पहेला स्थळमां बरोबर जळवाई छे. एटले के जे स्थळे अक्षरो खण्डित छे त्यां अर्थानुसन्धाननो विचार करी [ ] आवा कोष्टकमां तेटला अक्षरो उमेर्या छे. अने ज्यां समज नथी पडी त्यां तेटली जग्या खाली राखी छे. आम करी स्व. श्रीयुत दलाले प्रमाणिकताने बरोबर जाळवी छे, एम कहेवुं ज जोईए.

बीजा स्थळमां तो सम्पादके खण्डित भागमां पोतानी मतिकल्पनाथी नवा अक्षरो एवी रीते जोडी दीधा छे के जाणे आ प्रशस्ति एमने अखण्डित ज मळी होय. एटलुं ज नहि पण ए अक्षरयोजनामां य एटली बधी गडबड करी छे के–कयो छेन्द चाले छे एनो पण ख्याल राखवा तस्दी लीधी नथी.

त्रीजा स्थळमां पण आ प्रशस्तिनी मौलिकताने केटलेक स्थळे विकृत करवामां आवी छे. सुवाच्य अक्षरोने पण बदली नांख्या छे अने खण्डित अक्षरोने अखण्डित मळ्या होय तेवी रीते मुद्रित कराव्या छे. एना सम्पादक तो सम्पादक आलममां अति प्रसिद्धिने पामेला श्रीयुत जिनविजयजी छे. सम्पादके जैनपुस्तक–प्रशस्तिसंग्रहमां प्रास्ताविक विचारना पृष्ठ १५ ना त्रीजा फकरामां लख्युं छे के–'इनमेंसे पाटणके भाण्डारोंमें रक्षित पुस्तकोंके तो प्रायः सब लेख हमने अपने हाथोंसे उतारे हैं'। आम होवा छतां एमना हाथे आवुं केम बन्युं हशे ए ज एक विचारणीय प्रश्न छे. बीजुं आ

१ जूओ आ प्रशस्तिना प्रथम श्लोकनो एडणे आपेलो उत्तरार्धभाग. अपारभवकान्तारतारित........ तवः ॥ १ ॥

२ जूओ आ प्रशस्तिना प्रथम श्लोकनो एमणे आपेलो उत्तरार्धभाग. अपारभवकान्तारसमुत्तारितजंतवारित.. तव ॥ १ ॥

३ जूओ आ प्रशस्तिमा एमणे आपेलो प्रथम श्लोक. श्रीमन्तस्ते सतां सन्तु तीर्येशाः स्वस्तिकारणं । अपारभवकान्तारसमुत्तारितजंतवः ॥ १ ॥

प्रशस्तिवाळी ताडपत्रनी प्रति माटे श्रीयुत जिनविजयजीए १३ मी सदीमां लखायानुं अनुमान कर्युं छे ते पण व्याजवी लागतुं नथी, कारणके–आ ग्रन्थ वि. सं. १२९८ मां तो रचायो छे. अने आ प्रतिनो विचार करतां ए मूल लेखकनी प्रति होय एम लागतुं नथी, एटले प्रतिलिपी थयेली होवानो ज संभव छे. आथी अमारुं तो ए मानवुं छे के आ प्रति वहेलामां वहेली १४ मी सदीना प्रथम या द्वितीय चरणमां लखाई हशे.

ताडपत्रीयप्रतिनी प्रशस्ति—शुभं भवतु लेखक-पाठकयोः ।

श्रीमन्तस्ते सतां सन्तु तीर्थेशा[ः] स्वस्तिकारिणः । अपारभवकान्तारतारित [°नेकजन°] तवः ॥ १ ॥
पल्लीवाल इति ख्यातो वंशः पर्वोदितोदितः । सोऽस्ति स्वस्तिकरो धात्र्यां यत्र कीर्तिर्ध्वजायते ॥ २ ॥
पु [°रा तत्र प°] वित्रोऽभूद् वंशे मुक्ताप(°फ°)लोज्ज्वलः । वीकलाख्य इति श्रेष्ठी सतां हृदि गुणै[ः] स्थितः ॥ ३ ॥
तत्पत्नी रत्नदेवीति पवित्रा पुण्यशालिनी । गुणमाणिक्यमञ्जूषा तुषारद्युतिशीतला ॥ ४ ॥
पुत्री तयोः स्हूणिनामधेया सुश्राविका शीलवती बभूव । या देवपूजानिरता गुरूणां पादाम्बुजासेवनराजहंसी ॥ ५ ॥
पुरा पवित्रस्तत्रासीद् वंशे मुक्ताफलोज्ज्वलः । योगदेव इति [श्रे°]ष्ठी सतां हृदि गुणैः स्थितः ॥ ६ ॥
आंम्रदेवश्च वीरश्च तनयौ सनयौ ततः । कर्पद्या(°पर्दा°) माकसाढाका वीरपुत्रास्त्रयोऽभवन् ॥ ७ ॥
सा [°ढाक°] स्य ततो जज्ञे पुत्रश्चाम्बकुमारकः । परोपकारदाक्षिण्यगाम्भीर्यावधिसेवधिः ॥ ८ ॥
जयती(°न्ती°)त्याख्यया जज्ञे गेहिनी तस्य सत्य [°वाक्] । तत्सुतः पासडो जज्ञे धांई रूपी सुते तथा ॥ ९ ॥

ततः सत्पुण्यपात्रस्य पवित्रस्य महात्मनः । सुधियः पासडस्याभूत् पत्नी पातूरिति [प्रिया] ॥ १० ॥
तस्याः पुत्रास्त्रयो जाताः पुमर्था इव जङ्गमाः । जगत्सिंहो वज्रसिंहः तथा मथनसिंहकः ॥ ११ ॥
माह्लणिर्जगत्सिंह [°स्याभवत् स°]द्धर्मचारिणी । सूह्लणिर्वज्रसिंहस्य बभूव प्रेयसी ततः ॥ १२ ॥
श्रीपूज्योदयचन्द्राख्यपट्टस्योद्योतकारिणाम् । श्रीश्रीदेवसूरीणा [°मुपदे°] शेन भक्तिभाक् (?) ॥ १३ ॥
सूह्लणिश्राविका सेयं कुर्वाणा धर्मसंग्रहम् । श्रीजयदेवसूरीणां विशेषाद् भक्तिशालिनी ॥ १४ ॥
[उपमितिभवप्रपञ्च°]स्योद्धारस्यात्र पुस्तिकामेताम् (?) । सा पातू[ः] स्वश्वश्रूश्रेयोऽर्थं लेखयामास ॥ १५ ॥
यावदुदयाद्रिवेद्यां दिवसकरो भानुपावकसम [°क्षम्] । परिणयति दिक्कुमारीं नन्दतु सत्पुस्तकस्तावत् ॥ १६ ॥
शुभमस्तु श्रीश्रमणसंघस्य ॥ छ ॥ मङ्गलं महाश्रीरिति ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

२ क० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य डा० नं० १६७ अने प्रति नं० ६५८३ छे. एना पत्र १०४ छे. आ प्रति पडिमात्रा लिपीमां लखायेली छे. शुद्धिनुं धोरण एमां जोईए तेवुं सचवायुं नथी. आ प्रति क्यारे लखाई, क्यां लखाई तथा कोणे लखावी ए बधुं अन्तिम पुष्पिका नहि होवाना कारणे अज्ञात ज रहेवा पाम्युं छे. आम छतां प्रतिनी लिपी तथा स्थिति जोतां पंदरमी सदीनी आसपासमां लखाई हशे एम लागे छे.

३ ख० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य डा० नं० ८१ अने प्रति नं० १९२१ छे. पत्र संख्या १५७ छे. आ प्रति अर्वाचीन होवा छतां य एमां शुद्धि सारी छे. आथी अमने लागे छे के—जेना उपरथी आ प्रतिलिपी थई छे ते आदर्श शुद्धतम होवो जोईए.

एमां आ प्रमाणे पुष्पिका छे—लि० लहिया श्रीवल्लभः ॥ सं. १९६२ फागण वद ११ लि० श्रीपाटणमध्ये ॥ श्री ॥

४ ग० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य डा० नं० ४ अने प्रति नं० ४ छे. पत्र संख्या १०६ छे. आ प्रतिमां शुद्धिनुं धोरण ठीक प्रमाणमां सचवायुं छे. एमां पुष्पिका आ प्रमाणे छे—श्रीः ॥ शुभं भवतु ॥ छः ॥ श्रीः ॥ कल्याणं भूयात् ॥ श्रीः ॥ संवत १५६२ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्ण पक्षे दशमी तिथौ गुरुद(°दि°)ने श्रीअणहिलपाटकपत्तने श्रीतपागच्छे श्रीपरमगुरु श्रीहेमविमलसूरिविजयमानराज्ये पंडितश्रेणिशिरोमणि————————(अहीं लगभग चार इंच जेटली जग्या उपर कोईए हडताल लगावी छे.) मुनिभणनगुणनकृते श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारप्रतिर्लेखिता ॥ विबुधैर्वाच्यमाना चिरं जयतात्। श्रीरस्तु श्रीचातुर्वर्णस्य श्रीसंघस्य ॥ छ ॥

५ घ० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य नंबर नोंधवो रही गयो छे. एटले अमे ते नंबर आपी शकता नथी. आ प्रति खास करीने क० संज्ञक प्रतिने बहुधा मळती छे. आमां लख्या संवत आदि कशुं ज नथी. मात्र आटली पुष्पिका छे—पं. श्रीदेवसागरजी मया करीनें अमरसागर।

ऋणस्वीकार—आ ग्रन्थना सम्पादन माटे तैयार करेली प्रेसकोपी पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् यशोदेवसूरिजीना शिष्य मुनिराज श्रीअशोकविजयजीए साद्यन्त तपासी योग्य सूचना आपी छे, मुनिराज श्रीमनकविजयजी महाराजे केटलीक वखत प्रूफो जोई आप्या छे, पू. पा. पंन्यासजी श्रीमुक्तिविजयजी महाराजे छपायेला फरमा जोई अमारा जोवा छतां रही

गयेली केटलीक अशुद्धिओ तरफ अमारुं ध्यान दोर्युं छे, संघवीना पाडानी ताडपत्रीय प्रति पटवा सेवन्तिलाले आपवा उदारता बतावी छे, श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिर(पाटण)ना ट्रस्टी नगरशेठ केशवलालभाई तथा वकील चीमनलाल संघवीए बे हस्तलिखित प्रतिओ आपवानी उदारता बतावी छे, पू. पा. आ. श्री. यशोदेवसूरिजीनी प्रेरणाथी शेठ हीराचंद रतनचंदनी पेढीना मालिक शाह साराभाई जेसींगभाईए डेहेलाना उपाश्रयनी प्रति मेळवी आपी छे, तथा उदारचेता साहित्यरसिक मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराजे पू० पा० मुनिराज श्रीहंसविजयजी शास्त्रसंग्रहनी प्रति मोकली आपी अमारा आ कार्यमां सहाय करी छे. आथी आस्थळे ए सर्वनो हार्दिक आभार मानी कृतज्ञता अनुभवीए छीए.

उपसंहार—प्रान्ते एक विज्ञप्ति करी विरमीए छीए के-छपाईने आवेला फरमाओमां दृष्टिदोषथी, असावधानीथी, मतिमान्द्यथी के प्रेसदोषथी रही गयेली क्षतिओनुं शुद्धिपत्रक तैयार करी अमोए अनुक्रमणिका पछी आप्युं छे ते मुजब वांचको प्रथम सुधारी लेशे. आम छतां य तदुपरान्त जे क्षतिओ रही गयेली जणाय तेने सुज्ञवांचको क्षम्य गणशे अने अनुकूलताए अमोने जणाववा अनुग्रह करशे, जेथी हवे पछीनी आवृत्ति प्रसिद्ध थाय त्यारे तेमां यथायोग्य सुधारो थई शके.

पुरीबाई जैन धर्मशाळा लींबडी (सौराष्ट्र)
विक्रम संवत २००६ वीर संवत २४७६
द्वितीय आषाढ वदि १०

कान्तिविजय

श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारस्य अनुक्रमणिका.

प्रथमः प्रस्तावः

द्वितीयः प्रस्तावः

तृतीयः प्रस्तावः

चतुर्थः प्रस्तावः

पञ्चमः प्रस्तावः ।

षष्ठः प्रस्तावः

सप्तमः प्रस्तावः

अष्टमः प्रस्तावः

शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्धः	शुद्धः
३	५७	ब्रूवाणापि	ब्रुवाणापि
३	७५	°वत्सलः	°वत्सलः ।
४	९१	भद्र !	भद्रं
५	१२९	पुरः	पुरः ।
५	१३०	°मिति	°मीति
५	१३४	राजा ब्रवी°	राजाऽब्रवी°
५	१४४	प्रतिपद्यत	प्रत्यपद्यत
५	१४६	°तद्द्यादत्ते (त्तं) ।	°तद्दया दत्ते ।
६	१५२	वार्योवश्यं	वार्योऽवश्यं
९	१	°शीरि°	°सीरि°
९	६	पुरीं	पुरीं
९	२५	वीक्ष्य°	वीक्ष°
१०	३८	निर्वां°	निर्वां°
१०	४९	°नामो°	°नामा°
१०	५६	सन्मुखं	सम्मुखं
१०।२	फूटनोट	परितैः	परितः
११	५९–६७	°ग्रहीत°	°गृहीत°
११	६०	°जंग्रहे	°जंगृहे
११	७७	°परिणाम°	°परीणाम°
१२	८९	स्वसः !	स्वसः ! ।
१२	१०१	°सिद्धश्च	°सिद्धश्च
१२	११५	°चक्राद्या	°चक्याद्या

१४	१४५	°गृहीत्	°ग्रहीत्
१५	१८१	प्रसुप्तोदि°	प्रसुप्तादि°
१५	१९८	°तितानि	°तीतानि
१६	२३१	श्रृणुत	शृणुत
१६	१३ मी लाइन °यप्र°		°यः प्र°
१७	१०	धात्रिभिः	धात्रीभिः
१७	फूटनोट	ज्योत्स्ना सा°	ज्योत्स्नासा°
१७	१५	पैशून्य°	पैशुन्य°
१७	१५	कटि°	कटी°
१७	१६	गुरुम्	गुरु
१७	१७	°संज्ञिकौ	°संज्ञकौ
२१	१३५	मुर्च्छया	मूर्च्छया
२१	१३९	°घुना पि	°घुनापि
२१	१४८	°शङ्कु°	°शङ्कु°
२१	१४८	कथङ्ककथ°	कथङ्कथ°
२४	२२१	एब	एव
२६	२६४	°शार्क्ति	°शक्ति
२६	२८९	°पराङ्गमुखः	°पराङ्मुखः
२७	२९२	किं	किं
२८	३४०	वात्या वि°	वात्यावि°
२८	३४२	पराङ्गमुखी	पराङ्मुखी
२९	३५२	°भीड्यते	°मीड्यते
३०	४०६	°शय्यासं°	°शय्या सं°
३१-३२	४१९-४५८	किं	किं
३३	४८३	°नाऽचि°	°ना चि°
३३	४९०	सोदर्य°	स सोदर्य°
३५।१	फूटनोट	°भागः	°भागे
३७	५८०	°जींवै°	°जींवै°

४०	६७८	कर्त्ता (°र्त्री)	कर्त्ता
४३	७८५	भव°	भवे°
४८	९२१	°शेस्वरम्	°शेखरम्
५०	९८२	°प्राप्तौ	°प्राप्तो
५३	१०७५	हिंसया°	हिंसया°
५६	११६९	°हूरे	'हूरे
५७	११९७	°रूचै°	°रुचै°
६०	१२८०	°ण्णेपु	°ण्णेषु
६०	१२८१	सूरिं	सूरिं
६०	१२८५	किं ?	किं ?
६१	१२९४	किं	किं
६२	१३१८	हिंसा°	हिंसा°
६३	१३५३	तछुणु	तच्छृणु
६५	-२	शीताशुं	शीतांशुं

७०।१	फूटनोट	°मय	°मद्य
७१	१७९	°पूण्यो°	°पुण्यो°
७२	२०३	तच्छुणु	तच्छृणु
७२	२१६	कदलीकां	कन्दलिकां
७४	२६२	कदलिकापि	कन्दलिकापि
७९।२	फूटनोट	स्णाने	स्थाने
८८	६८०	दृष्टोऽथ	हृष्टोऽथ
८९	६९७	°र्डिं म्भ°	°र्डिम्भ°
८९	७००	°णो द्यता:	°णोद्यता:
८९	७०८	एव	एष
९५	८७१	इदृगेव	ईदृगेव
९५	८८१	भावित:	भाषित:
१०३	११२२	°क्रान्ता	°क्रान्ता:
१०५	११७६	जन°	जैन°

१०६	१२०२	°शैलश्च प्र°	°शैलश्चाप्र°
१०६	१२१७	वि वेका°	विवेका°
११०	१३३३	तात् !	तात !
१३०	४४९	तुं	तु
१३३	५५७	पुण्यैर्म	पुण्यैर्मे
१३५	६१०	°दशनो°	दर्शनो°
१४०	६	°षा त्तं°	°षात्तं°
१४१	५५	नत्वेष	न त्वेष
१४३	११७	सार्द्धं	सार्द्धं
१४४	१५०	°णी यो°	°णीयो°
१४७	२१७	°भासत	°भाषत
१४७	२२३	नरेश्वर	नरेश्वरः

१४९	२८७	तत् तनु°	तत्तनु°
१५० १५१	३३१-३६२	दुष्पुरे	दुष्पूरे
१५१	३५१	°न्तरर्द्धा°	°न्तर्द्धा°
१६२।२	फूटनोट	°खाद्यः	°खाद्यैः
१६९	३८५	ततः मां	ततः स मां
१७४	४७	°वृतान्त°	°वृत्तान्त°
१७५	५०	°र्दृगोचरे	°र्दृग्गोचरे
१७७	१४२	°मादय	°मादाय
१८०	२१३	महिपतिः	महीपतिः
१८१	२६०	पाप्तश्च	प्राप्तश्च
१८४	३३७	यदि वालं	यदिवालं
१९२	५८९	°ध्यांनां	°ध्यानां

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमो नमः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः ।

ॐ नमो विषयातीतरूपाय परमात्मने । अन्तरङ्गद्विषद्भङ्गसञ्जातानन्दसम्पदे ॥ १ ॥ अस्तोककेवलालोकलोकालोकविलोकिनः । लोकाग्रनिलयान्नौमि सर्वानपि जिनेश्वरान् ॥ २ ॥ नौमि भूतभवद्भाविभावाभावावभासिनीम् । देहिसन्देहसन्दोहभेदिनीं जिनभारतीम् ॥ ३ ॥ येषां प्रसादमासाद्य[1] भवेद् गौरवभाजनम् । जनोऽयं जडमेधोऽपि तान्नमामि गुरूनहम् ॥४॥ अद्भुतप्रतिभादर्शसङ्क्रान्ताशेषविष्टपम् । नमामि तमहं सिद्धव्याख्यातारं मुनीश्वरम् ॥५॥ चक्रे परोपकाराय परमार्थप्रकाशिनी । उपमित्यभिधा येन कथाद्भुतनिधानभूः ॥ ६ ॥ सङ्क्षेपरुचिलोकानामुपकाराय साम्प्रतम् । तस्या एव मया कोऽपि सारोद्धारः प्रतन्यते ॥ ७ ॥ प्रस्तावे प्रथमे तत्र कथानिर्माणकारणम् । संसारिजीवतिर्यक्त्ववक्तव्यं च द्वितीयके ॥ ८ ॥ तृतीये दूषणं क्रोधहिंसास्पर्शनसम्भवम् । तुर्ये मानमृषावादरसनानां च विक्रिया ॥ ९ ॥ विपाकः पञ्चमे मायास्तेयघ्राणसमुद्भवः । परिणामस्तथा षष्ठे लोभमैथुनचक्षुषाम् ॥ १० ॥ दोषो मोहपरिग्रहश्रवणानां च सप्तमे । अष्टमे योजना पूर्वोदितार्थस्य च वक्ष्यते ॥ ११ ॥

---

१ ०याभवद् ख० ।

॥ कलापकम् ॥ अन्यच्चार्थास्त एवात्र पदान्यपि च कुत्रचित्। केवलं केवलस्तोकश्लोकक्लृप्तिर्नवोच्यते ॥ १२ ॥ तथाहि–इहास्ति लोकविख्यातमनेकाश्चर्यसङ्कुलम्। अदृष्टमूलपर्यन्तमिति नाम्ना महापुरम् ॥ १३ ॥ प्राकार-परिखाकूपकासाराऽऽरामराजितम्। बालकोलाहलाकीर्णं सौधदेवकुलाकुलम् ॥ १४ ॥ अगण्यपण्यसम्पूर्णैरापणै-र्भूषितान्तरम्। केन वर्णयितुं शक्यं ? तद्विस्मयकरं पुरम् ॥ १५ ॥ युग्मम् ॥ नमन्नृपतिसङ्घातैः सेव्यमानपदा-म्बुजः। तत्रास्ति नामधेयेन सुस्थितः पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥ जगद्भ्रान्तयशोराशिर्विक्रमाक्रान्तशात्रवः। करुणा-रसपाथोधिः प्रजापालनलालसः ॥ १७ ॥ गाम्भीर्यौदार्यधैर्यादिगुणरत्नौघरोहणः। ददावमन्दमानन्दं क्षमाधीशो न कस्य सः ॥ १८ ॥ युग्मम् ॥ निर्नष्टबन्धुर्दुर्बुद्धिरर्थपौरुषवर्जितः। निलयः सर्वरोगाणां क्षुत्क्षामो नाथवर्जितः ॥ १९ ॥ सोन्मादो डिम्भसङ्घातैर्लोष्टुयष्ट्यादिभिर्दृढम्[1]। ताड्यमानो गतघृणैर्नारकोपमवेदनः ॥ २० ॥ सतां कृपास्पदं दीनो दृष्टान्तः पापकर्म्मणाम्। तत्रैवास्ति पुरे रङ्कः कश्चिन् निष्पुण्यकाह्वयः ॥ २१ ॥ विशेषकम् ॥ घटकर्प्परमादाय स भ्राम्यत्यखिले पुरे। परं वराको नाप्नोति भिक्षामात्रमपि क्वचित् ॥ २२ ॥ कदन्नमपि स प्राप्य कदाचिद्दैवयोगतः। लब्धराज्य इवात्यन्तं जायते मोदमेदुरः ॥ २३ ॥ तस्याघ्रूनस्य[2] रोरस्य तृप्ति-र्नैवोपजायते। बहुनापि कदन्नेन वाडवस्येव वारिणा ॥ २४ ॥ यथा यथा तदश्नाति केवलं ते तथा तथा। वर्द्धन्तेऽस्य गदाः पूर्णदोहदा इव पादपाः ॥ २५ ॥ तथाप्यस्य कदशने तत्राशा न निवर्त्तते। सुस्वादु-[3]

१ ०लोंष्टय० क० ख० घ०। २ कुक्षिम्भरेः। ३ ०दभो० ता० क० ख० घ०।

भोजनास्वादो न स्वप्नेऽपि हि जायते ॥ २६ ॥ एवं पर्यटतस्तत्र दुःखाघ्रातस्य सर्वतः । निर्भाग्य-शेखरस्यास्य भूयान्कालोऽतिलङ्घितः ॥ २७ ॥ अन्यदा च परिभ्राम्यन् भिक्षार्थी स गृहे गृहे । तद्राजमन्दिरद्वारं जगामाऽऽगामिमङ्गलः ॥ २८ ॥ मोहाज्ञानादिभिर्द्वास्थैरपरैर्वारितोऽपि तम् । स्वकर्म्म-विवरद्वास्थो मुमोचान्तः कृपापरः ॥ २९ ॥ राजामात्यमहायोधनियोगितलवर्गिकैः । महाभटसमूहैश्च परितः परिपूरितम् ॥ ३० ॥ स्थविरालोकसङ्कीर्णं युवतीजनसङ्कुलम् । अशेषविषयोपेतममन्दानन्ददायकम् ॥ ३१ ॥ अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वाथ राजवेश्म सविस्मयः । स तदन्तर्गतो रङ्कश्चेतस्येवमचिन्तयत्[1] ॥ ३२ ॥ विशेषकम् ॥ निष्पुण्यकोऽस्म्यहं सत्यं मनोनिर्वृतिकारणम् । नेयन्तं कालमालोकि येनेदं नृपमन्दिरम् ॥ ३३ ॥ अस्य द्वारि परिभ्राम्यन्नहं हि बहुशः पुरा । समायातः परं पापैर्द्वारपालैर्निराकृतः ॥३४॥ स्वकर्म्मविवरस्त्वेष परमो मम बान्धवः । येनाद्य नृपधामेदं दर्शितं विश्वसुन्दरम् ॥ ३५ ॥ मन्ये धन्यतमा एते लोकाः क्लेशविवर्जिताः । सदा विलसदानन्दा [2]ये वसन्त्यत्र मन्दिरे ॥ ३६ ॥ अथ प्रासादशिखरे सप्तमे भूमिकातले । आसीनो लीलया प्रोद्य-दमन्दानन्दपूरितः ॥ ३७ ॥ अधस्तात्तत्पुरं पश्यन् स बाह्याभ्यन्तरं नृपः । चिन्तयन्तं तथा रोरमद्राक्षीदार्द्रया दृशा ॥ ३८ ॥ युग्मम् ॥ इतो महानसाध्यक्षो धर्म्मबोधकराभिधः । तत्र तां भूपतेर्दृष्टिं पतन्तीं निरवर्णयत्[3] ॥ ३९ ॥ ततः स चिन्तयामास मनस्येवमनाकुलः । अहो ! किमिदमाश्चर्यमधुना वीक्ष्यते मया ॥ ४० ॥ राज-

---

१ ०तदचि० ता० । २ मोदन्ते यत्र क० ख० ग० घ० । ३ अज्ञासीदित्यर्थः ।

राजेन यस्तावद् दृश्यते सार्द्रया दृशा। अचिरादेव स स्वामी जायते जगतोऽपि हि ॥ ४१ ॥ अलक्ष्मीभाजनं मूढो गाढबीभत्सदर्शनः। रोगग्रस्तसमस्ताङ्गो जगदुद्वेगकारणम् ॥ ४२ ॥ अयं निष्पुण्यको रङ्कः कल्मषैक-निकेतनम्। कथं तदद्य देवेन सप्रसादमुदीक्ष्यते ॥ ४३ ॥ युग्मम् ॥ हुं ज्ञातमथवा सम्यगवलोकनकारणम्। स्वकर्म्मविवरेणैष यस्मादत्र प्रवेशितः ॥ ४४ ॥ स्वकर्म्मविवरश्चैष सुपरीक्षितकारकः। राजप्रसादायोग्यानां प्रवेशं न प्रयच्छति ॥ ४५ ॥ अन्यच्च राजराजस्य स प्रियत्वं प्रपद्यते। दृष्टेदं भवनं यस्य प्रीतिरुत्पद्यते परा ॥ ४६ ॥ किञ्चिन्मुखदृगुन्मेषरोमाञ्चादिभिरिङ्गितैः। लक्ष्यतेऽयमपि प्रीतः प्रासादस्यास्य दर्शनात् ॥ ४७ ॥ नृपावलोकितो नूनं तदयं द्रमकोऽधुना। अत्यन्तावस्तुरूपोऽपि वस्तुत्वं प्रतिपत्स्यते ॥ ४८ ॥ इति चेतसि सञ्चिन्त्य कृपावासित-मानसः। तमाजुहाव भिक्षार्थं स पौरोगवपुङ्गवः ॥ ४९ ॥ कुट्टाक-डिम्भनिर्मुक्ते देशं भिक्षाचरोचितम्। आयाते तत्र रङ्केऽथ स दानायादिशज्जनम् ॥ ५० ॥ महाकल्याणकं नाम परमान्नं मनोहरम्। समादायाथ तत्पुत्री तद्दया द्रागुपाययौ ॥ ५१ ॥ इतश्च सूदाध्यक्षेण तेनाहूतः ससम्भ्रमः। द्रमकोऽचिन्तयदिति स्वबुद्धि-सदृशं तदा ॥ ५२ ॥ स्वयमाहूय भिक्षार्थं समानीतोऽहमादरात्। यदनेनात्र नैवेदं सुन्दरं मम भासते ॥ ५३ ॥ नूनं मां विजने नीत्वा विश्वास्य छलवानसौ। ममेदं कर्प्परं भिक्षापूर्णमुद्दालयिष्यति ॥ ५४ ॥ तत् किं नश्यामि सहसा भक्षयाम्युपविश्य वा। न कार्यं भिक्षयेत्युक्त्वा यद्वा गच्छामि सत्वरम् ॥ ५५ ॥ चिन्तावेशवशादित्थं तेन निर्नष्टचेतसा। तद्दयादीयमानं तदन्नं नैवावलोकितम् ॥ ५६ ॥ सर्वरोगापहा भद्र ! भिक्षेयं गृह्यतामिति। भूयो

भूयो ब्रुवाणापि वीक्षिता न च तद्दया ॥ ५७ ॥ द्रमकं तं तथा दृष्ट्वा काष्ठवन्नष्टचेतनम् । विस्मितः स ततो दध्यौ महानसनियुक्तकः ॥५८॥ अहो ! किमेष मूढात्मा दीयमानमपि स्फुटम् । परमान्नं न गृह्णाति नोत्तरं च प्रयच्छति ॥ ५९ ॥ तदयं नोचितो मन्ये परमान्नस्य पापभाक् । पापिनां हि कुतः प्राप्तिर्भवेदीदृशवस्तुनः ॥ ६० ॥ अथवास्य वराकस्य दोषो नैव मनागपि । दोषः किन्त्वेष रोगाणां चैतन्योच्छेदकारिणाम् ॥६१॥ तत् करिष्याम्यमुं हन्त ! केनोपायेन निर्गदम् । परोपकारः पुण्याय महद्भिर्महते मतः ॥ ६२ ॥ यद्वास्त्यत्र मदभ्यर्णे भेषजत्रयमुत्तमम् । उच्छिनत्ति क्षणाद् रोगान् प्रयुक्तं विधिना हि यत् ॥ ६३ ॥ तत्राद्यं विमलालोकमञ्जनं जनदुर्लभम् । तत्त्वप्रीतिकरं नाम तीर्थतोयं परं पुनः ॥ ६४ ॥ तथेदं परमान्नं च महाकल्याणकाभिधम् । तदनेन त्रयेणापि करिष्येऽमुं निरामयम् ॥ ६५ ॥ ध्यात्वेति सूदाध्यक्षोऽयं चक्षुर्नैर्मल्यकारिणा । तेनाञ्जनेन प्रसभं तस्याऽऽनञ्ज विलोचने ॥ ६६ ॥ तेनाचिन्त्यगुणेनास्य चेतना पुनरागता । सहसोन्मीलितं चक्षुश्चित्ताह्लादो मनागभूत् ॥ ६७ ॥ तथापि हि तदाऽऽकूतं भिक्षारक्षणलक्षणम् । पूर्वावेशवशादस्य सम्यग्नैव निवर्त्तते ॥ ६८ ॥ सचेतनं च तं वीक्ष्य धर्म्मबोधकरोऽब्रवीत् । पिबेदमुदकं भद्र ! रोगतानवकारणम् ॥ ६९ ॥ न जानामि निपीतेन किमनेन भविष्यति । इति शङ्काकुलस्तन्न स पुनः पातुमीहते ॥ ७० ॥ तमनिच्छन्तमप्येष धर्म्मबोधकरस्ततः । बलाद् विवृत्य वदनं सलिलं तदपाययत् ॥ ७१ ॥ सोऽप्येतदमृतास्वादं प्रमोदैकनिबन्धनम् । नीरमीरितसन्तापं पीत्वा सुस्थोऽभवत् क्षणात् ॥ ७२ ॥ अथेति द्रमको दध्यौ प्रसन्नीभूतमानसः । अहो ! महोपकारित्वं पुंसोऽस्यानन्यसन्निभम् ॥ ७३ ॥ तथा—

ह्यञ्जनयोगेन विहिता पटुदृष्टिता । जलपानेन चानेन जनिता सुस्थता मम ॥ ७४ ॥ तदयं पुरुषश्रेष्ठः स्वभावाद-तिवत्सलः मुधा मया विमूढेन वञ्चकत्वेन कल्पितः ॥ ७५ ॥ एवं चिन्तयतोऽप्यस्य मूर्च्छा तत्र कदन्नके । गाढं भावितचित्तत्वान्न कथञ्चिन्निवर्त्तते ॥ ७६ ॥ तत्रान्नभाजने दृष्टिं पातयन्तं मुहुर्मुहुः । तमभाषत भावज्ञस्ततो रसवतीपतिः ॥ ७७ ॥ अरे ! द्रमक ! दुर्बुद्धे ! मयैतत्परिनिश्चितम् । त्वत्समः कोऽपि नास्त्यन्यो निर्भाग्यो यद् जगत्त्रये ॥ ७८ ॥ यस्त्वं कदन्नलाम्पट्याद‌मृतास्वादसोदरम् । अनया कन्यया दीयमानं नेच्छसि पायसम् ॥ ७९ ॥ भूयांसोऽस्माद् गृहाद्बाह्या दुःखिताः सन्ति जन्तवः । नादरस्तेषु नः किन्तु यत्ते राज्ञा न वीक्षिताः ॥ ८० ॥ त्वं तु भूमीभुजानेन सानुकम्पं निरीक्षितः । अतो निकामं सञ्जाता वयं त्वयि दयालवः ॥ ८१ ॥ अतस्त्यजेदं दुर्बुद्धे ! गृहाणैतत्तु सादरः । यत्प्रभावादमी पश्य मोदन्ते सद्मजन्तवः ॥ ८२ ॥ कदन्नत्यागवचसा-मुना दीनमनास्ततः । मन्दमन्दमिदं सूदाधिपतिं द्रमकोऽवदत् ॥८३॥ यदेतद्भदितं नाथैस्तत्सत्यं खलु नान्यथा । प्राणप्रियमिदं किन्तु त्यक्तुमन्नं न हि क्षमः ॥ ८४ ॥ यतोऽर्जितमिदं क्लेशात् काले निर्वाहकं तथा । एतत्तु तावकं भोज्यं न जाने मम कीदृशम् ॥ ८५ ॥ अवश्यदेयं यद्येतत्त्वया नाथ ! स्वभोजनम् । तदनेन मदीयेन भोज्येन सह दीयताम् ॥ ८६ ॥ दध्याविति तदाकर्ण्य ततः पौरोगवाग्रणीः । पश्यतानन्यसामान्यमहो ! मोहविजृम्भि-तम् ॥ ८७ ॥ सर्वव्याधिकरे रक्तो यदेतस्मिन्कदन्नके । रोरोऽसौ परमान्नं मे न तृणायापि मन्यते ॥ ८८ ॥ शिक्षयामि तथाप्येनं किञ्चिद्भूयस्तपस्विनम् । यदि मोहो विलीयेत स्यादस्मै हितमुच्चकैः ॥ ८९ ॥ इति सञ्चि-

न्त्य तेनोक्तं सौम्य ! किं नावबुद्ध्यसे । कदन्नहेतुकाः सर्वे रोगास्तव शरीरके ॥ ९० ॥ कदन्नं भासते भद्र ! मोहादेव तवापि हि । मदीयान्नस्य तु स्वादं यदा ज्ञास्यसि तत्त्वतः ॥ ९१ ॥ तदा त्वं वार्यमाणोऽपि हास्यसि स्वयमप्यदः । को नामामृतमासाद्य विषमापातुमिच्छति ॥ ९२ ॥ येन चोपार्जितं क्लेशात् क्लेशरूपं च वर्त्तते । क्लेशस्य च पुनर्हेतुस्तेनैवेदं विमुच्यते ॥ ९३ ॥ व्याधिव्यूहसमुद्भूतदुःखसन्तानहेतुना । क्रियतेऽनेन किं भद्र ! काले निर्वाहिणापि हि ॥ ९४ ॥ क्लेशं विनापि ते नित्यं मया दत्तमिदं पुनः । हनिष्यति गदानेतान् पायसं परमौषधम् ॥ ९५ ॥ किञ्चानेनाक्षयो भूत्वा सततानन्दपूरितः । भविष्यस्यचिराद्राजराजवत् त्वमपि ध्रुवम् ॥ ९६ ॥ किञ्चाञ्जनस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं सलिलस्य च । किं न दृष्टं त्वया येन कुरुषे नात्र मद्वचः ? ॥ ९७ ॥ ततो मुञ्चाग्रहं सौम्य ! त्यजेदं रोगकारणम् । महौषधं गृहाणैतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ९८ ॥ स प्राह त्यक्तमात्रेऽस्मिन् म्रियेऽहं स्नेहविभ्रमात् । ततो विश्राणय स्वामिन् ! सत्यस्मिन्मे स्वभेषजम् ॥ ९९ ॥ तन्निर्बन्धं ततो ज्ञात्वा सूदाध्यक्षो व्यचिन्तयत् । नैवास्य शिक्षणोपायो विद्यतेऽन्योऽधुना स्फुटम् ॥ १०० ॥ ततोऽत्र विद्यमानेऽपि दीयतामिदमौषधम् । पश्चात्कदन्नं तत्त्वज्ञः स्वयमेवैष हास्यति ॥ १०१ ॥ ध्यात्वेति तद्दयाहस्तात् कदन्ने तत्र सत्यपि । तत्तस्मै दापयामास पायसं द्रमकाय सः ॥ १०२ ॥ किं भुक्तेनामुना भावीत्याशङ्काकुलमानसः । रोरोऽपि परमान्नं तत्तत्रैव बुभुजे शनैः ॥ १०३ ॥ ततस्तदुपभोगेन या जलाञ्जनसम्भवा । सुखासिका

१ सर्वरो° क० ख० ।

क्षणात्तस्य सानन्तगुणतां गता ॥ १०४ ॥ नष्टकल्पाश्च जातास्ते व्याधयः क्लेशहेतवः। बुभुक्षा च क्षयं प्राप प्रमोदश्च महानभूत् ॥ १०५ ॥ अथ नष्टभयो हृष्टः सूदाध्यक्षं जगाद सः। इतः प्रभृति मे नाथो नान्योऽस्ति भवतो विना ॥ १०६ ॥ यतोऽनुपकृतैरेव भवद्भिः करुणापरैः। अहं सर्वाधमोऽप्येवमेतावदनुकम्पितः ॥ १०७ ॥ सूदस्तं प्राह यद्येवमुपविश्य क्षणं त्वया। श्रूयतां मद्वचः सम्यक् श्रुत्वा तच्च विधीयताम् ॥ १०८ ॥ आसीने द्रमके तस्मिन्धर्म्मबोधकरस्ततः। चन्दनद्रवसध्रीच्या वाचावोचदिति स्फुटम् ॥ १०९ ॥ यदुक्तं भवता भद्र ! नाथोऽन्योऽस्ति न मेऽधुना। तन्न वाच्यं यतो नाथस्तवायं वसुधाधवः ॥ ११० ॥ अयं हि भूपतिर्नाथः कृत्स्नस्य जगतोऽपि हि। विशेषतः पुनर्येऽत्र जन्तवः सन्ति सद्मनि ॥ १११ ॥ कल्याणभागिनः सेवां भजन्ते भूभुजोऽस्य च। पापिनस्तु नरा नैवं नामाप्यस्य विजानते ॥ ११२ ॥ तदेष सौम्य ! नाथस्ते जात एव तदा नृपः। मन्दिरेऽस्य यदामुष्मिन् प्रविष्टस्त्वं स्वपुण्यतः ॥ ११३ ॥ साम्प्रतं तु प्रपद्यस्व विशेषेण गिरा मम। यावज्जीवममुं नाथमिहामुत्र च शर्म्मदम् ॥ ११४ ॥ विशेषतः पुनर्येऽस्य गुणास्तानवभोत्स्यसे। यथा यथा गदा देहे यास्यन्ति तव तानवम् ॥ ११५ ॥ भेषजत्रितयस्यास्य परिभोगो दिवानिशम्। एषां च तानवोपायः क्रमान्नाशे च कारणम् ॥ ११६ ॥ स्थीयतामत्र तद्भद्र ! भवने भवता सदा। भुञ्जानेन त्रयमिदं प्रदत्तं कन्ययानया ॥ ११७ ॥ ततः प्रह्लादितस्वान्तः कोमलैस्तस्य जल्पितैः। गाढमुत्पन्नविश्रम्भः स एवं द्रमकोऽवदत् ॥ ११८ ॥ इदं नाद्याप्यल-

१ सूदेशः प्राह ता० क० ख० घ०। २ सदा ग०।

ष्भूष्णुः पापस्त्यक्तुं कदन्नकम् । अन्यत्तु यन्मया नाथ ! कर्त्तव्यं तत्समादिश ॥११९॥ तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास धर्म्मबोधकरस्ततः । भुङ्क्ष्वेदं त्रयमित्युक्तः [1]किमेवं प्रवदत्यसौ ॥ १२० ॥ आ ! ज्ञातमेष तुच्छत्वादित्थं चिन्तयति ध्रुवम् । भोजनत्याजनार्थो मे सर्वोऽयं विस्तरो गिराम् ॥ १२१ ॥ यद्वा दुष्टं जगत्सर्वं मन्यन्ते तुच्छबुद्धयः । प्रतिभाति यदन्धानां सवितापि तमोमयः ॥ १२२ ॥ ध्यात्वेत्यूचे स मा भैषीर्नाधुना त्याजयाम्यदः । पूर्वमत्याजयं भद्र ! तवैव हितकाम्यया ॥ १२३ ॥ अन्यच्च यन्मयाख्यातमिदानीं पुरतस्तव । तच्चित्ते भवता भद्र ! किं किञ्चिदवधारितम् ? ॥ १२४ ॥ अथ निष्पुण्यकोऽवोचन्नैव तन्नाथ ! किञ्चन । गाढमातङ्क-वैधुर्यान्मया हृदि विभावितम् ॥ १२५ ॥ केवलं युष्मदालापैः पेशलैर्मोदितो हृदि । अज्ञातपरमार्थापि प्रीणयत्येव वाक् सताम् ॥ १२६ ॥ यच्चात्र कारणं नाथ ! वैधुर्ये मनसो मम । तदिदानीं गतातङ्कः कथयामि निशम्यताम् ॥ १२७ ॥ ततः प्रवेशादारभ्य यदासीच्चिन्तितं हृदि । तद्गीतभीतिना सर्वं तेन तस्मै निवेदितम् ॥ १२८ ॥ उक्तं चाकुलचित्तस्य तदेवं नाथ ! मे पुरः पूज्यपादैर्यदाख्यातं तत्किञ्चिन्नैव लक्षितम् ॥ १२९ ॥ नाधुना त्याजयामिति नाथैरुक्तेऽधुना पुनः । स्वस्थचेता मनाग् जातो ब्रूत तत् किं करोम्यहम् ॥ १३० ॥ सूदाधीशस्तदाकर्ण्य वर्णयामास तत्पुरः । विशेषेणेति माहात्म्यं भूपान्नाञ्जनपाथसाम् ॥ १३१ ॥ अहं भद्र ! नरेन्द्रेण प्रागादिष्टो यथा त्वया । योग्येभ्य एव दातव्यं वत्स ! मद्भेषजत्रयम् ॥ १३२ ॥ अयोग्यदत्तं नैवैतदुपकारं करोति यत् । प्रत्युतानर्थ-

---

१ किमिदं ग० ।

सन्तानं वितनोति विशेषतः ॥ १३३ ॥ मया पृष्टं तदा स्वामिन् ! कथं ज्ञास्यामि तानहम् । ततो राजा ब्रवीत्तेषां समाकर्ण्य लक्षणम् ॥ १३४ ॥ स्वकर्म्मविवरद्वाःस्थो[1] येषामत्र प्रवेशकः । इदं च मन्दिरं दृष्ट्वा हृष्टचित्ता भवन्ति ये ॥ १३५ ॥ येषां च मामिका दृष्टिर्विशेषेण निरीक्षिका । ते त्रयस्यास्य विज्ञेया योग्या नैवेतरे पुनः ॥ १३६ ॥ युग्मम् ॥ किञ्चैतत् त्रितयं येषामक्लेशेनापि भासते । गुणकृच्च प्रदत्तं ते सुसाध्या रोगिणो मताः ॥ १३७ ॥ प्रथमं ये न गृह्णन्ति बलाद्येषां तु दीयते । गुणकारि च कालेन कृच्छ्रसाध्यास्तु ते स्मृताः ॥ १३८ ॥ येभ्यस्तु रोचते नैतद्दत्तं च न गुणावहम् । द्वेष्टारो दायकेऽप्यस्य ते त्वसाध्या नराधमाः ॥ १३९ ॥ तदित्थं राजराजेन मम यत्सम्प्रदायितम्[2] । तेन ते कृच्छ्रसाध्यत्वं लक्षणैः परिलक्ष्यते ॥ १४० ॥ उल्लाघतां ततः स्वस्य यदि वत्स ! त्वमिच्छसि । तदमुं त्वं प्रपद्यस्व स्वामित्वेन नरेश्वरम् ॥ १४१ ॥ अनया कन्यया दत्तं भेषजत्रितयं तथा । भुञ्जानो भवनेऽत्रैव तिष्ठ त्वं स्वस्थमानसः ॥ १४२ ॥ एवं ते कुर्वतो भावि निर्गदत्वं शनैः शनैः । यत एवं प्रकुर्वाणा नीरुजो बहवोऽभवन् ॥ १४३ ॥ द्रमकोऽप्यथ तच्छिक्षां तथेति प्रतिपद्यत । सूदेशोऽपि चकारास्य तद्दयां परिचारिकाम् ॥ १४४ ॥ ततश्चैकप्रदेशस्थो भिक्षापात्रमनारतम् । तदेव पालयन् कालं कियन्तमपि स स्थितः ॥ १४५ ॥ प्रायेण बहु भुङ्क्तेऽसौ तन्मोहेन कुभोजनम् । यत्पुनस्तद्दयादत्ते(त्तं) । तन्नयत्युपदंशताम्[3] ॥१४६ ॥ तावतापि हि तेनास्य भुक्तेनाभूद्गुणो महान् । चातकं प्रीणयत्येव वारिदाम्बुकणोऽपि हि ॥ १४७ ॥

१ ०द्वास्थो क० ख० घ० । २ सम्प्रदायतयोक्तम् । ३ व्यञ्जनताम् ।

तै रोगैर्विक्रियापन्नैरपथ्याधिक्यतोऽन्यदा । बाध्यमानं तमालोक्य तद्येत्थमभाषत ॥ १४८ ॥ कथितं भद्र ! तातेन कदन्नं तव वल्लभम् । परमस्वास्थ्यहेतौ तु शैथिल्यं भेषजत्रये ॥ १४९ ॥ अपथ्ये लोलुभानां च लगत्ये- तन्न भेषजम् । ततोऽधुना क्रन्दतस्ते कोऽपि स्वास्थ्यकरोऽस्ति न ॥ १५० ॥ माभूदाकुलता चित्ते तवेत्यहमपि स्फुटम् । अपथ्यं सेवमानं त्वां दृष्ट्वापि न निवारये ॥ १५१ ॥ रङ्कोऽवोचदहं तर्हि वार्योवश्यं त्वयानघे ! । महामोहवशादेतत्स्वयं त्यक्तुमलं न तु ॥ १५२ ॥ कदाचित् त्वत्प्रभावेण स्तोकस्तोकं विमुञ्चतः । सर्वत्यागेऽपि शक्तिर्मे कदन्नस्य भविष्यति ॥ १५३ ॥ चारु चारूदितं भद्र ! युक्तमेतद्भवादृशाम् । इत्युक्त्वाधिकमश्नन्तं सा कदन्नं न्यवारयत् ॥ १५४ ॥ यान्त्यस्य तानवं रोगास्ततस्तत्परिहारतः । न जायतेऽधिका पीडा लगत्यङ्गे च भेषजम् ॥ १५५ ॥ पित्रादेशादनेकाङ्गिव्यापारकरणोद्यता । तद्यापि हि तत्पार्श्वे सर्वदा नावतिष्ठते ॥ १५६ ॥ ततो निवारकाभावादपथ्यासेवनोद्यतम् । आमयैः पीडितं भूयः सूदाध्यक्षो ददर्श तम् ॥ १५७ ॥ पप्रच्छ चाद्य किं सौम्य ! साबाध इव लक्ष्यसे । तद्यायाः स्वरूपं च सोऽप्यशेषं न्यवेदयत् ॥ १५८ ॥ जगाद च ततो नाथाः ! प्रयतध्वं तथान्वहम् । यथा पीडा न मे देहे कदापि ह्युपजायते ॥ १५९ ॥ सूदोऽप्युवाच न व्यग्रा तद्या त्वां निषेधति । अपथ्यभक्षणोद्युक्तस्त्वं तु जानासि न स्वयम् ॥ १६० ॥ अपराप्यथ ते कापि क्रियते परिचारिका । साप्यकिञ्चित्करी नूनं तव स्वच्छन्दचारिणः ॥ १६१ ॥ द्रमकः प्राह मा मैवं नाथा ! वदत

१ लोलुपानाम् ख० । २ गुणं विदधाति ।

साम्प्रतम् । नैवाहं युष्मदादेशं लङ्घयामि कथञ्चन ॥ १६२ ॥ धर्म्मबोधकरोऽवादीद् यद्येवं वत्स ! तच्छृणु । अन्य-ग्रास्ति वचोधीना सद्बुद्धिर्नाम मे सुता ॥ १६३ ॥ करोमि तव तां वत्स ! विशेषपरिचारिकाम् । किन्तु वक्ति यदेवासौ त्वया कार्यं तदेव हि ॥ १६४ ॥ ततः सन्निहिता नित्यं प्रतिजागरणं तव । विधास्यतीयं सद्बुद्धिस्तद्याप्यन्तरान्तरा ॥ १६५ ॥ किञ्च यस्य प्रसन्नैषा सद्बुद्धिर्विश्ववत्सला । अहं च भूपतिश्चैव प्रसन्न-स्तस्य निश्चितम् ॥ १६६ ॥ ततोऽस्ति ते सुखाकाङ्क्षा दुःखेभ्यश्च भयं यदि । भवानेतां ततो वत्स ! सम्यगाराद्धु-मर्हति ॥ १६७ ॥ तथेत्यङ्गीकृतवतस्तस्याथ परिचारिकाम् । तां विधाय स निश्चिन्तो धर्म्मबोधकरोऽभवत् ॥ १६८ ॥ द्रमकोऽपि हि सद्बुद्धिसान्निध्याल्लज्जया स्वयम् । कदन्नं तत्परित्यज्य सेवते भेषजत्रयम् ॥ १६९ ॥ पूर्वाभ्यासात्कदन्नं तद्भुङ्क्ते यदि कदाप्यसौ । तथापि तद्व्यथां नैव विधत्ते गृद्ध्यभावतः ॥ १७० ॥ ततस्तं नैव बाधन्ते गदास्ते जाततानवाः । यापि पीडा भवेत्काचित्सापि शीघ्रं निवर्त्तते ॥ १७१ ॥ रहस्युक्तान्यदा तेन सद्बुद्धिस्तुष्टचेतसा । भद्रे ! किमिदमाश्चर्यं यज्जातं मे महत्सुखम् ॥ १७२ ॥ साप्यब्रवीन्महाभाग ! प्रभावः सुमहानयम् । कदन्नपरिहारस्य भेषजास्वादनस्य च ॥ १७३ ॥ द्रमकः प्राह यद्येवं सर्वथापि त्यजाम्यहम् । इदं कदन्नं मे येन जायते सुखमक्षयम् ॥ १७४ ॥ सा प्राह युज्यते किन्तु सम्यगालोच्य सन्त्यज । अनालोचित-कार्याणामायतिर्न शुभा यतः ॥ १७५ ॥ सर्वत्यागं हि कृत्वा त्वं पुनरेतद् यदीच्छसि । तन्नाधुनातनी चापि

१ निर्व्यग्रा० क. ख. घ. । २ ०तीह स० ग. । ३ तदा व० क. ख. ग. घ.

याप्यता लप्स्यते त्वया ॥ १७६ ॥ श्रुत्वाथ तद्वचस्तस्य मनाग् दोलायितं मनः । महामोहमहीभर्त्तुराज्ञा हि दुरतिक्रमा ॥ १७७ ॥ महाकल्याणकं भूरि परिभुज्यान्यदाथ सः । कदन्नं बुभुजे तस्यां पार्श्वस्थायामवज्ञया ॥ १७८ ॥ तस्य पायसतृप्तत्वात् सद्बुद्ध्यभ्यासतोऽपि च । कुथितं विरसं निन्द्यं तदथ प्रत्यभासत ॥ १७९ ॥ ततः स चिन्तयामास भोज्यं मे तावदीदृशम् । तथाप्यत्र ममाकाङ्क्षा दुर्लङ्घ्या काप्यसावहो ! ॥ १८० ॥ एतत्त्या-गादृते मन्ये निर्विघ्नं नास्ति मे सुखम् । तदेतद् युज्यते हातुं सत्त्वमालम्ब्य सर्वथा ॥ १८१ ॥ एवं निश्चित्य सद्बुद्धिं स प्रोचे शोधयस्व मे । भद्रे ! भाजनमेतत्त्वं त्यक्त्वा सर्व्वं कदन्नकम् ॥ १८२ ॥ नैतेनातः परं कार्यं सम्प्राप्ते पायसेऽधुना । को नाम राज्यमासाद्य रङ्कत्वाय समीहते ॥१८३॥ सद्बुद्धिः प्राह यद्येवं जातस्ते निश्चयो हृदि । धर्म्मबोधकरस्याग्रे तत्तूर्णं कथ्यतामिदम् ॥ १८४ ॥ ततः सहैव सद्बुद्ध्या समेत्य समचीकथत् । [1]ऽरस्तं स्वमभिप्रायं धर्म्मबोधकराय सः ॥१८५॥ अथ साधूदितं वत्स ! कर्त्तव्यः किन्तु निश्चयः । हास्यतां येन नो यासीत्युक्ते सूदेन सोऽवदत् ॥ १८६ ॥ पूज्यपादैः कथमिदं भूयो भूयोऽपि कथ्यते । अयं मे निश्चयश्चित्ते कदन्ने जातु याति न ॥ १८७ ॥ तस्यादेशाज्जनं सर्वमापृच्छ्य स सुधीस्ततः । सद्बुद्ध्या त्याजयामास कदन्नं सर्वथापि तत् ॥ १८८ ॥ संशोध्य स जलेनाथ तत्पात्रं पायसेन च । पूरयित्वा दिने तस्मिन्महोत्सवमकारयत् ॥ १८९ ॥ सूदाधीशादयो हृष्टा मुदितं राजमन्दिरम् । सपुण्यक इति ख्यातिं लेभेऽथ द्रमकोऽपि सः ॥ १९० ॥

---

१ तु क० ख० घ० ।

अथास्य तिष्ठतस्तत्र जायते न गदव्यथा । सद्बुद्धितद्दयायोगादपथ्याभावतोऽपि च ॥ १९१ ॥ क्वचित् सूक्ष्मा-ल्पकाला च यदि स्यात्पूर्वदोषजा । विधत्ते स्वयमेवैष तत्तदा भेषजत्रयम् ॥१९२ ॥ ततश्च स्वस्थता वीर्य-मौदार्यं दर्शनीयता । अन्येऽपि च गुणास्तस्य प्रवर्द्धन्ते प्रतिक्षणम् ॥ १९३ ॥ नाद्यापि सम्यगारोग्यं बहुत्वाद्रोग-सन्ततेः । जायते किन्तु तद्देहे विशेषोऽभून्महानिति ॥ १९४ ॥ सद्बुद्धिरन्यदा तेन पृष्टा हृष्टान्तरात्मना । भद्रे ! त्रयमिदं लब्धं मयैतत्केन कर्म्मणा ॥ १९५ ॥ साप्यवादीत् पुरा भद्र ! दत्तमेतत् त्वया क्वचित् । ततः सम्प्रत्यदः प्राप्तं नानुप्तं क्वापि लूयते ॥ १९६ ॥ ततः सपुण्यकोऽवोचद् दत्तं हि यदि लभ्यते । पात्रेभ्यस्तदहं दास्याम्येतत्सम्प्रत्यपि त्रयम् ॥ १९७ ॥ इत्युक्त्वा दातुमारेभे सद्बुद्धिप्रेरितः स तत् । परं न कोऽपि गृह्णाति तत्रेदं किल कारणम् ॥ १९८ ॥ ये तत्र मन्दिरे तावत्तेऽग्रेऽपि त्रयभाजिनः । अन्येभ्यस्तत् त्रयं भूरि लभन्तेऽन्ये च देहिनः ॥ १९९ ॥ ततो न कश्चित्तन्मूले तदर्थमुपतिष्ठते । सद्बुद्धिं ग्राहणोपायं भूयोऽप्यथ स पृष्टवान् ॥ २०० ॥ सर्वतः क्रियतां भद्र ! घोषणेत्युदितस्तया । सोऽथ निर्गत्य सर्वत्र तां चकार मुहुर्मुहुः ॥ २०१ ॥ गृह्णन्ति तुच्छकाः केचित्तस्मात्तत् त्रितयं ततः । केचिद्धसन्ति केचिच्च शृण्वन्त्यपि न घोषणाम् ॥ २०२ ॥ सोऽथ खिन्नमना वीक्ष्य तादृशं जनचेष्टितम् । समागत्यैवमन्येद्युः सद्बुद्ध्यै समचीकथत् ॥ २०३ ॥ गृह्णन्ति द्रमका भद्रे ! महान्तो न पुनर्जनाः । ममेच्छा सर्वसामान्यग्रहणे पूर्यते पुनः ॥ २०४ ॥ तदुपायं तदाचक्ष्वेत्युक्त्वा ध्यात्वाथ सावदत् ।

१ त्रयं क० घ० ।

सर्वेषां ग्राहणोपाय एक एवात्र विद्यते ॥ २०५ ॥ काष्ठपात्र्यां विशालायां जनाकीर्णे नृपाङ्गणे । वस्तुत्रयं निधायेदं तिष्ठ त्वं स्वस्थमानसः ॥ २०६ ॥ स्वयमेव गृहीष्यन्ति शून्यं दृष्ट्वा तदर्थिनः । स्मरन्तो रोरभावं हि त्वत्करात्ते न गृह्णते ॥ २०७ ॥ आदद्यात्कश्चिदेकोऽपि यदि तत्सगुणो नरः । तेन स्यात्तारितो मन्ये सत्पात्रं तारयेद्यतः ॥ २०८ ॥ ततस्तस्या वचोभिस्तैः सम्पन्नामन्दसम्मदः । चकार तत्तथैवासौ तत्रेदमभिधीयते ॥ २०९ ॥ प्रयुक्तं तादृशेनापि ये गृहीष्यन्ति जन्तवः । नीरोगास्ते भविष्यन्ति तत्रयं तत्र कारणम् ॥ २१० ॥ एष तावद्यथादृष्टो दृष्टान्तः प्रतिपादितः । अस्य सम्प्रत्युपनयः समासेन निगद्यते ॥ २११ ॥ अदृष्टमूलपर्यन्तं यत्तावत्कथितं पुरम् । अनादिनिधनः ख्यातः स संसारः प्रतीयताम् ॥ २१२ ॥ वप्रश्चात्र महामोहस्तृष्णा च परिखा मता । इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिमुख्या भावास्तु कूपकाः ॥ २१३ ॥ सरांसि विषया जन्तुशरीराणि वनानि च । कषायाः शिशवो ज्ञेयाः सौधानि त्रिदशालयाः ॥ २१४ ॥ कुमतानि मतान्यत्र चित्रदेवकुलानि च । पण्यानि सुखदुःखान्यन्यान्यजन्मानि चापणाः ॥ २१५ ॥ भूपालस्तु जिनो देवो युक्तस्तैस्तैर्विशेषणैः । पूर्वं सर्वज्ञधर्माप्तेर्मज्जीवो द्रमकः पुनः ॥ २१६ ॥ अबन्धुरसहायत्वात् कुधीस्तत्त्वाविवेचनात् । धर्म्मस्वाऽभावतो निःस्वोऽबलः[1] कर्म्मद्विडक्षयात् ॥ २१७ ॥ कर्म्माणि रोगा विषयाकाङ्क्षा चैं[2] क्षुदनाथता । सर्वज्ञनाथाभावेनोन्मादो मिथ्यात्वमिष्यते ॥ २१८ ॥ डिम्भाः कुतीर्थिका ज्ञेया वेदना क्लिष्टचित्तता । घटकर्प्परमायुस्तु कदन्नं

१ निःस्वो वालः ख० । २ ऽथ क्षु० घ० ।

विषयाः पुनः ॥ २१९ ॥ राजगेहं जिनमतं द्वारं ग्रन्थिस्तु कर्म्मणाम् । तत्तन्नामसमा द्वाःस्थाः प्रवेशो ग्रन्थिभेदनम् ॥ २२० ॥ सूर्युपाध्यायगीतार्थगणचिन्तकभिक्षवः[1] । राजामात्यमहायोधनियोगितलवर्ग्गिकाः ॥ २२१ ॥ यथासङ्ख्यं परिज्ञेया भटौघाः श्रावकाः स्मृताः । साध्व्यश्च स्थविरा ज्ञेया युवत्यः श्राविकास्तथा ॥ २२२ ॥ युग्मम् ॥ सप्तरज्जुमितो लोकः प्रासादः सप्तभूमिकः । मुक्तिस्तच्छिखरं रम्यं ज्ञानालोकश्च दर्शनम् ॥ २२३ ॥ धर्मबोधकरो ग्राह्यः सद्गुरुर्मत्प्रबोधकः । तत्कृपा तद्दया ज्ञेया सद्बुद्धिः शोभना मतिः ॥ २२४ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तद्भेषजत्रयम् । कदन्नस्यैकदेशेन त्यागः श्रावकता मता ॥ २२५ ॥ सर्वतस्तत्परित्यागोऽनगारित्वमिहोदितम् । उद्घोषणा तु सर्वत्र विज्ञेया धर्म्मदेशना ॥ २२६ ॥ मादृशास्तुच्छका ज्ञेया महेच्छास्तु महाजनाः । काष्ठपात्री त्रयाधारा वक्ष्यमाणा कथोच्यते ॥ २२७ ॥ इत्थं समासाद् गदिता मयापि सामान्यरूपा किल योजनेयम् । विशेषतो मूलकथानुसारा ज्ञेया बुधैर्विस्तरयोजना तु ॥ २२८ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्य-श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे प्रस्तावनावर्णनो नाम प्रथमः प्रस्तावः ।

[1] ०भिक्षुकाः ख० ।

द्वितीयः प्रस्तावः ।

इहास्त्यनन्ततीर्थेशचक्रिकेशवशीरिणाम् । उत्पत्तिभूमिर्मनुजगतिर्नाम्ना महापुरी ॥ १ ॥ यत्राब्धिपरिखोपेतः प्राकारो मानुषोत्तरः । वर्षाणि पाटका वर्षधरास्तद्वृत्तयः पुनः ॥ २ ॥ हट्टमार्गौ विदेहाख्यो यस्यां सद्विजयापणः । प्रासादा मेरवो भद्रशालादीनि वनानि च ॥ ३ ॥ महारथ्या महानद्यो यस्यां जन्तुजलाकुलाः । राजमार्गौ च कालोदलवणोदौ तदाश्रयौ ॥ ४ ॥ सार्द्धद्वीपद्वयं यत्र त्रेयः पाटकसश्रयाः । कल्पवृक्षाः पुनः स्थानान्तरीयधरणीधवाः ॥ ५ ॥ तां पुरीं कोटिजिह्वोऽपि को वा वर्णयितुं क्षमः ? । पुण्यैस्तैस्तैर्गुणैः स्वर्गपुरीमपि जिगाय या ॥ ६ ॥ सुरासुरनराधीशमौलिलालितशासनः । तत्र कर्म्मपरीणामः समस्ति जगतीपतिः ॥ ७ ॥ विक्रमाक्रान्तभूचक्रः कृपानीतिपराङ्मुखः । यश्चण्डशासनो दण्डं पातयत्यनपेक्षया ॥ ८ ॥ नास्ति मल्लो जगत्यन्यो ममेत्युच्चैर्मदेन यः । तृणाय मन्यते विश्वं विश्वं विश्वैकविक्रमी ॥ ९ ॥ क्रूरः केलिप्रियो दुष्टलोभादिभटवेष्टितः । संसारनाटकं चित्रं नित्यं नाटयते स च ॥ १० ॥ रागद्वेषाभिधानौ द्वौ मुरजौ तत्र नाटके । दुष्टाभिसन्धिनामा च तयोरास्फालको मतः ॥ ११ ॥ क्रोधमानादिनामानो गायनाः कलकण्ठकाः । महामोहाभिधानस्तु सूत्रधारः प्रवर्तकः ॥ १२ ॥ भोगाभिलाषसंज्ञश्च नान्दीमङ्गलपाठकः । अनेकचिवोककरः कामनामा विदूषकः ॥ १३ ॥ भयादिसंज्ञा विज्ञेयाः कंसिकाश्च पटुस्वनाः । कृष्णादिलेश्यानामानो वर्णकाः पात्र-

१ जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्द्धरूपाः । २ ०विक्रमः क० ख० घ० ।

मण्डनाः ॥ १४ ॥ योनिः प्रविशत्पात्राणां नेपथ्यं व्यवधायकम् । लोकाकाशोदरा नाम विशाला रङ्गभूमिका ॥ १५ ॥ पुद्गलस्कन्धनामानः शेषोपस्करसंचयाः । पात्राणि च विचित्राणि ज्ञेयान्यखिलदेहिनः ॥ १६ ॥ तत्र च क्वापि दुःखौघग्रस्तनारकरूपिणम् । क्वचिन्नानाविधाकारतिर्यगाकारधारिणम् ॥ १७ ॥ क्वचिद्भूरि-चतुर्वर्णमर्त्यव्राताऽनुकारिणम् । क्वचिच्चतुर्विधामर्त्यरूपैर्जनितविस्मयम् ॥ १८ ॥ क्वचिदस्तोकशोकार्त्तं क्वचिदानन्द-पूरितम्[1] । क्वचित्सम्पत्तिसम्पन्नं क्वचिद्दारिद्र्यदूषितम् ॥ १९ ॥ क्वचिद्रोगभराक्रान्तं क्वचिन्नारीं क्वचिन्नरम् । इत्थं स स्वाज्ञया[2] लोकं नटन्तं वीक्ष्य मोदते ॥२०॥ कलापकम् ॥ नियतियदृच्छाद्यासु देवीषु प्रवरा गुणैः । महादेवी तस्य कालपरिणत्यभिधास्ति च ॥२१॥ अतिमात्रप्रेमपात्रं सा भर्तुरभवत्तथा । तां विना स यथा नैव क्षणमप्य-वतिष्ठते ॥ २२ ॥ क्षणाहोरात्रमासर्त्तुवर्षपल्योपमादिना । भूयसा परिवारेण परितः परिवेष्टिता ॥ २३ ॥ सुषमा-दुःषमाद्याभिः सखीभिः सा च संयुता । सदा वयःपरावृत्त्या[3] विडम्बयति देहिनः ॥ २४ ॥ युग्मम् ॥ दम्पत्योरनयोरेवं नाटकं वीक्ष्यमाणयोः । याति कालः सदानन्दरसपूरितचेतसोः ॥ २५ ॥ देव्या प्रोक्तोऽन्यदा राजा सर्वं मे त्वत्प्रसादतः । सम्पन्नं केवलं पुत्रो यदि स्यात्सुन्दरं ततः ॥ २६ ॥ तेनोक्तमावयोरेकचित्तत्वाद्भविता सुतः । महाप्रसाद इत्युक्त्वा ग्रन्थिबन्धं चकार सा ॥ २७ ॥ देव्या दृष्टोऽन्यदा स्वप्ने प्रविश्यास्येन कुक्षितः । निर्गतः पुरुषो नीतः स च मित्रेण केनचित् ॥ २८ ॥ देव्याख्यातमथ[4] स्वप्नं भूपतिस्तद् व्यचारयत् । पुत्रस्ते

१ ०पूरितम् ग० । २ स्वसंज्ञया ग० । ३ ०वृत्त्यै वि० ग० । ४ ०मथो ख० क० ख० ।

भविता किन्तु गेहं मोक्ता गुरोर्गिरा ॥ २९ ॥ एवमप्यस्त्विति प्रोच्य देवी गर्भं बभार सा । नृपोऽप्यभयदानाद्यं तद्दोहदमपूरयत् ॥ ३० ॥ भूभुजा भव्यपुरुष इति नाम विनिर्म्ममे । देव्या तु सुमतिरिति जातस्याथ तनूभुवः ॥ ३१ ॥ इतोऽगृहीतसङ्केता ब्राह्मण्यस्ति तया सखी । प्रोक्ता प्रज्ञाविशालाख्या पश्येदं सखि ! कौतुकम् ॥ ३२ ॥ यदेष राजा निर्बीजो देवी वन्ध्या तयोः कथम् ? । सुतः साप्यभ्यधान्मुग्धेऽन्वर्थसंज्ञासि निश्चितम् ॥ ३३ ॥ भूपतिर्बहुबीजोऽयं देवी चानन्तदारका । जगत्त्रितयजन्तूनां जनकत्वेन तत्त्वतः ॥ ३४ ॥ सचिवैरविवेकाद्यैश्चक्षुर्दोषभयात्पुनः । अन्यथा ख्यापितं लोके न जानीषे यदित्यपि ॥ ३५ ॥ युग्मम् । तत्कथं ख्यापितः सूनुरयमित्युदिता तया । भूयः प्रज्ञाविशालोचे तत्राकर्णय कारणम् ॥ ३६ ॥ पुर्य्याममुष्या-मेवास्ति चिरं परिचितो मम । पुमान् सदागमो नाम दृष्टो हृष्टः स चान्यदा ॥ ३७ ॥ पृष्टो हर्षनिमित्तं च स एवं मामभाषत । राज्ञीविज्ञापितो राजा निर्बीजत्वविगीतताम् ॥ ३८ ॥ स्वस्य देव्याश्च वन्ध्यात्वमपनेतुमिमं सुतम् । प्राकाशयत्स चात्यन्तं प्रियो मे तदहं समुत् ॥ ३९ ॥ युग्मम् ॥ कारणं तदिदं भद्रे ! पुत्रस्यास्य प्रकाशने । ब्राह्मण्यूचे कथं तर्हि तस्याभीष्टः स दारकः ॥ ४० ॥ अथ प्रज्ञाविशालाह यतोऽतिक्रान्तशैशवः । स तस्य शिष्यो भविता वल्लभोऽनेन हेतुना ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण्युवाच मे तर्हि तं दर्शय सदागमम् । तत्र प्रमुदिता प्रज्ञाविशालाथ निनाय ताम् ॥ ४२ ॥ सेव्यमानो जनैर्भव्यैस्तत्वानस्तत्त्वदेशनाम् । विदेहराजमार्गस्थो दृष्ट-

१ दुर्जनानां चक्षुर्दोषभयादित्यर्थः । २ निर्बीजवचनीयताम् क० ख० ग० घ० ।

आभ्यां सदागमः ॥ ४३ ॥ दृष्टागृहीतसङ्केता तद्दर्शनवशादथ । सेदा[1] च पर्युपासाते ते द्वे अपि सदागमम् ॥ ४४ ॥ सदागमनिदेशेनान्यदा प्रज्ञाविशालया । स भव्यपुरुषो धात्र्या भूत्वानीतस्तदन्तिके ॥ ४५ ॥ दृष्ट्वा सदागमं हृष्टः स भव्यपुरुषस्ततः । जिघृक्षुश्च कलास्तस्य पितृभ्यामर्प्पितो मुदा ॥ ४६ ॥ ततो दिने दिने याति स पार्श्वे तस्य धीमतः । सदागमस्य जिज्ञासुः सार्द्धं प्रज्ञाविशालया ॥ ४७ ॥ अन्यदा[2] यावदास्तेऽसौ सभामध्ये सदागमः । सहितस्तैस्त्रिभिस्तावत् कुतोऽपि तुमुलोऽभवत् ॥ ४८ ॥ यस्य[3] कोलाहलो लोकाः ! श्रूयते नीयतेऽधुना । संसारिजीवनामोऽयं तस्करो वध्यधामनि ॥ ४९ ॥ तदाकर्ण्योन्मुखीपर्षन्नीयमानं वधावनौ । भस्मना लिप्तसर्वाङ्गं चित्रं गैरिकहस्तकैः ॥ ५० ॥ चर्चितं च मषीपुण्ड्रैः कणवीरस्रजार्चितम् । सरावमालया गुर्व्या विडम्बितभुजान्तरम् ॥ ५१ ॥ जरत्पिटकखण्डेन[4] विभिन्नतपनातपम् । आरोपितं खरे बद्धलोष्त्रं च गलकन्दले ॥ ५२ ॥ नगरारक्षपुरुषैः परुषैः[5] परिवेष्टितम् । साधुलोकैः शोच्यमानं कम्पमानशरीरकम् ॥ ५३ ॥ दिशो दशापि पश्यन्तं भयसम्भ्रान्तया दृशा । संसारिजीवनामानमद्राक्षीदथ तस्करम् ॥ ५४ ॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ एनं विलोक्य च प्रज्ञाविशाला सदया हृदि । दध्यौ नास्य वराकस्य त्रातास्त्यन्यः सदागमात् ॥ ५५ ॥ ध्यात्वेति सन्मुखं गत्वा तमूचे सा मलिम्लुचम् । सदागममिमं भद्र ! शरण्यं शरणं श्रय ॥ ५६ ॥ तस्करोऽपि तदाकर्ण्य तमुद्दिश्य

१ सदाऽथ प० क० ख० । २ अन्यदाऽसौ सभामध्ये लीलयाऽऽस्ते सदागमः ख० । ३ अयं श्लोकः ता० क० ख० घ० प्रतिषु नास्ति । ४ जीर्णकरण्डखण्डेन । ५ परितैः प० ग० ।

सदागमम् । नाथ ! मां रक्ष रक्षेति पूच्चकारोच्चकैः [1]स्वरम् ॥ ५७ ॥ सदागमेनाऽभीदानाद् विहिताश्वासनस्ततः । स्तेनस्तस्य पदद्वन्द्वं शरणं प्रतिपन्नवान् ॥ ५८ ॥ सदागमभयत्रस्तैर्मुक्तमारक्षकैरिमम् । ततोऽग्रहीतसङ्केता विश्वस्तं दस्युमालपत् ॥ ५९ ॥ भद्र ! केनापराधेन यमकिङ्करसोदरैः । भवानेतैः पुरारक्षपुरुषैर्जग्रहे हठात् ॥ ६० ॥ सोऽवोचत् पृष्टया भद्रे ! पर्याप्तं वार्त्तयानया । इयं हि श्रूयमाणापि व्यथते हृदयं सताम् ॥६१॥ यदि वानन्यसामान्यज्ञानज्ञातजगत्त्रयः । वेत्त्येवामुं व्यतिकरं भगवान् श्रीसदागमः ॥ ६२ ॥ ततः सदागमेनोक्तं महदस्याः कुतूहलम् । अतोऽयं निजवृत्तान्तो भवता भद्र ! कथ्यताम् ॥ ६३ ॥ तस्करः प्राह यद्येवं [2]विविक्तं तद्विधीयताम् । न मे कथयतो येन जनलज्जा भवेत्प्रभो ! ॥ ६४ ॥ ततो भगवता सर्वा पर्षदालोकिता सती । दूरदेशं समाश्रि[3]त्य तस्थौ विस्मितमानसा ॥ ६५ ॥ आकर्णय त्वमप्येवं सूरिणा गदिता सती । तत्र प्रज्ञाविशालास्थान्नृपसूनुसमन्विता ॥ ६६ ॥ अथाग्रहीतसङ्केतां समुद्दिश्य विशेषतः । चतुर्णां पुरतस्तेषां दस्युर्वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ६७ ॥ अस्त्यत्र लोके विख्यातमनन्तजनसङ्कुलम् । यथार्थनामकमसंव्यवहाराभिधं पुरम् ॥ ६८ ॥ तत्रानादिवनस्पतिनामानः कुलपुत्रकाः । वसन्ति तत्र च कर्म्मपरिणाममहीभुजा ॥ ६९ ॥ नियुक्तौ तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधनामकौ । महत्तमबलाध्यक्षौ तिष्ठतः स्थायिनौ सदा ॥ ७० ॥ युग्मम् ॥ ताभ्यां कर्म्मपरीणाममहाराजस्य शासनात् । निगोदाख्यापवरकेष्वसंख्येषु दिवानिशम् ॥ ७१ ॥ क्षिप्त्वा संपिण्ड्य धार्यन्ते सर्वेऽपि कुलपुत्रकाः । प्रसुप्त-

१ स्वयम् ग० । २ निर्जनम् । ३ ०सृत्य क० ख० ग० घ० ।

वन्मूर्च्छितवन्मत्तवन्मृतवच्च ते ॥ ७२ ॥ युग्मम् ॥ ते स्पष्टचेष्टाचैतन्यभाषादिगुणवर्जिताः । छेदभेदप्रतीघातदाहा-दीन् नाप्नुवन्ति च ॥ ७३ ॥ अपरस्थानगमनप्रमुखो नापि कश्चन । क्रियतेऽन्योऽपि तैर्लोकव्यवहारः कदाचन ॥ ७४ ॥ संसारिजीवसंज्ञेन वास्तव्येन कुटुम्बिना । कालो निर्गमितः पूर्वं तत्रानन्तो मयापि हि ॥ ७५ ॥ बलाध्यक्षयुतोऽन्येद्युर्दत्तास्थानो महत्तमः । व्यज्ञप्यत प्रतीहार्या तत्परिणत्यभिख्यया ॥ ७६ ॥ देवकर्मपरिणाम-महाराजनिदेशतः । तन्नियोगाभिधो दूतो देवपादान् दिदृक्षते ॥ ७७ ॥ तीव्रमोहोदयात्यन्तानोधाभ्यामथ सत्वरम् । मोचयेत्युदिता गत्वा दूतमन्तर्मुमोच सा ॥ ७८ ॥ ततः कृतनस्कारमासीनं ढौकितासने । कुशल-प्रश्नपूर्वं तं दूतमाह महत्तमः ॥ ७९ ॥ केन कार्येण संप्रेष्य भवन्तं दूतसत्तम ! । अनुग्रहोऽयमस्माकं देवपादैः कृतो महान् ॥ ८० ॥ उवाच तन्नियोगोऽपि को युष्माकं विना परः । अनुग्रहार्हो देवस्यागमे हेतुरयं तु मे ॥ ८१ ॥ लोकस्थित्यभिधा विश्वमान्यानुल्लङ्घ्यशासना । भवतां विदितैवास्ति देवस्य महती स्वसा ॥ ८२ ॥ देवोऽन्यदा च तामूचे यथा लोकस्थिते ! रिपुः । सदागमाभिधोऽस्माकमेक एवास्ति दुर्जयः ॥ ८३ ॥ निःशङ्कमानसो लोकान्नगर्यां स च निर्वृतौ । नयत्यसदगम्यायां कांश्चिन्निःसार्य मद्भुवः ॥ ८४ ॥ तत एवं स्थिते लोकस्थिते ! कालेन गच्छता । भवितास्माकमश्लोको लोके स्तोकीभवत्यलम् ॥ ८५ ॥ अतस्त्वयेदं कर्त्तव्यमनन्तजनपूरितम् । अस्त्यसंव्यवहाराख्यं पुरं मम सनातनम् ॥ ८६ ॥ ततः सदागमस्थाम्ना यावन्तो यान्ति निर्वृतिम् । स्थाप्या-

१ ०क्षते ग० ।

स्तत्संख्ययानीय तत्पदेषु ततस्त्वया ॥ ८७ ॥ ततः प्राज्यजनत्वेन वार्त्तामपि न कश्चन । सदागमेन नीतानां जनानां प्रश्नयिष्यति ॥ ८८ ॥ ततश्च भुवने भावि नास्माकमयशः स्वसः ! तद् व्यापारं गृहाणैनं विदधे सापि तत्तथा ॥ ८९ ॥ अहं च देवपादोपजीवी यद्यपि तत्त्वतः । तथापि सेवको लोकस्थितेस्तस्या विशेषतः ॥ ९० ॥ तद्द्वारेणात एवाहं तन्नियोग इति स्मृतः । सदागमेन नीताश्च कियन्तोऽप्यधुना जनाः ॥ ९१ ॥ ततोऽहं प्रहितस्तावज्जनानयनहेतवे । लोकस्थित्या भवन्मूले प्रमाणं यूयमत्र तत् ॥ ९२ ॥ ततो यदादिशत्यार्ये-त्युक्त्वा दूतस्य जल्पितम् । तथेति प्रतिपेदाते बलाध्यक्षमहत्तमौ ॥ ९३ ॥ महत्तमोऽथ तं दूतमवोचदिति सुन्दर ! । उत्तिष्ठात्रत्यलोकानां प्रमाणं दर्शयामि ते ॥ ९४ ॥ गत्वा त्वया यथा तस्मिन् यथादृष्टे निवेदिते । लोकाल्पी-भावचिन्ता स्यान्न देवस्य कदापि हि ॥ ९५ ॥ इत्युक्त्वात्यन्ताबोधेन सहोत्थाय महत्तमः । दूतायोर्ध्वकरस्तस्मै दर्शयामास तत्पुरम् ॥ ९६ ॥ सर्वतो दर्शयित्वा च दूतमाह महत्तमः । सदागमस्य तस्य त्वं पश्य भद्र ! विमूढताम् ॥ ९७ ॥ स लोकं किल देवस्य निर्वाहयितुमिच्छति । विजानाति वराकस्तत्प्रमाणं न तु सर्वथा ॥ ९८ ॥ तथा—ह्यत्र पुरे तावत्त्वया प्रत्यक्षमीक्षिताः । प्रासादा गोलकाभिख्याः संख्यातीता बृहत्तमाः ॥ ९९ ॥ निगोदाख्या-पवरकाः प्रत्येकं तेष्वसंख्यकाः । वसन्ति तेषु चानन्ता एकैकस्मिन्नमी जनाः ॥ १०० ॥ असावनादिसिद्धश्च लोक-निर्वाहणाग्रहः । सदागमाभिधानस्य रिपोस्तस्य दुरात्मनः ॥ १०१ ॥ अनन्तेनापि कालेन तथापि द्वेषिणामुना ।

१ ०मूलं प्र० क० ख० ग० ।

एकोऽपि नापवरको रिक्तमध्यो विधीयते ॥ १०२ ॥ तल्लोकविरलीभावचिन्ता किं देवचेतसि ?। दूतोऽप्युवाच देवस्यावष्टम्भः सत्यमस्त्ययम् ॥ १०३ ॥ युष्मद्वाक्यं विशेषाच्च कथयिष्याम्यदः प्रभोः। किन्तु संपाद्यतां लोकस्थित्यादेशो झटित्यसौ ॥ १०४ ॥ प्रस्थापनोचिताः केऽत्र व्रजित्वेति रहस्यथ । तीव्रमोहोदयेनोक्तो बलाध्यक्षः समाख्यत ॥ १०५ ॥ किमत्र मन्त्रणेनार्य ! बहुना कर्म्मभूपतेः । ज्ञाप्यतामयमादेशो घोषणापूर्वकं पुरे ॥ १०६ ॥ निर्विण्णाः स्थानकस्यास्य स्थानान्तरयियासवः । स्वयमेव चलिष्यन्ति परोलक्षास्ततो जनाः ॥ १०७ ॥ संख्यां नेतव्यलोकानां पृष्ट्वा दूतमिमं ततः । प्रहेष्यामः स्वरुचितांस्तन्मध्यात्तावतो वयम् ॥ १०८ ॥ तीव्रमोहोदयोऽवादीदत्यन्ताबोधमित्यथ । निजस्यापि विजानासि भक्तिं परिहितस्य न ॥ ॥ १०९ ॥ अनाद्यन्योन्यसंबन्धादत्रैव रतिमागताः । कथं स्थानान्तरं जातु यातुमिच्छन्त्यमी जनाः ? ॥ ११० ॥ नीहाराहारनिश्वासोच्छ्वासनाशजनूंष्यपि । सर्वेऽप्येते मिथः स्निग्धाः कुर्वन्ति सममेव हि ॥ १११ ॥ अदृष्टान्यस्थानगुणाः स्निग्धाश्चैवं परस्परम् । स्वयमेव चलिष्यन्ति तदेतेऽतः कथं जनाः ॥ ११२ ॥ ततः प्रस्थाप्यलोकानां ज्ञानोपायस्त्वया परः । चिन्त्यतां कोऽपि तच्छ्रुत्वा स पर्याकुलतामगात् ॥ ११३ ॥ इतश्च माननीयास्ति कर्म्मभूमिपतेरपि । अचिन्त्यशक्तिसम्पन्ना मत्पत्नी भवितव्यता ॥ ११४ ॥ शक्रचक्रयर्द्धचक्राद्या महीयांसोऽपि पूरुषाः । अनुकूलत्वमेवास्याः समीहन्ते सदैव हि ॥ ११५ ॥ तदेव कुरुते सा तु प्रतिभाति

१ ०रोचि० ख ।

यदात्मनः । विधत्तेऽन्यस्य नापेक्षामुत्तमस्याधमस्य वा ॥ ११६ ॥ भर्त्ताहमपि तस्याश्च भयसम्भ्रान्त-मानसः । विदधानस्तदादेशं वर्त्ते कर्म्मकरोपमः ॥ ११७ ॥ पर्याकुलस्य तस्याथ बलाध्यक्षस्य चेतसि । स्फुरितं किं मयाज्ञेन चिन्तयात्मा विडम्ब्यते ॥ ११८ ॥ प्रस्थापनीयलोकानां स्वरूपं भवितव्यता । संसारिजीवपत्नी यद्वेत्ति सा पृच्छयते ततः ॥ ११९ ॥ एवं विचिन्त्य तेनाथ स्वाभिप्राये निवेदिते । तीव्रमोहः समाह्वास्त मुदितो भवितव्यताम् ॥ १२० ॥ आगतां च निवेश्योच्चैरासने सचिवेरितः । बलाध्यक्षः समस्तं तं वृत्तान्तं तामजिज्ञपत् ॥ १२१ ॥ हसित्वा साथ तं प्रोचे किमिदं गदितं त्वया । एवंविधेषु कार्येषु स्वयमेवोद्यतास्मि यत् ॥ १२२ ॥ मद्भर्त्ता तावदेकोऽयं तज्जातीयास्तथा परे । प्रेष्यन्ते तत्र सोऽवोचत्तदपि त्वं विधास्यसि ॥ १२३ ॥ अथागत्य निवेद्यैतच्चालितोऽहं तया बलात् । तन्नियोगोक्तसंख्यानुसारतोऽन्येऽपि कत्यपि ॥ १२४ ॥ महत्तमबलाध्यक्षावुदितौ च पुनस्तया । मया युवाभ्यां चामीभिः सह यातव्यमध्वनि ॥ १२५ ॥ मया तावदयं नैव मोक्तव्यः पतिरात्मनः । पतिव्रतानां नारीणां पतिरेव हि देवता ॥ १२६ ॥ तथैकाक्षनिवासाख्ये नगरे प्रथमं खलु । अमीभिरस्ति गन्तव्यमधीनं युवयोश्च तत् ॥ १२७ ॥ ताभ्यामथ तथेत्युक्ते ते सर्वे तत्पुरं ययुः । तस्मिंश्च नगरे सन्ति महान्तः पञ्च पाटकाः ॥ १२८ ॥ एकं पाटकमङ्गुल्या दर्शयन्नग्रतः स्थितम् । मामेवमथ तन्वङ्गि ! तीव्रमोहोदयोऽब्रवीत् ॥ १२९ ॥ त्वमत्र पाटके भद्र ! तिष्ठ विश्वस्तमानसः । पाश्चात्यपुरतुल्यत्वाद्धान्येष धृतिदस्तव

१ च ग० । २ ममैव० क० ख० घ० ।

॥ १३० ॥ यथाहि तत्र प्रासादगर्भागारस्थिता जनाः । सन्त्यनन्ताः पिण्डिताङ्गास्तथैवात्रापि पाटके ॥ १३१ ॥ वर्त्तन्ते किन्तु ते लोकव्यवहारपराङ्मुखाः । मनीषिभिः समाख्यातास्तेनासांव्यवहारिकाः ॥ १३२ ॥ गमागमादिकं लोकव्यवहारममी पुनः । कुर्वन्ति सर्वदा तेन प्रोक्ताः सांव्यवहारिकाः ॥ १३३ ॥ अनादिवनस्पतय इति तेषां समाभिधा[१] । एषां तु वनस्पतय इति भेदस्तथा परः ॥ १३४ ॥ प्रत्येकचारिणोऽप्यत्र विभिन्नाः सौम्य ! पाटके । सौधापवरकन्यायवर्जिताः सन्त्यसंख्यकाः ॥ १३५ ॥ ततोऽत्र भद्र ! तिष्ठ त्वमित्युक्त्वा[२] तेन पूर्ववत् । एकस्मिन्नपवरके स्थापितोऽहं सुलोचने ! ॥ १३६ ॥ केचिन्मत्सन्निधौ केचिन्मुत्कलेषु च केचन । पाटकेष्वपरेष्वेवं शेषास्तु स्थापिता जनाः ॥ १३७ ॥ साधारणशरीराख्ये गर्भागारे ततो मया । कालो निर्वाहितोऽनन्तः पूर्वस्थित्यैव सुन्दरि ! १३८ ॥ अथापवरकात् तस्मात्कृष्ट्वा मां भवितव्यता । असंख्यं धारयामास कालं प्रत्येकचारिषु ॥ १३९ ॥ इतश्च कर्म्मनृपतिर्लोकस्थित्यादिकं निजम् । कुटुम्बं सर्वमालोच्य स्वसामर्थ्यभवाणुभिः[३] ॥ १४० ॥ एकभववेद्यसंज्ञाः सर्वार्थकरणक्षमाः । अनन्ता गुटिकाः कृत्वा पुराह भवितव्यताम् ॥ १४१ ॥ युग्मम् ॥ श्रान्तास्यखिललोकानां विदधाना क्षणे क्षणे । सुखदुःखादिकार्याणि नानारूपाणि सुन्दरि ! ॥ १४२ ॥ गुटिकास्तद् गृहाणैता एकैकस्याथ देहिनः । जीर्णायां पूर्वदत्तायां दातव्या गुटिकापरा ॥ १४३ ॥ ततस्ताः सर्वसत्त्वेषु त्वदभीष्टं प्रयोजनम् । स्वयमेव करिष्यन्ति न भावी ते ततः श्रमः ॥ १४४ ॥ इत्युदित्वा नृपस्तस्यै

१ सामान्याभिधानम् । २ ०त्त्वाऽनेन क० ख० । ३ आत्मीयसामर्थ्यप्रभवपरमाणुभिः ।

गुटिकास्ताः[1] समर्पयत् । महाप्रसाद इत्युक्त्वा सापि प्रमुदितागृहीत् ॥ १४५ ॥ विधत्ते च समस्तेषु शरीरिषु तथैव सा । प्रयोगं सर्वदा तासां गुटिकानां निजेच्छया ॥ १४६ ॥ ततश्चाहं यदा तत्राव्यवहारपुरेऽभवम् । गुटिकास्तास्तदायच्छत् तया स्थित्या ममापि सा ॥ १४७ ॥ एकाकारं तथा सूक्ष्मं तत्प्रयोगेण किन्तु सा । रूपं मे विहितवती चित्रं तत्रागता पुनः ॥ १४८ ॥ यतो[2]ऽपर्याप्तपर्याप्तस्थूलसूक्ष्माकृतिः क्वचित् । क्वचिदपवरकस्थः क्वचित्प्रत्येकचार्यपि[3] ॥ १४९ ॥ कन्दमूलत्वगङ्कूरस्कन्धशाखाचरः क्वचित् । पत्रपुष्पफलाकारः क्वचिद् बीजगतः क्वचित् ॥ १५० ॥ मूलबीजस्कन्धबीजाग्रबीजाद्यात्मकः क्वचित् । क्वचिद् वृक्षलतागुल्महरितौषधिरूपभाक् ॥१५१॥ इत्याद्यनेकरूपोऽहं भवितव्यतया तथा । विहितः पाटके तत्र वर्त्तमानो मुहुर्मुहुः ॥ १५२ ॥ कलापकम् ॥ तथारूपं च संवीक्ष्य पुरान्तरनिवासिनः । समभ्येत्य जनाः क्रूरा मत्पत्न्याः पुर एव माम् ॥ १५३ ॥ नित्यं छिन्दन्ति भिन्दन्ति पिंषन्ति च दलन्ति च । मोटयन्ति च लुंञ्चन्ति[4] तक्ष्णुवन्ति दहन्ति[5] च ॥ १५४ ॥ युग्मम् । दृष्ट्वाप्येवं बाध्यमानं मत्पत्नी मामुपेक्षते । तत्रैवं दुःखिनानन्तो गमितः समयो मया ॥ १५५ ॥ गुटिकायामथान्त्यायां जीर्णायामन्यदानघे ! । भवितव्यतया दत्ता ममान्या गुटिका पुनः ॥ १५६ ॥ तत्प्रभावाद् जगामाहं द्वितीये पाटके क्षणात् । तत्रासंख्याः पार्थिवाख्याः संवसन्ति जनाः सदा ॥ १५७ ॥ तेषां मध्ये समुद्भूतस्ततोऽहमपि पार्थिवः[6] । अन्यान्यगुटिकादानात्तत्रापि नटितस्तया ॥ १५८ ॥ पर्याप्तकापर्याप्तकसूक्ष्मस्थू-

---

१ समार्पयत् ग०। २ तथाह्यप० क० ख० ग० घ०। ३ ०धार्यपि ग०। ४ लुण्ठन्ति ता०। ५ निहन्ति ग०। ६ पृथ्वीकायिकः।

लादिरूपिणा। धातूपलादिसंज्ञेन वर्णपञ्चकताजुषा ॥ १५९ ॥ भेदनिर्दलनादीनि मया दुःखानि पाटके। सोढानि वसता तत्रासंख्यं कालं सुलोचने! ॥ १६० ॥ युग्मम् ॥ गुटिका मम दत्तान्या भवितव्यतया ततः। तृतीये पाटके तूर्णं तत्प्रभावादहं ययौ ॥ १६१ ॥ निवसन्त्याप्यनामानस्तत्रासंख्याः कुटुम्बिनः। ततो ममापि तन्मध्ये प्रादुर्भूताप्यरूपता ॥ १६२ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगाच्चक्रे च मम गेहिनी। हिमावश्यायमहिकादीनि रूपाण्यनेकधा ॥ १६३ ॥ शीतोष्णाचमनक्षारक्षेपादीनि मया मुहुः। तितिक्षितानि दुःखानि कालं तत्राप्यसंख्यकम् ॥ १६४ ॥ भार्यादत्तान्यगुटिकायोगतोऽहं गतस्ततः। तुरीये पाटकेऽसंख्यतेजस्कायद्विजाकुले ॥१६५॥ तन्मध्ये सूचिकारूपो भास्वरो दहनात्मकः। ततोऽहमपि सम्पन्नस्तेजस्कायाभिधो द्विजः ॥ १६६ ॥ मुर्मुराङ्गारचपलाज्वालालातादिसंज्ञया। तत्रापि नटितः पत्न्या गुटिकानां प्रदानतः ॥ १६७ ॥ मम विध्यापनादीनि संजातानि च भूरिशः। भद्रे! दुःखानि तत्रापि संख्यातीतमनेहसम् ॥१६८॥ पत्नीदत्तान्यगुटिकायोगाद् यातोऽथ पञ्चमे। पाटके वायवीयाख्यासंख्यातक्षत्रियाश्रिते ॥ १६९ ॥ ध्वजाकारोऽनुष्णशीतश्चालक्ष्यश्चर्मचक्षुषाम्। तन्मध्ये वायवीयाख्योऽहमपि क्षत्रियोऽभवम् ॥ १७० ॥ संवर्त्तगुञ्जाझञ्झादिरूपैस्तत्रापि भार्यया। गुटिकासंप्रयोगेण भूयो भूयः कदर्थितः ॥ १७१ ॥ शस्त्रघातनिरोधाद्यैर्मया दुःखमनेकशः। तितिक्षितमसंख्येयं कालं तत्रापि सुन्दरि! ॥ १७२ ॥ अथान्यगुटिकादानात् प्रथमे पाटके पुनः। भवितव्यतया नीतः पूर्वस्थित्यैव च स्थितः ॥

१ ०श्चालक्ष्यो मांसच० क० ख० ग० घ०।

॥ १७३ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगादहं नीतस्ततस्तया। पाटकेषु द्वितीयादिष्वपि भूयोऽपि पूर्ववत् ॥ १७४ ॥ एवं मत्त्रिबलाध्यक्षसमक्षं भवितव्यता। पर्याख्यानन्तशस्तत्र पुरे किञ्चित्प्रसेदुषी ॥ १७५ ॥ मामन्यदाचदन्नाथ ! त्वमत्रास्थाश्चिरं ततः। स्थानाजीर्णापनोदाय नयामि त्वां पुरान्तरे ॥ १७६ ॥ युग्मम् ॥ यदाज्ञापयते देवीत्युदित्वाथ मयि स्थिते। सा मेऽन्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ १७७ ॥ विकलाक्षनिवासाख्यमितश्चास्त्यपरं पुरम्। विकटाः पाटकाः सुभ्रु ! विद्यन्ते तत्र च त्रयः ॥ १७८ ॥ तत्रोन्मार्गोपदेशाख्यो नियुक्तः कर्मभूभुजा। महत्तमः समस्त्यस्य मायेति विदिता प्रिया ॥ १७९ ॥ गतोऽहं गुटिकायोगात् तत्र प्रथमपाटके। संख्यातीतद्विरूपीककुलपुत्रकसंकुले ॥ १८० ॥ ततो ममापि तन्मध्ये जातस्यापगता क्षणात्। सा प्रसुप्तोदिकावस्था मनाग् जाता च चेतना ॥ १८१ ॥ रूपैर्जलूकागण्डोलकृमिपूतरकादिभिः। अन्यान्यगुटिकायोगात्तया तत्रापि नाटितः ॥१८२॥ शीतोष्णकर्त्तनाहारमर्दनास्फालनादिकम्। मया दुःखं च संख्येयं कालं तत्र तितिक्षितम् ॥ १८३ ॥ द्वितीये पाटके नीतो गुटिकातस्तयान्यदा। गृहिणः सन्त्यसंख्यातास्तत्र त्रिकरणाभिधाः ॥१८४॥ जातोऽगृहीतसङ्केते ! तेषां मध्येऽहमप्यथ। कुन्थुमत्कुणमत्कोटकीटयूकादिरूपभाक् ॥१८५॥ अन्यान्यगुटिकादानात् कुटुम्बिन्या विडम्बितः। कालं तत्रापि संख्येयं दुःखं सेहे च पूर्ववत् ॥ १८६ ॥ तृतीयं पाटकं नीतो गुटिकातस्ततस्तया। असंख्यास्तत्र विद्यन्ते चतुरक्षाः कुटुम्बिनः ॥ १८७ ॥ ततो जातेन तन्मध्ये मया रम्भोरु ! पूर्ववत्। पतङ्गभृङ्गखद्योतदंशा-

---

१ ०दत् साथ ख। २ ०क्तो मूलभू० क० ख० ग० घ०। ३ ०संज्ञके ग०।

द्याकारधारिणा ॥ १८८ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगान्नटितेन च भार्यया। कालं संख्यामितं नानारूपं दुःखं तितिक्षितम् ॥ १८९ ॥ युग्मम् ॥ एवं वर्षसहस्राणि संख्यातानि पुनः पुनः। पर्याप्य पाटकेष्वेषु मामूचे भवितव्यता ॥ १९० ॥ आर्यपुत्रं भवन्तं किं नयामि नगरान्तरम्। पुरेऽत्र ते धृतिर्नास्ति नियतं नित्यवासतः ॥१९१॥ मयोक्तं देवि ! यत् तुभ्यं रोचते तद्विधीयताम्। ततोऽन्यपुरयानाय दत्ता मे गुटिका तया ॥ १९२ ॥ अथोन्मार्गोपदेशस्यासंख्यपञ्चाक्षसङ्कुलम्। पञ्चाक्षपशुसंस्थानं नामास्ति नगरं परम् ॥ १९३ ॥ पञ्चाक्षास्तत्र ये लोकाः स्पष्टचैतन्यसंयुताः। संज्ञिनस्तेऽभिधीयन्ते गर्भजाश्च मनीषिभिः ॥ १९४ ॥ ये पुनस्तत्र विद्यन्ते स्पष्टचैतन्यवर्जिताः। असंज्ञिन इति ख्यातास्ते संमूर्च्छनजास्तथा ॥ १९५ ॥ ततः कर्कटकग्राहभेकप्रभृतिरूपभृत्। शशशूकरसारङ्गोरगप्रमुखरूपभाक् ॥ १९६ ॥ केकिकोकबकोलूकपिकद्विकशुकाकृतिः। एवं जलस्थलनभश्चरो जातस्तदन्तरे ॥१९७॥ असंज्ञिसंज्ञिपर्याप्तेतरभेदैस्तयार्दितः। संख्यातितानि दुःखानि तितिक्षामास पूर्ववत् ॥ १९८ ॥ विशेषकम् ॥ पाश्चात्यसर्वस्थानेषु पत्न्या नीतोऽन्तरान्तरा। असंख्यातान्यशातानि संसोढानि तथैव च ॥ १९९ ॥ स्थितश्च नैरन्तर्येण परं पल्योपमत्रयम्। अहं तत्र पुरे किञ्चित् साधिकं पूर्वकोटिभिः ॥ २०० ॥ अन्यदा गुटिकादानादहं चक्रे तया मृगः। बाणेन गीतलुब्धश्च लुब्धकेन निपातितः ॥ २०१ ॥ अत्रान्तरे च पूर्वस्यां जीर्णायां भवितव्यता। ददौ मे गुटिकामन्यां तद्बलाच्च गजोऽभवम् ॥ २०२ ॥ कालक्रमेण सञ्जातो बलवान् यूथनायकः। करेणुनिकरेणाहं सहितो व्यचरं वने ॥ २०३ ॥ अन्यदा विपिने तत्र प्रादुर्भूते दवानले। कान्दिशीकमहं यूथं

तद्विहाय पलायितः ॥ २०४ ॥ ततश्चिरन्तनग्रामपद्रशुष्कान्धकूपके । तटरूढतृणालक्ष्येऽग्रपादौ पतितौ मम ॥ २०५ ॥ पश्चाद्भागोऽपि पर्यस्तो निरालम्बतया ततः । पतितोऽहं समुत्तानस्तनुभारेण चूर्णितः ॥ २०६ ॥ मूर्च्छान्ते चेतनां प्राप्य प्रोद्भूतप्रबलव्यथः । सञ्जातपश्चात्तापोऽहमिति चेतस्यचिन्तयम् ॥ २०७ ॥ हितमापद्गतं पोष्यं संस्तुतं चोपकारकम् । आत्मवर्ग्गं परित्यज्य नश्यन्त्यात्मभयेन ये ॥ २०८ ॥ तेषामह्रीमतां यूथाधिपशब्दभृतां वृथा । मादृशानां कृतघ्नानामेतदेव हि युज्यते ॥ २०९ ॥ युग्मम् ॥ ततोऽनया भावनया मनाग्माध्यस्थ्यमालिना । सप्तरात्रं मया सोढा तदवस्थेन सा व्यथा ॥ २१० ॥ अत्रान्तरे च कमपि प्रादुष्कृत्य मनोहरम् । पुमांसमेकं सा सुभ्रु ! मामूचे भवितव्यता ॥ २११ ॥ तुष्टाहं चेष्टितेनोच्चैरार्यपुत्र ! तवामुना । अतो गच्छाधुना रम्ये नगरे त्वं जयस्थले ॥ २१२ ॥ अयं च प्रददे तुभ्यं मया पुण्योदयो यतः । प्रच्छन्नस्तव सोदर्यः सहचारी च भाव्यसौ ॥ २१३ ॥ देव्याः प्रमाणमादेश इति प्रोक्ते मया ततः । सा मे तत्र प्रयाणाय गुटिकामपरां ददौ ॥ २१४ ॥ वदत्येवं च संसारिजीवाख्ये तस्करे तदा । स भव्यपुरुषः प्रज्ञाविशालामेवमब्रवीत् ॥ ॥ २१५ ॥ यथाम्ब ! पुरुषः कोऽयं ? किं वानेन प्रकथ्यते ? । पुराणि कानि वामून्यव्यवहारादिकानि च ? ॥ २१६ ॥ केयं च गुटिका चित्रसुखदुःखादिकारिणी ? । स्थितिः कालमियन्तं च नरस्यैकस्य वा कथम् ? ॥ २१७ ॥ जलूकादीनि रूपाणि स्युर्मनुष्यस्य वा कथम् ? । तदम्ब ! कथ्यतामस्य भावार्थो मे परिस्फुटः ॥ २१८ ॥ ततः प्रज्ञाविशालाह रूपं यदिदमीक्ष्यते । अस्येदानीन्तनं वत्स ! तन्नानेन निवेदितम् ॥ २१९ ॥ संसारिजीवनामायं

किन्तु सामान्यरूपतः। पुरुषोऽतस्तदेवात्मनामानेन प्रकाशितम् ॥ २२० ॥ आत्मनश्चरितं सर्वमिदं च घंटमानकम्। निवेदयितुमारब्धमनेन कमलानन! ॥ २२१ ॥ तथाऽसंव्यवहाराणां जीवानां राशिरत्र यः। तदसंव्यवहाराख्यं नगरं तात! कथ्यते ॥ २२२ ॥ पञ्चानामपि पृथ्व्यम्बुप्रभृतीनां च सुन्दर! एकेन्द्रियाणामेकाक्षनिवासं पुरमुच्यते ॥ २२३ ॥ द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां विकलाख्यं पुरं पुनः। पञ्चेन्द्रियतिरश्चां तु पञ्चाक्षपशुसंस्थितिः ॥ २२४ ॥ एकभववेदनीयं कर्मजालमिहोच्यते। गुटिकैकभववेद्या सुखदुःखादिकारणम् ॥ २२५ ॥ अयं च पुरुषो वत्स! सर्वदाप्यजरामरः। अनन्तमप्यतः कालमस्य युक्तैव हि स्थितिः ॥ २२६ ॥ भवन्त्येव हि संसारिजीवस्य विविधानि च। जलूकादीनि रूपाणि भद्र! चित्रं किमत्र तत्? ॥ २२७ ॥ यद्वा जगति नास्त्येव वत्स! तत्संविधानकम्। यदस्य नैव संसारिजीवस्य घटते स्फुटम् ॥ २२८ ॥ मुग्धबुद्धिस्त्वमद्यापि स्वरूपं वत्स! वेत्सि न। एतस्य कथयत्वेष तत्तावच्चरितं निजम् ॥ २२९ ॥ पश्चात्तवास्य भावार्थं कथयिष्यामि सुस्थिता। ततः सोऽपि तदादेशं तथेति प्रत्यपद्यत ॥ २३० ॥ इति ननु समशंसि मुग्धभव्या! घनतरकर्मवशं गतस्य जन्तोः। भ्रमणमतितरां गतौ तिरश्चां श्रृणुत गतावधुना पुनर्नराणाम् ॥ २३१ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे तिर्यग्भवभ्रमणवर्णनो नाम द्वितीयप्रस्तावः।

१ घटनात्मकम् ग०

तृतीयः प्रस्तावः ।

प्रोचे संसारिजीवोऽथ गुटिकायाः प्रभावतः । तस्या यत्राहमुत्पेदे तदाकर्णय सुन्दरि ! ॥ १ ॥ अस्त्यस्यां मनुजगतौ पाटको भरताभिधः । तद्विशेषकभूतं च पुरं नाम्ना जयस्थलम् ॥ २ ॥ ज्योत्स्न्यां[1] सौधेषु सावर्ण्याल(ल्ल)क्ष्येष्वाभाति सुभ्रुवाम् । आरूढानां मुखैर्यत्र शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ ३ ॥ दुर्वारवैरिवनितामुखपद्महिमागमः । तत्र पद्म इति ख्यातः समभूदवनीपतिः ॥४॥ अपूर्वः कोऽप्यभूद् यस्य प्रतापवडवानलः । यः शीतांशुरिवात्यन्तं यशोऽर्णवमवर्द्धयत् ॥ ५ ॥ शचीव देवराजस्य लक्ष्मीरिव मुरद्विपः । तस्याभूज्जनितामन्दानन्दा नन्दाभिधा प्रिया ॥ ६ ॥ अथाहं प्राविशं सुभ्रु ! भवितव्यतयेरितः । नन्दाया उदरे तस्याः समये च विनिर्ययौ ॥ ७ ॥ जातोऽस्माकमयं सूनुरिति मिथ्याभिमानतः । कारयामासतुर्देवीनृपौ जन्मोत्सवं मम ॥ ८ ॥ सहजातोऽपि नादर्शि ताभ्यां पुण्योदयः स[2] तु । अन्तरङ्गा हि नो भावा गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥ ९ ॥ नन्दिवर्द्धन इत्याख्यां दधानः पितृकल्पिताम् । धात्रिभिः पाल्यमानोऽथ क्रमादहमवर्द्धिषि[3] ॥ १० ॥ इतश्चासंव्यवहारपुरादारभ्य वर्त्तते । द्विविधो मे परीवारो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ ११ ॥ तत्रान्तरपरीवारमध्ये मेऽस्त्यविवेकिता । धात्री ब्राह्मणजातीया सर्वानर्थनिबन्धनम् ॥१२॥ मज्जन्मदिवसे सापि सुतं वैश्वानराभिधम् । सुषुवे सोऽप्यवर्द्धिष्ट सममेव मया क्रमात्

१ सौधेषु ज्योत्स्ना सावर्ण्यालक्ष्येष्वा० ग० । २ सुतः ग० । ३ ०वर्द्धिषम् ग० ।

॥ १३ ॥ धारयन् वैरकलहाभिधानौ विषमौ पदौ । ईर्ष्यासूयाभिधे जङ्घे स्थूरह्रस्वे समुद्वहन् ॥ १४ ॥ ऊरू ह्रस्वौ[1] दधदनुशयानुपशमाभिधौ[2] । पैशून्यसंज्ञकं बिभ्रत्कुटिलं च कटितटम् ॥१५॥ परमर्मोद्घटनाख्यं दर्शयन्नुदरं गुरुम् । दधानश्चातिसङ्कीर्णमुरोऽन्तस्तापनामकम् ॥१६॥ ह्रस्वौ[3] च कलयन्बाहू क्षारमत्सर[4]संज्ञिकौ । बिभ्राणः क्रूरता-रूपां सुदीर्घां च शिरोधराम् ॥ १७ ॥ असभ्य[5]भाषणाद्याख्यैर्विषमैर्दशनैर्युतः । चण्डत्वासहनत्वाख्यौ कर्णावल्पतरौ वहन् ॥१८॥ बिभ्रत् तामसभावाख्यं चिपिटं नर्कुटं[6] तथा । रक्ते वृत्ते नृशंसत्वरौद्रत्वाख्ये दृशौ दधत् ॥१९॥ युक्तो मूर्ध्ना त्रिकोणेनानार्याचरणसंज्ञिना । केशभारेण पिङ्गत्वाज्ज्वालाजालानुहारिणा ॥ २० ॥ परोपतापसंज्ञेन कुर्वन् स्वं नाम सार्थकम् । ततोऽसौ ब्राह्मणीसूनुरन्यदा ददृशे मया ॥२१॥ अष्टभिः कुलकम् ॥ दृष्ट्वा च प्रादुरभवद्वैरिण्यपि हि तत्त्वतः । मम ग्लास्नो[7]रिवापथ्ये प्रीतिस्तत्रातनीयसी ॥ २२ ॥ ज्ञात्वाथ सोऽपि मद्भावं समागत्य च सत्वरम् । मां सर्वाङ्गं समालिङ्ग्य नाटयन् स्नेहमद्भुतम् ॥ २३ ॥ नखमांसवदन्योन्यमावयोर्विरहासहा । अतिमात्रमभून्मैत्री क्रमाच्च कमलेक्षणे ! ॥ २४ ॥ अथान्यदामुना मैत्रीं कुर्वन्तमभिवीक्ष्य माम् । रुष्टः पुण्योदयो मित्रं चेतस्येवमचिन्त-यत् ॥ २५ ॥ अहो ! मूर्खः कुमारोऽयं हितं मित्रं विहाय माम् । वैश्वानरेण यन्मैत्रीं कुरुते विद्विषामुना ॥२६॥ तत्किं निवारयाम्येनमथवा वारितोऽप्यसौ । मित्रं न त्यक्ष्यति क्षुद्रं कलङ्कमिव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥ तत्किं परि-

---

१ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । २ ०भिधे ता० क० ग० घ० । ३ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । ४ ०रसंज्ञिके ता० क० ग० घ । ५ असत्यभा० क० ख० ग० घ० । ६ नासिकाम् । ७ रोगिणः ।

त्यजाम्येनं न ह्येतदपि साम्प्रतम् । भवितव्यतयैतस्यादिष्टः सहचरोऽस्मि यत् ॥२८॥ वेदनासमुद्घातेऽपि स्थिर-मध्यस्थभावतः । तोषितोऽहमनेनापि पुरा द्विरदरूपिणा ॥ २९ ॥ तदकाण्डे न मे त्यक्तुं कुसङ्गोऽप्येष युज्यते । ध्यात्वेति स तथैवास्थात् मत्समीपे महामनाः ॥ ३० ॥ इतः संजज्ञिरे बाह्या वयस्या बहवो मम । ततो विचित्रक्रीडाभिस्तैः क्रीडामि निजेच्छया ॥ ३१ ॥ बलिनोऽपि महान्तोऽपि ते च क्षत्रसुता अपि । वैश्वानरयुतं सर्प्पमिव मां वीक्ष्य बिभ्यति ॥ ३२ ॥ प्रणतिं चाटुकर्म्माणि धावनं पुरतोऽपि च । पदातय इवाजस्रं ततः कुर्वन्ति ते मम ॥ ३३ ॥ तत्र पुण्योदयो हेतुरचिन्त्यमहिमाश्रयः । शक्तिर्वैश्वानरस्येयमिति चित्ते त्वभून्मम ॥ ३४ ॥ एवं भावनया तन्वि ! तत्र वैश्वानरेऽन्वहम् । दधानो द्विगुणां प्रीतिमहं जातोऽष्टवार्षिकः ॥ ३५ ॥ अथ मामर्प्पयत्तातो महोत्सवपुरस्सरम् । कलाचार्याय वर्येऽह्नि कलाग्रहणहेतवे ॥ ३६ ॥ ततोऽहमग्रेऽधीयाननिज-भ्रात्रादिभिः सह । तत्समीपे प्रववृते ग्रहीतुं सकलाः कलाः ॥ ३७ ॥ जज्ञे पुण्योदयेनानुकूलवातेन नुन्नया । कलाजलधिपारीणो मतिनावाचिराय च ॥ ३८ ॥ किन्तु विसार्य शास्त्रार्थं वैश्वानरविमोहितः । अकार्षं कलहं भद्रे ! सहाध्यायिभिरन्वहम् ॥ ३९ ॥ मर्म्मोद्घट्टनमश्लीलभाषणं ताडनं तथा । कुर्वे तेषां क्षमे नापि मध्यस्थमपि तद्वचः ॥ ४० ॥ विदधानाः कलाभ्यासं मातापित्रनुरोधतः । ते तु कालं नयन्ति स्म मयकोद्वेजिता अपि ॥४१॥ माभूदनर्थः सर्वेषामिति बुद्ध्या च ते बुधाः । मद्वृत्तं कथयन्ति स्म कलाचार्यस्य नैव तत् ॥ ४२ ॥ तथापि नित्य-

१ ०मार्प्प० ग० ता० । २ सदाध्या० क० ख ० घ० ।

सान्निध्यात् कलयत्येव मामकम् । तच्चेष्टितं कलाचार्यः सकलं स कलानिधिः ॥ ४३ ॥ मामयोग्य इति ज्ञात्वा ततः सोऽपि न किञ्चन । शिक्षयत्यथवा सुप्तं को बोधयति पन्नगम् ॥ ४४ ॥ यदि वान्यमिषेणैष कदाचिच्छिक्षयेदपि । कुर्वे ततोऽहमस्यापि ताडनाक्रोशनादिकम् ॥४५॥ ततः सोऽपि कलेर्भीत्या ते चापि सहपाठिनः । न संमुखमपीक्ष्य(क्ष)न्ते भषणस्येव मेऽनघे ! ॥४६॥ अथ दध्यावहं चित्ते महामोहस्य दोषतः । अहो! वैश्वानरस्यास्य माहात्म्यं किञ्चिदद्भुतम् ॥ ४७ ॥ यन्निजालिङ्गनेनैष बलवन्तं विधाय माम् । करोत्यधृष्यं लोकानां प्रज्वलन्तमिवानलम् ॥ ४८ ॥ तदेष बन्धुः सर्वस्वं शरीरं जीवितं च मे । चञ्चापुरुषकल्पो हि पुरुषो रहितोऽमुना ॥ ४९ ॥ इति बुद्ध्वाथ तन्वङ्गि ! तत्र वैश्वानरे मम । स्थिरोऽनुरागः संजज्ञे नीलीराग इवांशुके ॥ ५० ॥ एकान्तगोष्ठ्यामन्येद्युरथ वैश्वानरः स माम् । प्रहृष्टमानसं दृष्ट्वा समभाषिष्ट दुष्टधीः ॥ ५१ ॥ कुमार ! त्वत्प्रसादस्य प्राणैरपि न निष्क्रयम् । गच्छाम्यहं चिकीर्षामि दीर्घमायुस्तथापि ते ॥ ५२ ॥ रसायनमहं ह्येकं सुदीर्घायुर्निबन्धनम् । जानामि तत्त्वदादेशात्तद्विधायार्प्पयामि ते ॥ ५३ ॥ एवं भवत्विति मया प्रोक्ते मह्यं विधाय सः । क्रूरचित्ताभिधानानि वटकानि समार्प्पयत् ॥ ५४ ॥ अभ्यधाच्च मया काले संज्ञितेन त्वया सखे ! । एकैकं वटकं भक्ष्यमेषां मध्यादसंशयम् ॥ ५५ ॥ ततोऽवश्यं कुमारस्य दीर्घमायुर्भविष्यति । रसमन्त्रौषधादीनामनुभावो हि नान्यथा ॥ ५६ ॥ अत्रान्तरे च भविता स्थानेऽदस्त्वदभीप्सिते । इत्युपश्रुतिमश्रौषीदेष कुत्रापि न त्वहम् ॥ ५७ ॥ दध्यौ च तां निशम्याऽयमवश्यं नरकं गमी । कुमारो वटकैरेभिर्दीर्घमायुश्च लप्स्यते ॥ ५८ ॥ अन्यथा हि कथङ्कारमभूदी-

दृगुपश्रुतिः । ममाभिरुचितं स्थानं सदा नरक एव यत् ॥ ५९ ॥ प्रमोदं परमं प्राप विचिन्त्येति स वञ्चकः । मयापि तान्यगृह्यन्त वटकानि प्रमोदिना ॥ ६० ॥ इतश्च तातो विश्वासपात्रं विदुरनामकम् । आदिशद् यत् कुमारोऽस्ति समादिष्टो मया पुरा ॥ ६१ ॥ यथानन्यमनस्केन कलादानं त्वयानिशम् । कार्यं नाहमपि प्रेक्ष्यस्त्वां द्रक्ष्याम्यहमेव हि ॥ ६२ ॥ ततो मे गमनं कार्यव्यग्रत्वाच्चेन्न जायते । ततः शुद्धिस्त्वया तस्यानेयामन्यत सोऽपि तत् ॥ ६३ ॥ कुर्वताथ नृपादेशं तेन सर्वोऽपि लक्षितः । सहाध्यायिकलाचार्यकलिव्यतिकरो मम ॥ ६४ ॥ मेनःक्षतिभयात्तेन चिरादकथितोऽपि हि । अन्यदातिभरं दृष्ट्वा स भूपाय निवेदितः ॥ ६५ ॥ तदाकर्ण्य च तातोऽपि विषादमलिनाननः । विदुरं सत्वरं प्रेष्य कलाचार्यमजूहवत् ॥ ६६ ॥ ततस्तमागतं तूर्णमभ्युत्थानासनादिभिः । सत्कृत्य कृत्यविदुरः क्षोणीपतिरदोऽवदत् ॥ ६७ ॥ अयि ! बुद्धिसमुद्रार्य ! कलाग्रहणमेधते । कुमाराणामयं प्राह बाढं देवानुभावतः ॥ ६८ ॥ भूपतिः पुनरप्यूचे समुल्लासिमनोरथः । कलाः काश्चित्किमाजग्मुः कुमारं नन्दिवर्द्धनम् ॥ ६९ ॥ कलाचार्योऽप्यथोवाच नैव काप्यस्ति सा कला । न या प्राप्ता परां काष्ठां कुमारे वसुधेश्वर ! ॥ ७० ॥ ततोऽथ मुदितोऽवादीद् धन्योऽयं नन्दिवर्द्धनः । आर्य ! संजज्ञिरे यस्य कलाचार्या भवादृशाः ॥ ७१ ॥ मैवं वद महीनाथ ! वयं केऽत्र तव ध्रुवम् । अनुभावोऽयमित्युक्तस्तेन तातोऽवदत्पुनः ॥ ७२ ॥ आर्योपचारवचसा किमनेन तवैव हि । प्रसादेन कुमारोऽभून्निःशेषगुणभाजनम् ॥ ७३ ॥

---

१ मनःक्षिति० क० ख० घ०, मत्तः क्षिति० ग० । २ अये ! बु० क० ख० ग० घ० ।

तेनोक्तमेवं चेत्तर्हि वञ्च्यः स्वामी न सेवकैः । इत्यहं विज्ञपयितुं देवमिच्छामि किञ्चन ॥ ७४ ॥ तच्च युक्तमयुक्तं वा देवः संसोढुमर्हति । वचनं हि समीचीनं वल्लभं च सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥ वदत्वार्यो यथार्थोक्तौ कः क्रुधः समयो ननु । तातेनेत्युदितो बुद्धिसमुद्रोऽथावदत्पुनः ॥ ७६ ॥ एवं यदि ततो देव ! यदादिष्टं त्वया यथा । गुणभाजनमेषोऽभूत्कुमारस्तत्तथैव हि ॥ ७७ ॥ देव ! किन्तु गुणग्रामः कुमारस्याखिलोऽपि हि । वैश्वानरस्य सम्पर्काद्भस्मीभवति सर्वथा ॥ ७८ ॥ गुणानामखिलानां च प्रशमो भूषणं परम् । नित्यं सन्निहितस्तं च कुमारस्य निहन्त्यसौ ॥ ७९ ॥ मोहान्मित्रं कुमारस्तु मन्यते शत्रुमप्यमुम् । तदीदृग्मित्रसम्पर्कात्कुमारस्य वृथा गुणाः ॥ ८० ॥ ततस्तातस्तदाकर्ण्य वज्राहत इवोच्चकैः । दुःखितो वेदकाभिख्यं नरमेवं समादिशत् ॥ ८१ ॥ आकारय द्रुतं भद्र ! कुमारं नन्दिवर्द्धनम् । मित्रापशदसंसर्गाद् येनामुं वारयाम्यहम् ॥ ८२ ॥ नत्वा सोऽप्याह देवस्य प्रमाणं खलु शासनम् । कुमारसंस्तवादेव किन्त्विदं निश्चितं मया ॥ ८३ ॥ यदन्तरङ्गभूतोऽयं कुमारस्य वयस्यकः । अपसारयितुं नैव शक्रेणापि हि शक्यते ॥ ८४ ॥ ततोऽस्य त्याजने किञ्चिदुच्यते यद्यसौ तदा । आत्मघातादिकमपि विद्धरं कुरुते ध्रुवम् ॥ ८५ ॥ देवोऽत्रार्थे कुमारं तन्न किञ्चिद् वक्तुमर्हति । जायते हि ययानर्थः शिक्षयापि तया कृतम् ॥ ८६ ॥ कलाचार्योऽवदद् देव ! सत्यमेतेन भाषितम् । कुमारशिक्षणोद्युक्ता वयमप्यासहे यतः ॥ ८७ ॥ किन्त्वनर्थभयादेनं न किञ्चिद् वक्तुमीश्महे । तन्न शक्यं कुमारस्य कुसं-

१ ऽनघ ! घ० ।

सर्गनिवारणम् ॥ ८८ ॥ भाव्यार्य ! क उपायोऽत्र तातेनेत्युदिते ततः । न जानीमो वयमपीत्युवाच पुनरप्यसौ ॥ ८९ ॥ विदुरोऽथावदद् देव ! श्रूयतेऽत्र समागतः । कश्चिज्जिनमतज्ञाख्यः सिद्धपुत्रो निमित्तवित् ॥ ९० ॥ अत्रोपायं त्रिकालज्ञः स जानाति कदाचन । तस्मादेष समाहूय प्रष्टुं सम्प्रति युज्यते ॥ ९१ ॥ हृष्टस्तातोऽथ विदुरं संप्रेष्य तमजूहवत् । सद्यः समागतायास्मै कार्यं च तदचीकथत् ॥ ९२ ॥ विभाव्याख्यत सोऽप्येवमेक एवात्र विद्यते । उपायो नेतरः कोऽपि [1]तं च शृणु नरेश्वर ! ॥ ९३ ॥ अस्तीह क्लेशनिर्मुक्तं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् । नगरं चित्तसौन्दर्यं कल्याणैकनिकेतनम् ॥ ९४ ॥ दुष्टशिष्टजनस्तोमनिग्रहानुग्रहोद्यतः । नाम्ना शुभपरीणामस्तत्रास्ति वसुधाधवः ॥ ९५ ॥ अगण्यपुण्यलावण्यशीलादिगुणभाजनम् । तस्य चास्ति महीभर्तुर्वल्लभा निष्प्रकम्पता ॥ ९६ ॥ सर्वदा विहितावासा मुनीनामपि मानसे । मञ्जूषा गुणरत्नानां क्षान्तिर्नाम तयोः सुता ॥ ९७ ॥ ततो यदैष तां कन्यां कुमारः परिणेष्यति । अनेन पापमित्रेण तदा मैत्रीं विहास्यति ॥ ९८ ॥ यतः प्रभावादेतस्या दूरादेव पलायते । वैश्वानरोऽयं भूपाल ! जाङ्गुल्या इव पन्नगः ॥ ९९ ॥ ततः शुभपरीणामात् मदर्थं क्षान्तियाचने । अमात्यमादिशत् तातो भद्रे ! मतिधनाभिधम् ॥ १०० ॥ देवो यदादिशत्येवमुक्त्वा यावदसौ ततः । गन्तुं प्रववृते तावदूचे नैमित्तिकः पुनः ॥ १०१ ॥ किं क्लेशेनामुना भूप ! न हि तत्र भवादृशाम् । गम्यते मानुषैरेवं तत्रार्थे शृणु कारणम् ॥ १०२ ॥ भावाः सर्वेऽपि भूपाल ! पुरराजप्रियादयः । द्विविधा

---

१ शृणु तं च न० ग० । २ ०णामं मदर्थे क्षान्तिमर्थितुम् ग० ।

हि भवन्त्यत्र बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ १०३ ॥ तत्र बाह्येषु भावेषु गमनाज्ञापनादिकः । भवादृशानां व्यापारो नान्तरेषु कदाचन ॥ १०४ ॥ एतच्च पुरराजादि वर्त्तते सर्वमान्तरम् । ततो न शक्यते गन्तुं भवतस्तत्र मन्त्रिणा ॥ १०५ ॥ प्रभवत्यार्य ! कस्तर्हि तत्रेति क्षितिपोदिते । असौ पुनरुवाचैवं य एवाभ्यन्तरो नृपः ॥ १०६ ॥ कः सोऽपीति पुनः पृष्टस्तातेन गणकोऽवदत् । विश्वैककर्म्मठः कर्मपरिणामो नरेश्वरः ॥ १०७ ॥ तेनैव क्ष्माभुजा क्षान्तिपित्रे तस्मै क्षमाभुजे । भटभुक्त्या पुरं दत्तं तत्ततोऽसौ हि तद्वशः ॥ १०८ ॥ प्रार्थनाविषयः कर्मपरिणामः स मादृशाम् । नवेति पृष्टस्तातेन पुनर्नैमित्तिकोऽवदत् ॥ १०९ ॥ नैतदेवं स हि प्रायो नृपः स्वैरी न गृह्यते । अभ्यर्थनोपरोधोपचारैः परकृतैः क्वचित् ॥ ११० ॥ किन्त्वेषोऽपि नृपः कालपरिणत्यादिकं निजम् । सर्वं कुटुम्ब-मापृच्छ्य सदा कार्ये प्रवर्तते ॥ १११ ॥ ततो रोचिष्यतेऽमुष्य यदा पृष्ट्वा कुटुम्बकम् । तदा स्वयं कुमाराय स क्षान्तिं दापयिष्यति ॥ ११२ ॥ श्रुत्वेत्यथ नृपोऽवोचदार्य ! तर्हि हता वयम् । यतो रोचिष्यते तस्य कदापीति न बुद्ध्यते ॥ ११३ ॥ दैवज्ञः पुनरप्याह कृतं खेदेन भूपते ! । किमत्र क्रियते कार्यमिदमीदृशमेव यत् ॥ ११४ ॥ नरः प्रमादी शक्येऽर्थे स्यादुपालम्भभाजनम् । अशक्यवस्तुविषये पुरुषो नापरा-ध्यति ॥ ११५ ॥ किञ्चास्त्यस्य कुमारस्य गुप्तः पुण्योदयः सुहृत् । वैश्वानरकृतं सर्वमनर्थं सोऽपनेष्यति ॥ ११६ ॥ एतदाकर्ण्य संजातस्तातः स्वस्थमना मनाक् । अत्रान्तरे च पद्माक्षि ! बन्दिनैवमपठ्यत ॥ ११७ ॥ न क्रो-धात् तेजसो वृद्धिः किन्तु मध्यस्थभावतः । दर्शयन्निति लोकानां सूर्यो मध्यस्थतां ययौ ॥११८॥

ततो मध्याह्नसमयं विज्ञायावनिशासनः । नैमित्तिककलाचार्यौ पूजयित्वा विसृष्टवान् ॥ ११९ ॥ नैमित्तिकगिरा जातनिर्णयोऽप्यथ भूपतिः । इत्यादिदेश विदुरमपत्यस्नेहमोहितः ॥ १२० ॥ ज्ञेयो भावः कुमारस्य भवता भद्र ! धीमता । पापमित्रादसौ शक्यः किं वियोजयितुं न वा ? ॥ १२१ ॥ देवो यदादिशत्येवं विदुरेणार्थं भापिते । चक्रे नृपतिरुत्थाय कृत्यं मध्यन्दिनोचितम् ॥ १२२ ॥ द्वितीयेऽह्नि मदभ्यर्णं विदुरोऽपि समाययौ । कल्ये किं नागतोऽसीति स मया समभापि च ॥ १२३ ॥ सोऽथ सञ्चिन्तयामास समादिष्टोऽस्मि भूभुजा । परिज्ञातुं कुमारस्याभिप्रायं तावदादरात् ॥ १२४ ॥ ततो मया कुसंसर्गदोषाणां प्रतिपादिका । सुसाधुभ्यः श्रुता यास्ति कथयाम्यस्य तां कथाम् ॥ १२५ ॥ विज्ञास्यामि ततोऽमुष्य सुखेनैवाहमाशयम् । विचार्येति विचारज्ञः प्रत्यभापत मामसौ ॥ १२६ ॥ कुमार ! किञ्चिदाक्षेण्यं कल्ये मेऽभून्मयोदितम् । कीदृशं तत्ततस्तेन प्रोचे हृद्या कथा श्रुता ॥ १२७ ॥ ममाप्याख्याहि तामेवमनुयुक्तो मयाथ सः । विदुरस्तां समारेभे समाख्यातुं कथामिति ॥ १२८ ॥ अस्त्यस्यां मनुजगतौ पुर्यां भरतपाटके । क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं सम्पदां पदम् ॥ १२९ ॥ तत्रास्ति बलवान्कर्म्मविलासो नाम भूपतिः । शुभसुन्दर्यकुशलमाले तस्य प्रिये उभे ॥१३०॥ मनीपिबालनामानौ तयोः पुत्रौ यथाक्रमम् । गुणानां वसतिर्ज्येष्ठो दोपाणामपरः पुनः ॥ १३१ ॥ स्वदेहाख्ये वने ताभ्यां दृष्टः कश्चिन्नरोऽन्यदा । स तयोः पश्यतोरेवारोहत् नाकुं तदुच्छ्रयम् ॥ १३२ ॥ मुद्धाख्यवृक्षशा-

१ ऽद्य भा० क० घ० । २ व्यग्रता । ३ मनोज्ञा । ४ वल्मीकम् ।

स्वायां ततस्तूर्णं स पाशकम् । निबध्य कन्धरायां च निधाय स्वममुञ्चत ॥ १३३ ॥ ततो मा साहसमिति जल्पन्तौ सम्भ्रमेण तौ । मनीषिबालौ तरसा तत्समीपमुपेयतुः ॥ १३४ ॥ बालेन छिन्नपाशोऽथ मुर्च्छया स नरः क्षितौ । पतितो वायुदानेन ताभ्यामाश्वासितस्ततः ॥ १३५ ॥ तमासादितचैतन्यं कुमारावूचतुस्ततः । किमेतद् भवता भद्र ! कृतं कापुरुषोचितम् ॥ १३६ ॥ को वास्य करणे हेतुः समभूद् दुरतिक्रमः । नैवास्ति यद्यनाख्येयं तदिदं कथयावयोः ॥ १३७ ॥ दीर्घदीर्घं स निःश्वस्य पुरुषस्तावभाषत । अलं मदीयकथया युवाभ्यां चारु नो कृतम् ॥ १३८ ॥ यदहं निजदुःखाग्निं निर्वापयितुमुद्यतः । भवद्भ्यां धारितः कार्यस्तत्र विघ्नोऽधुना पि मे ॥ १३९ ॥ इत्युक्त्वा स्वं पुनर्यावदुल्लम्बयितुमुत्थितः । तावद् बालेन बाहुभ्यां धृत्वैवं समभाषि सः ॥ १४० ॥ तावदावेद्यतां भद्र ! स्ववृत्तान्तस्ततो न चेत् । भवेत् कोऽपि प्रतीकारः कुर्याः स्वरुचितं ततः ॥ १४१ ॥ पुरुषः प्राह यद्यस्ति निर्बन्धस्तन्निशम्यताम् । बभूव भवजन्त्वाख्यः सर्वस्वमिव मे सुहृत् ॥ १४२ ॥ स्नेहेन कुर्वता सर्वं पृष्ट्वा पृष्ट्वा ममेप्सितम् । स्वप्नेऽपि स्पर्शनाख्योऽहं तेन न प्रतिकूलितः ॥ १४३ ॥ तेनान्यदा ममाभाग्यैः पुमान्नाम्ना सदागमः । ददृशे विदधे चायं पर्यालोचं सहामुना ॥ १४४ ॥ एवं दिने दिने चक्रे तत्संसर्गं यथा यथा । तथा तथायं निःस्नेहो जज्ञे मयि शनैः शनैः ॥ १४५ ॥ मयाथ चिन्तितं हन्त किमेतद् यदयं सुहृत् । परावर्त्तितजन्मेव निःस्नेहः समभून्मयि ॥ १४६ ॥ आ ! ज्ञातमथवानर्थसन्ततिः सकलाप्यसौ । सदा सदागमस्यास्य पर्यालोचादजायत ॥ १४७ ॥ विमृश्येति महाशोकशङ्कुसङ्कुलचेतसा । मया कथङ्कथमपि किया-

न्कालोऽतिलङ्घितः ॥ १४८ ॥ सार्द्धं सदागमेनाथ किञ्चिदालोच्य सोऽन्यदा । सम्बन्धं सर्वथात्याक्षीद् भवजन्तुर्मया समम् ॥ १४९ ॥ मत्प्रियं ललनातूलीचेलचर्चादिकं मृदु । मद्वाचा यत्पुराग्राहि तदप्येतेन तत्यजे ॥ १५० ॥ केशोत्पाटनशीतोष्णास्नानभूशयनादिकम् । ततः प्रभृति किन्त्वेष सेवते स ममाप्रियम् ॥ १५१ ॥ ततस्तं तादृशं वीक्ष्य मया चेतसि चिन्तितम् । गृहीतः शत्रुबुद्ध्याहं तावन्मित्रेण सर्वथा ॥ १५२ ॥ तथाप्यकाण्ड एवायं न मोक्तव्यः सुहृन्मया । निश्छद्मनां हि मित्राणां प्रणयो मरणावधिः ॥ १५३ ॥ भद्रकश्च स्वरूपेण भवजन्तुरसौ मयि । अधुनैवेदृशो जज्ञे सदागमविमोहितः ॥ १५४ ॥ ततो मोहे गते पूर्वमिव स्निह्यति चेन्मयि । ध्यात्वेति तस्य देहाख्ये गेहेऽहं पूर्ववत् स्थितः ॥ १५५ ॥ अन्येद्युर्मां समाक्रुश्य[1] निष्कास्य च ततो गृहात् । जगाम निर्वृतौ पुर्यामगम्यायां स मादृशाम् ॥ १५६ ॥ प्रियमित्रवियुक्तस्य निष्फलैरधुना मम । किं प्राणैश्चिन्तयित्वेति मयैवं विदधे ततः ॥ १५७ ॥ अथ बालो जगादैवं साधु स्पर्शन ! साधु ते । स्थानेऽध्यवसितं मित्रविरहो हि सुदुःसहः ॥ १५८ ॥ धार्यास्तथापि भद्रेण प्राणा मदुपरोधतः । अन्यथा गतिरेषैव ममापि हि भविष्यति ॥ १५९ ॥ अम्लिकाभिर्न पूर्यन्ते यद्यप्याम्रमनोरथाः । तद्वियोगप्रतीकारबुद्ध्या धार्यस्तथाप्यहम् ॥ १६० ॥ स्पर्शनोऽथाब्रवीदार्य ! साधु साधु त्वया पुनः[2] । वचनामृतसेकान्मे शमितः शोकपावकः ॥ १६१ ॥ धृता एव मया प्राणाः किमुक्तेन घनेन[3] वा । कुमार ! सांप्रतं नूनं भवजन्तुस्त्वमेव मे ॥१६२॥

१ तिरस्कृत्य । २ सुतः ता० क० ख० घ० । ३ बहुना ।

ततस्तयोर्दृढा मैत्री जज्ञे दध्यौ मनीष्यपि । न कोऽप्यकृत्रिमं मित्रं तावत् त्यजति धीधनः ॥ १६३ ॥ न वा सदागमेनापि त्याज्यते कारणं विना । यतः स श्रूयतेऽत्यन्तं पर्यालोचितकारकः ॥ १६४ ॥ तन्न[1] भव्योऽयमेतेन मैत्री बालस्य चाशुभा । एवं संचिन्तयन्नेव स्पर्शनेनाभिभाषितः ॥ १६५ ॥ कृतं मनीषिणाप्यस्यालपनं लोकयात्रया । मैत्री चाभूद् बहिर्वृत्त्या सर्वे च[2] नगरं ययुः ॥ १६६ ॥ गत्वा च गेहं देवीभ्यां सहितस्य महीपतेः । नत्वा स्पर्शनवृत्तान्तः कुमाराभ्यां निवेदितः ॥ १६७ ॥ हृष्टः कर्म्मविलासोऽथ चिन्तयामास चेतसि । स्पर्शनेनाभवत्सार्द्धं साधु मैत्री कुमारयोः ॥ १६८ ॥ अपथ्यमामयस्येव स्पर्शनोऽसौ यतो मम । वृद्धिहेतुर्मया चैष दृदृशेऽनेकशः पुरा ॥ १६९ ॥ अनादिरूढः किन्त्वेष स्वभावो मम वर्त्तते । हितोऽस्य यो मया भाव्यं विपरीतेन तस्य यत् ॥ १७० ॥ यस्त्वेतस्याहितस्तस्यानुकूलः सर्वथाप्यहम् । परित्यजति यस्त्वेनं त्याज्योऽवश्यं मयाऽपि सः ॥ १७१ ॥ ततश्चैवंस्थिते भावं वीक्ष्य वीक्ष्य कुमारयोः । यथोचितं विधास्यामीति ध्यात्वा सोऽभ्यधादिदम् ॥ १७२ ॥ सुन्दरं विदधे वत्सौ ! यदेष स्पर्शनो वने । शोकावेशात् त्यजन् प्राणान् धृतो[3] मैत्रीविधानतः ॥ १७३ ॥ तदाकुशलमालापि दध्यौ धन्याऽस्मि निश्चितम् । एतत्सम्बन्धतो नाम यथार्थं भावि मे यतः ॥ १७४ ॥ स्पर्शनस्य हितो यो हि स ममात्यन्तवल्लभः । अस्मिंश्च रक्तो मे सूनुर्मुखरागेण लक्ष्यते ॥ १७५ ॥ ध्यात्वेति बालं सा प्राह साधु वत्स ! त्वया कृतम् । स्पर्शनेनास्तु ते

१ तदभ० ग० । २ ऽथ न० क० ख० घ० । ३ भृतो ता० क० ख० घ० ।

नित्यमवियोगो मदाशिषा ॥ १७६ ॥ तदा च शुभसुन्दर्याप्येवं चेतसि चिन्तितम् । सम्बन्धः पापमित्रेण मम सूनोर्न सुन्दरः ॥१७७॥ रिपुरेप महानर्थकारणं सहजो हि मे । कदर्थिताहमेतेन पुरापि बहुशो यतः ॥१७८॥ अस्ति केवलमेतावान् स्वास्थ्यहेतुर्यदेष मे । सूनुरस्मिन् विरागी च लक्ष्यते मुखरागतः ॥ १७९ ॥ इत्थं विचिन्त्य गाम्भीर्यान्नैव किञ्चिदुवाच सा । मध्याह्ने च तदा जाते सर्वे स्वं स्वं पदं ययुः ॥ १८० ॥ ततश्च मैत्री बालस्य स्पर्शनेन सहैधते । मनीषी तु न विश्रम्भं तस्य गच्छति सर्वथा ॥ १८१ ॥ स्पर्शनस्तु तयोः पार्श्वं बहिरन्तश्च नोज्झति । चिन्तयामास चान्येद्युर्मनीषी निजमानसे ॥ १८२ ॥ स्वरूपं तावदद्यापि स्पर्शनस्य न लक्ष्यते । हातुं वा संग्रहीतुं वा ततोऽयं नैव पार्यते ॥ १८३ ॥ मूलशुद्धिस्ततोऽमुष्य विधातुं मम युज्यते । तस्यां च सम्यग् जातायां करिष्यामि यथोचितम् ॥ १८४ ॥ एवं विचिन्त्य विजने समाहूयाङ्गरक्षकम् । बोधाभिधानं तन्मूलशुद्ध्यर्थं स समादिशत् ॥ १८५ ॥ अङ्गीकृत्य तदादेशमथ बोधोऽपि सत्वरम् । विविधाशेपविपयवेषभाषाविचक्षणम् ॥ १८६ ॥ स्वामिकार्ये बद्धकक्षमतिदक्षमलक्षितम् । तदर्थं स्वं प्रभावाख्यं पुरुषं प्राहिणोच्चरम् ॥ १८७ ॥ युग्मम् ॥ कियन्तमप्यथो कालं नानादेशेषु सोऽपि हि । परिभ्रम्यान्यदा बोधसमीपं समुपाययौ ॥ १८८ ॥ सत्कारमुचितं कृत्वा पृष्टो बोधेन सादरम् । स स्वरूपं कथयितुं प्रारेभे प्रणिधिस्ततः ॥ १८९ ॥ युष्मदादेशतस्तावदितो निर्गत्य सर्वतः । बहिरङ्गेषु देशेषु परिभ्रान्तोऽहमुद्यतः ॥ १९० ॥ प्रस्तुतार्थस्य गन्धोऽपि तेषु नासादितः

१ ततो दे० क० ख० ग० घ० । २ चरः ।

परम् । ततोऽहमन्तरङ्गेषु विषयेषु समाविशम् ॥ १९१ ॥ ददृशे तत्र चैकत्र भिल्लपल्लीनिभं मया । पुरं राजसचित्ताख्यमपायैकनिकेतनम् ॥ १९२ ॥ हेतुः पापप्रवृत्तीनां शक्राद्यैरपि दुर्जयः । तत्रातुलबलो राजा नामतो रागकेशरी ॥ १९३ ॥ लीलयोदूढनिःशेषराज्यभारो धियां निधिः । विषयाभिलाषनामा तस्यास्ति सचिवाग्रणीः ॥ १९४ ॥ ततस्तत्र पुरे यावदहं नृपगृहान्तिके । जगामोल्लसितोऽकस्मात्तावत्कोलाहलो महान् ॥ १९५ ॥ ततश्चामितमाहात्म्यलौल्यादिनृपतिश्रितैः । रथैरुपेतं मिथ्याभिनिवेशादिभिरुन्नतैः ॥ १९६ ॥ गर्जन्ममत्वमुख्येभमज्ञानाद्यश्वपूरितम् । चापलादिभटाकीर्णं कन्दर्प्पपटहारवम् ॥ १९७ ॥ विब्बोकादिध्वनत्तूर्यं विलासादिध्वजाकुलम् । रागकेशरिभूभर्तुरमितं निर्य्ययौ बलम् ॥ १९८ ॥ विशेषकम् । ततोऽचिन्ति मया मन्ये यियासुः[1] क्वाप्ययं नृपः । ततः किं कार्यमस्यैवं यावदस्मि वितर्कयुक् ॥ १९९ ॥ तावत्तस्यैव विषयाभिलाषस्यातिदारुणः । विपाको नाम नासीरे पुरुषो ददृशे मया ॥ २०० ॥ युग्मम् ॥ ततश्च स प्रियप्रश्नपूर्वं तस्य महीपतेः । प्रस्थानकारणं पृष्टो विपाको मामभाषत[2] ॥ २०१ ॥ आर्याकर्णय देवेन रागकेशरिणा पुरा । विषयाभिलाषनामाभिदधे सचिवो निजः ॥ २०२ ॥ यदुतार्य ! तथा किञ्चित् त्वं विधेहि यथा मम । विश्वं विश्वमिदं शश्वत् किङ्करत्वं प्रपद्यते ॥ २०३ ॥ आदाय तदमात्योऽथ शिरसा नृपशासनम् । स्वामिकार्यक्षमं भक्तियुक्तं लब्धजयध्वजम् ॥ २०४ ॥ निजमेव स्पर्शनादिगृहमानुषपञ्चकम् । प्राहिणोत् त्वरितं विश्ववशीकरणहेतवे ॥ २०५ ॥

१ अग्रिमसैन्ये । २ मम भाषते ख० ।

युग्मम् ॥ तेनाप्यनन्यसामान्यविक्रमेणाखिलं जगत् । लीलयैव[1] विनिर्जित्य कृतं देवस्य किङ्करम्[2] ॥ २०६ ॥ किन्तु सम्प्रति तस्येतिरिव सैस्यस्य[3] नाशकृत् । सन्तोषो नाम चरटः श्रूयते कश्चिदुत्थितः ॥ २०७ ॥ कृत्वा च तत्पराभूतिं[4] जनस्तेन कियानपि । निर्वाह्य देवागम्यायां निर्वृतौ प्रापितः पुरि ॥ २०८ ॥ एतदाप्तजनश्रुत्या श्रुत्वा देवो रुषारुणः । प्रस्थानभेरीं तस्याथोन्मूलनार्थमताडयत् ॥ २०९ ॥ अत्रान्तरे च संक्रुद्धं कल्पान्ततपनोपमम् । देवं निरीक्ष्य मन्त्रीशः शनकैरब्रवीदिति ॥ २१० ॥ कोऽयं देव ! तवायासः सन्तोषेऽस्मिस्तपस्विनि । मृगेन्द्रस्य मृगे किं स्यात् संरम्भः कुम्भिभेदिनः ॥ २११ ॥ देवोऽवादीदिदं सत्यं किन्त्वार्योद्वेजिता वयम् । कुर्वता तेन पापेन त्वन्मानुषपराभवम् ॥ २१२ ॥ अनुन्मूल्य ततो दुष्टमेनं मे न भवेद् रतिः । मन्त्र्यूचे स्तोकमेवेदं कार्यं मुञ्च ततः क्रुधम् ॥ २१३ ॥ प्रशान्तस्तद्गिरा मेघवृष्ट्येव दवपावकः । जज्ञे देवोऽथ चक्रे च निःशेषं गमनोचितम् ॥ २१४ ॥ ततः स्नेहजलापूर्णे प्रेमाबन्धाभिधे पुरः । न्यस्ते कुम्भे तथोद्घुष्टे केलिजल्पजयध्वनौ ॥ २१५ ॥ गीतेषु मङ्गलेषूच्चैश्चाटुवाक्याभिधेषु च । प्रकामं कामकलहातोद्येषु प्रहतेषु च ॥ २१६ ॥ अङ्गरागाभिरामाङ्गः स्वीकृताशेषभूषणः । मिथ्यावलेपमारोहद् रथं देवो महारथः[5] ॥ २१७ ॥ विशेषकम् ॥ देवोऽस्मार्षीत् तदा चैवमहो ! क्षूणम[6]भून्मम । अनापृच्छ्यैव यत्तातं प्रस्थितोऽस्मि द्विषद्वधे ॥ २१८ ॥ मयोक्तमस्य

---

१ लीलयेव ख० । २ किङ्करीक्रियतेऽखिलम् ग० । ३ शस्य० क० ख० ग० । ४ स्पर्शनादिपराभवम् । ५ दश हजार धनुर्धर साथे एकलो युद्ध करी शके तेवो योद्धो । ६ प्रमादः ।

कस्तातः? स प्रोचे मुग्धधीरसि। महामोहपितैतस्य ननु त्रैलोक्यविश्रुतः ॥ २१९ ॥ किञ्चैष प्रवया[1] राज्यं प्रददे निजसूनवे। रागकेशरिणेऽमुष्मै पालयित्वा जगच्चिरम् ॥ २२० ॥ तथापीदं जगत्सर्वं पार्श्वस्थोऽपि स्वशक्तितः। स एव पालयत्यन्यः को हि स्यादस्य पालकः ॥ २२१ ॥ तदेष निर्जिताशेषसुरासुरनरेश्वरः। महामोहनरेन्द्रस्ते कथं प्रष्टव्यतां गतः ॥ २२२ ॥ ततो मयोदितं सौम्य! न कार्यः प्रतिघस्त्वया[2]। अध्वनीनोऽस्मि वृत्तान्तस्यैतस्याविदुरो यतः ॥ २२३ ॥ मयापि च महामोहः सामान्येन श्रुतः पुरा। रागकेसरिराजेन्द्रजनकत्वेन नो पुनः ॥ २२४ ॥ वृत्तान्तमुत्तरमपि तत्त्वमाख्यातुमर्हसि। इत्युक्तः स मया वक्तुं पुनरेवं प्रचक्रमे ॥ २२५ ॥ कम्पमानजराजीर्णाविद्याङ्गलतिकाधरम्। लम्बमानतमःसंज्ञभ्रूयुगं बिभ्रतं तथा ॥ २२६ ॥ तृष्णाख्यवेदिकायां च विपर्यासाख्यविष्टरे। उपविष्टं महामोहं गत्वा देवोऽथ दृष्टवान् ॥ २२७ ॥ युग्मम् ॥ तदंह्री च नमस्कृत्य नि[3]विश्याऽऽसनि चोचिते। कृताञ्जलिः स ताताय प्रस्तुतार्थं व्यजिज्ञपत् ॥ २२८ ॥ तन्निशम्याब्रवीदेवं महामोहमहीपतिः। वत्स! जीर्णपटस्येव धा(भा)वो मे वर्त्ततेऽन्तिमः ॥ २२९ ॥ तत् पामनमयस्येव यन्मदङ्गस्य वाह्यते। तत्सारं तत्सति मयि प्रस्थानं युज्यते न ते ॥ २३० ॥ देवोऽवादीत् ततः शान्तं पापं हतममङ्गलम्। अनन्तकल्पावस्थायि देहं तातस्य जायताम् ॥ २३१ ॥ प्रस्थानं न च तातस्य मयि तिष्ठति युज्यते। तत्तात! प्रस्तुतार्थेऽस्मिन्ननुजानीत मां द्रुतम् ॥ २३२ ॥ वत्स! तावन्मयावश्यं गम्यं तव पुनः स्थितौ। अनुज्ञेत्यभि-

१ प्रकृष्टं वयो यस्य प्रवयाः—वृद्ध इत्यर्थः। २ कोपः। ३ निवेश्या० क० ख०।

धायाथ महामोहः समुत्थितः ॥ २३३ ॥ जनकस्याथ निर्बन्धं ज्ञात्वा देवोऽवदत्पुनः । यद्येवं तात ! तदहमपि तातपदानुगः ॥ २३४ ॥ भवत्वेवं न जात ! त्वां मोक्तुं वयमपीश्महे । इति वाचा स्वतातस्य देवोऽथ मुदितोऽभवत् ॥ २३५ ॥ तातामात्ययुतः सोऽथ रागकेशरिभूपतिः । कम्पयन्नखिलं लोकं समन्ताच्चलितैर्बलैः ॥ २३६ ॥ संतोषचरटोच्छित्त्यै प्रचचाल महाबलः । तदिदं पान्थ ! जानीहि नृपप्रस्थानकारणम् ॥ २३७ ॥ ॥ युग्मम् ॥ त्वां कुतूहलिनं वीक्ष्य मयैतच्च निवेदितम् । अग्रानीके नियुक्तस्यान्यथास्त्यवसरो न मे ॥ २३८ ॥ इत्याख्याय विपाकोऽथ जगाम विहितानतिः । दध्यौ चाहं तदा राजकार्य्यमेतावता कृतम् ॥ २३९ ॥ यतो विपयाभिलापगृहमानुपपञ्चकम् । विपाकेन यदाख्यातं तत्राद्यः स्पर्शनो ह्यसौ ॥ २४० ॥ मूलशुद्धिः स्पर्शनस्य ततो लब्धा स्फुटा मया । एतावदेव नवरं व्यभिचारीह वर्त्तते ॥ २४१ ॥ यदात्मनः पराभूतिः स्पर्शनेन सदागमात् । निवेदिता विपाकेन तस्य[2] सन्तोषतस्तु सा[3] ॥ २४२ ॥ सदागमानुगः कश्चिद् यद्वा सोऽपि भविष्यति । विचिन्त्येत्यागतोऽत्राहं प्रमाणं संप्रति प्रभुः ॥ २४३ ॥ बोधोऽथ तद्युतः सर्वं तद्गत्वाऽऽख्यन्मनीपिणे। तुंष्टचित्तेन तेनापि प्रभावः पूजितस्ततः ॥ २४४ ॥ पृष्टो मनीषिणान्येद्युः स्पर्शनो भद्र[1] ! किं तव । कुतः सदागमेनैव विरहो भवजन्तुना ॥ २४५ ॥ उताऽऽसीत्कश्चिदन्योऽपि सोऽप्यूचेऽन्योऽप्यभूत्परम् । कृतं तत्कथया तस्य नामतोऽपि बिभेमि यत् ॥ २४६ ॥ किञ्चासीदुपदेष्टैव भवजन्तोः सदागमः । पीडां चक्रे स तु

१ वत्स ! । २ स्पर्शनस्य । ३ पराभूतिः ।

क्रूरकर्मा मर्माविधं मम ॥ २४७ ॥ नामाप्याख्यातुमेतस्य युक्तं पापात्मनो न च। पापिनां हि कथा श्रेयः-प्रतिबन्धविधायिनी ॥ २४८ ॥ कुमारः प्राह तन्नामश्रवणे कौतुकं मम। न चासन्निकटस्थेन कर्त्तव्यं तद्भयं त्वया ॥ २४९ ॥ नामग्रहणमात्रेण पापं किञ्चिद् भवेन्न च। नहि पावक इत्युक्ते दाहः संपद्यते क्वचित् ॥ २५० ॥ तन्निर्बन्धं ततो ज्ञात्वा स्पर्शनोऽथाब्रवीदिति। नाम दुर्नामकस्यास्य तर्हि संतोष इत्यहो! ॥ २५१ ॥ दध्या-वथ कुमारोऽपि सम्यगासादिता ध्रुवम्। प्रभावेन स्पर्शनस्य मूलशुद्धिः सुबुद्धिना ॥ २५२ ॥ यतः संतोष-वृत्तान्त एवैकोऽघटमानकः। तत्रासीदधुना सोऽपि घटितः स्पर्शनोक्तितः ॥ २५३ ॥ मयापि तर्कितं पूर्वं सम्यग् यन्नैष सुन्दरः। विषयाभिलाषादेशादसौ हि जनवञ्चकः ॥ २५४ ॥ तथापि बाह्यभावेन मया मित्रतयादृतः। तस्मादकस्मादेवासौ विहातुं युज्यते न मे ॥ २५५ ॥ किन्त्विदानीमविश्वस्तेनास्य भाव्यं विशेषतः। प्रस्तावे पुनरायाते त्याज्योऽयं सर्वथा मया ॥ २५६ ॥ ध्यात्वेति पूर्वस्थित्यैव मनीषी विलसत्यथ। सार्द्धं स्पर्शनबालाभ्यां कासारोपवनादिषु ॥२५७॥ अन्येद्युः स्पर्शनोऽवोचदिति बालमनीषिणौ।[1] किं सारं? किं च वाञ्छन्ति विश्वे विश्वेऽपि जन्तवः ॥ २५८ ॥ बालेन सुखमित्युक्ते स्पर्शनः पुनरब्रवीत्। तदेव सेव्यते किं न सर्वदा सर्वदेहिभिः ॥ २५९ ॥ कस्तस्य सेवनोपायः? इति बालोदितः पुनः। अहमेवेति साक्षेपं स्पर्शनः समभाषत ॥ २६० ॥ बालेन कथमित्युक्तः स्पर्शनः पुनरभ्यधात्। समस्ति योगशक्तिर्मे जनाश्चर्यविधायिनी ॥ २६१ ॥ लीये त्वचि

१ मनीषी। २ ०वैनं वि० ख०।

तया चाहं प्रविश्याङ्गं शरीरिणाम्। कोमलस्पर्शसम्बन्धं कुर्वन्ति यदि ते ततः ॥ २६२ ॥ ततो निरुपमं शर्म्म लभन्ते ते न संशयः। तन्निशम्याह बालोऽपि भवता वञ्चिता वयम् ॥ २६३ ॥ इयत्कालं यतो मित्र ! त्वयैतत् कथितं न नौ। तदावयोः स्वशक्तिं तामधुनापि प्रदर्शय ॥ २६४ ॥ ततः किं क्रियतामेतदित्यभिप्रायतोऽमुना। निरीक्षितं मुखाम्भोजं स्पर्शनेन मनीषिणः ॥ २६५ ॥ किं करोत्येष पश्यामीति धियाऽऽह मनीष्यपि। वयस्य ! क्रियतां बालजल्पितं किमसुन्दरम् ? ॥ २६६ ॥ स्पर्शनोऽप्यथ हृष्टात्मा कृतध्यानादिनाटनः। कुमारयोः प्रविश्याङ्गं त्वचि लीनोऽभवत् क्षणात् ॥ २६७ ॥ बालो जातमृदुस्पर्शस्पृहोऽथ स्पर्शनप्रियम्। सेवते सर्वदा गृद्धो मृदुस्त्रीवसनादिकम् ॥ २६८ ॥ दुःखकारणमप्येतद्विपर्यासवशाच्च सः। पामाकण्डूयनमिव मन्यते सुखमद्भुतम् ॥ २६९ ॥ मनीषी तु समुत्पन्नमृदुस्पर्शस्पृहोऽपि हि। नैव तत्तदसेविष्ट तत्त्वज्ञः स्पर्शनप्रियम् ॥ २७० ॥ कालं कियन्तमप्येषोऽनुवर्त्योऽस्ति मया खलु। इति बुद्ध्या कदाप्येतद्यद्यप्येष निषेवते ॥ २७१ ॥ लौल्याभावात् तथाप्यस्य सन्तोषसुखशालिनः। उल्लाघस्येव पथ्यान्नं कुरुते सुखमेव तत् ॥ २७२ ॥ अन्यदा प्रकटीभूय स्पर्शनो बालमालपत्। मदीयस्य श्रमस्यास्ति मित्र ! किञ्चित् फलं न वा ? ॥ २७३ ॥ बालेन बाढमस्तीति गदिते मुदितात्मना। जातो मम विधेयोऽयं दध्याविति स दुर्म्मतिः ॥ २७४ ॥ तेनागत्य तथैवाथ प्रोक्तः प्रोचे मनीष्यपि। योगशक्तेरचिन्त्यायास्तव मित्र ! किमुच्यते ॥ २७५ ॥ साकूतं तद्वचः श्रुत्वा स्पर्शनेनाथ

१ योगशक्त्या। २ ०प्यथोऽनु० ग० घ०। ३ रोगमुक्तस्य। ४ आधीनः।

चिन्तितम् । [1]वेष्टः खल्वेष मादृक्षै रज्यते न हि सर्वथा ॥ २७६ ॥ लक्षितश्चाहमेतेन ततो बहु [2]विकत्थनम् । युक्तं नात्रेति सञ्चिन्त्य स्पर्शनो मौनमाश्रयत् ॥ २७७ ॥ तं च स्पर्शनवृत्तान्तं सुखोत्पादनलक्षणम् । स्वमातुः कथयामास हृष्टो बालः परेद्यवि ॥ २७८ ॥ अथाऽकुशलमालाह मयाऽऽदावेव शंसितम् । स्पर्शनेन सहानेन संयोगस्तव सुन्दरः ॥ २७९ ॥ किञ्चेदृशी ममाप्यस्ति योगशक्तिर्गरीयसी । वत्सस्य दर्शयिष्यामि ततोऽहमपि कौतुकम् ॥ २८० ॥ बालेनोचे तर्हि दृश्यं बह्वस्त्यम्बाप्रसादतः । सोचे कथ्यं ततो योगशक्तिस्ते दर्श्यते यदा ॥ ॥ २८१ ॥ इतश्च शुभसुन्दर्या मनीषी स्पर्शनस्य तम् । वृत्तान्तं कथयामास ततः साप्येवमभ्यधात् ॥ २८२ ॥ वत्स ! योगस्तवानेन पापमित्रेण नो शुभः । यदेष कारणं दुःखपद्धतेः परमं मतम् ॥ २८३ ॥ मनीषी प्राह नैवात्र विधेयं भयमम्बया । लक्षितोऽयं मया नाहमस्य वञ्चनगोचरः ॥ २८४ ॥ केवलं त्यागकालोऽस्य मयाम्ब ! प्रतिपाल्यते । प्रतिपन्नः सदोषोऽपि नाकाण्डे त्यागमर्हति ॥ २८५ ॥ शुभसुन्दर्यथोवाच साधु जात ! त्वया कृतम् । अहो ! ते नीतिवेदित्वमहो ! ते दीर्घदर्शिता ॥ २८६ ॥ देवीभ्या[3]मथ वृत्तान्तं तमाकर्ण्य नृपोऽपि हि । चित्ते मनीषिणस्तुष्टो रुष्टो बालस्य तूच्चकैः ॥ २८७ ॥ दिने दिनेऽथ बालोऽपि नितान्तं स्पर्शने रतः । अङ्गीकृतपशुधर्मः कृत्याकृत्याविवेचकः ॥ २८८ ॥ देवतागुर्ववन्दारुः कलाभ्यासपराङ्मुखः । वि[4]गाना-भीरुकस्त्यक्तलज्जो जज्ञे निरर्गलः ॥ २८९ ॥ युग्मम् ॥ तादृशं तं च संवीक्ष्य मनीषी भ्रातृमोहतः । बहुधा

१ दुष्टः ख०, नेष्टः ग० । २ स्वोत्कर्षम् । ३ ०मपि वृ० क० घ० । ४ लोकनिन्दानिर्भीकः ।

शिक्षयामास स्पर्शनत्यागहेतवे ॥ २९० ॥ तेनात्यन्तं शिक्षितोऽपि वोढं व्यामूढमानसः। द्यूतकार इव द्यूतं तत्याज स्पर्शनं न सः ॥ २९१ ॥ तं शिक्षानुचितं ज्ञात्वा तूष्णीकोऽभून्मनीष्यथ । कालदष्टे हि किं कुर्याद् वलवानपि मान्त्रिकः ॥ २९२ ॥ इतः सामान्यरूपाख्याऽपरा देव्यस्य भूपतेः । अस्ति मध्यमबुद्धिस्तु सुतस्तस्याः प्रशस्तधीः ॥ २९३ ॥ गतश्चासीन्नृपादेशाद् देशान्तरमथागतः । स्पर्शनेन सहाद्राक्षीदेष वालमनीषिणौ ॥ २९४ ॥ पृष्टः स्पर्शनवृत्तान्तं वालस्तस्मै न्यवेदयत् । योगशक्तिं स्पर्शनश्च वालप्रोक्तो ददर्श यत् ॥ २९५ ॥ स्पर्शनस्य विधेयोऽभूदेषोऽपि सुखलालसः । वञ्चनाचञ्चुभिः पुम्भिः को न वा विप्रतार्यते ॥ २९६ ॥ अन्यदा स्पर्शनत्यागकृते स्नेहान्मनीषिणा । शिक्षितस्तत्कथाख्यानाद् दध्यौ मध्यमबुद्धिकः ॥ २९७ ॥ स्वसंवेद्यमिदं तावन्मम स्पर्शनजं सुखम् । असावपि च नो मिथ्या मनीषी जातु भाषते ॥२९८॥ तत्किं कार्यं मया यद्वा गत्वा पृच्छामि मातरम् । ध्यात्वेति गत्वा सोऽम्बायास्तं वृत्तान्तमचीकथत् ॥ २९९ ॥ अम्बाप्यूचेऽधुना तावद्युक्ता मध्यस्थतैव ते । कालान्तरे पुनः पक्षः श्रयणीयो वलाधिकः ॥ ३०० ॥ संशयापन्नचित्तेन भिन्ने कार्यद्वये यतः । कार्यः कालविलम्बोऽत्र दृष्टान्तो मिथुनद्वयम् ॥ ३०१ ॥ तथाहि—पुरे तथाविधाख्येऽभूदृजुर्नाम महीपतिः । प्रगुणाऽस्य प्रिया पुत्रो मुग्धाख्यः स्मरसुन्दरः ॥ ३०२ ॥ तस्य चाभूदकुटिला वल्लभा रतिसन्निभा । याति प्रीतिमतोः कालो मुग्धाकुटिलयोस्तयोः ॥ ३०३ ॥ वसन्तसमयेऽन्येद्युः स मुग्धः प्रेयसीयुतः ।

---

१ वाढत्या० ख० । २ सुगुणा ग० ।

रन्तुं पुष्पद्रुमाकीर्णे भवनोपवने ययौ ॥ ३०४ ॥ कस्तूर्णमेति पुष्पाणां भृत्वा कनकसूर्पिकाम् । इत्युक्त्वा क्रीडया यातौ तौ कुञ्जेऽथ पृथक् पृथक् ॥ ३०५ ॥ कालज्ञविचक्षणाख्यौ[1] तदा व्यन्तरदम्पती । पश्यतः स्माम्बरे यान्तौ मिथुनं तत्तथास्थितम् ॥ ३०६ ॥ दुर्निवारतयाक्षाणां रागस्तीव्रोऽभवत्ततः । व्यन्तरस्याकुटिलायां व्यन्तर्यास्तु नृपात्मजे ॥ ३०७ ॥ किलैनां वञ्चयामीति बुद्ध्या प्रोचे विचक्षणाम् । कालज्ञः सोऽथ यद्देवि ! गच्छ तावत् त्वमग्रतः ॥ ३०८ ॥ देवार्चनकृते भूपभवनोपवनादितः । आदाय यावदायामि कुसुमानि कियन्त्यपि ॥ ३०९ ॥ तस्यां स्थितायां मौनेन मुग्धलीनमनस्तया । सोऽम्बरादवतीर्यागात्कुञ्जं मुग्धवधूश्रितम् ॥ ३१० ॥ विभङ्गज्ञानविज्ञाततद्दूरीभावकारणः । मुग्धरूपधरः पुष्पपूर्णां स स्वर्णसूर्पिकाम् ॥ ३११ ॥ निर्वर्त्याकुटिलाभ्यर्णमागत्यैनां[2]तामवोचत । प्रिये ! जिता जितासीति विलक्षा साप्यभूत्ततः ॥ ३१२ ॥ युग्मम् ॥ अलं प्रिये ! विषादेनेत्युक्त्वा रन्तुमनाः स च । व्यन्तरव्यंसकोऽनैषीत् तामन्तःकदलीगृहम् ॥ ३१३ ॥ इतस्तथैव विज्ञाततच्चरित्रा विचक्षणा । सुभगं मानयाम्येनमिति चिन्ताभरातुरा ॥ ३१४ ॥ विधायाकुटिलारूपं भृत्वा कनकसूर्पिकाम् । आर्यपुत्र ! जितोऽसीति वदन्ती मुग्धमासदत् ॥ ३१५ ॥ युग्मम् ॥ मुग्धः प्राह प्रिये ! सुष्ठु जितोऽस्मि क्रियतां किमु ? । सावोचद् यदहं वच्मि मुग्धः प्रोवाच किं नु[3] तत् ? ॥ ३१६ ॥ विचक्षणावदद् यावः परस्मिन्कदलीगृहे । मानयावो विशेषेण रम्यामुपवनश्रियम् ॥ ३१७ ॥ मुग्धेन प्रतिपन्ने तौ तदेव कदलीगृहम् । जग्मतुर्मिथुनं

१ ०ख्ये तदा ग० । २ ०नाम० ग० । ३ च तत् ग० ।

तच्च पूर्वायातमपश्यताम् ॥ ३१८ ॥ अथेक्षितं विस्मिताभ्यां मिथुनाभ्यां परस्परम् । दृष्टः स्वेतरयोर्भेदस्तिलमात्रोऽपि नो पुनः ॥ ३१९ ॥ मुग्धोऽथ चिन्तयामास वनदेवीप्रसादतः । मन्येऽहं द्विगुणो जज्ञे दयितेयं तथा मम ॥ ३२० ॥ ताताय तदिदं ज्ञाप्यं महाभ्युदयकारणम् । ध्यात्वेति स समाचख्याविति रेषां निजाशयम् ॥ ३२१ ॥ चत्वार्यपि महीभर्तुरास्थानमगमंस्ततः । तान्यालोक्य ऋजुर्देवी परिवारश्च विस्मितः ॥ ३२२ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽथ सादरं मेदिनीभुजा । वनदेवीप्रसादोऽयमिति मुग्धो न्यवेदयत् ॥ ३२३ ॥ ऋजुराह कथं वत्स ! सोऽप्याचख्यौ यथास्थितम् । श्रुत्वेति नृपतिर्दध्यावहो ! मे धन्यता परा ॥ ३२४ ॥ अहो ! मे देवतातुष्टिस्ततो हर्षातिरेकतः । स पुरे परितस्तत्र महोत्सवमकारयत् ॥ ३२५ ॥ द्विगुणत्वाभिमानेन कुमाराकुटिले अपि । अभूतां प्रमदोदञ्चदुच्चरोमाञ्चकञ्चुके ॥ ३२६ ॥ केलिप्रियतया हृष्टः कालज्ञोऽपि बभूव सः । द्वितीया वनिता केयमिति किन्तु व्यचिन्तयत् ॥ ३२७ ॥ विभङ्गज्ञानविज्ञातस्वकान्ताचेष्टितस्ततः । स दध्यौ पुनरप्येवं रुषा परुषिताशयः ॥ ३२८ ॥ मारयामि दुराचारं किममुं राजदारकम् । अमरत्वेन नाकाले निहन्तुं शक्यते त्वियम् ॥३२९॥ यद्वा ध्यानं न चार्वेतन्निहतेऽत्र यतो ध्रुवम् । मेदज्ञाऽकुटिला नैव मामेषाऽभिलषिष्यति ॥३३०॥ प्रियापि न मया वक्तुं शक्या किमपि सागसा[1] । आदायान्यत्र गच्छामि तत्किं मुग्धवधूमिमाम् ? ॥ ३३१ ॥ एतदप्यत्र नो युक्तमकाण्डगमनाद् यतः । मेदज्ञा भाविनी नेयं मम नापि विचक्षणा ॥ ३३२ ॥ ततः कालविलम्बो-

१ सपापेन ।

ऽत्र विधातुं युज्यते मम । ध्यात्वेति तस्थौ मौनेन व्यन्तरस्त्यक्तकोपधीः ॥ ३३३ ॥ व्यन्तर्यपि तथारूपज्ञातस्वप्रियचेष्टिता । सत्रपा विविधानूहान् कृत्वा तस्थौ यथास्थितिः ॥ ३३४ ॥ कुर्वतोर्मर्त्यकृत्यानि कुमाराकुटिलाजुषोः । तयोर्व्यन्तरदम्पत्योर्ययौ कालः कियानपि ॥ ३३५ ॥ अथ तत्र पुरे मोहविलयाभिधकानने । प्रतिबोधकनामाऽऽगाद् गुरुर्गुरुगुणान्वितः ॥३३६॥ तदागममथाकर्ण्य प्रमनाः पृथिवीपतिः । ससुतादिपरीवारः प्रययौ तं विवन्दिषुः ॥ ३३७ ॥ स्वर्णाम्भोजसमासीनं नरामरनिषेवितम् । मुनिनाथं महीनाथस्तं ववन्देऽथ भक्तिभाक् ॥३३८॥ यथास्थानं निषण्णेषु निखिलेषु जनेष्वथ । सूरिणा विदधे धर्म्मदेशना मोहनाशिनी ॥ ३३९ ॥ अथाचार्यवचोवात्या विधूते मोहदुर्दिने । मनोव्योम्नि व्यन्तरयोर्दर्शनांशुरुदीप्यत ॥ ३४० ॥ अत्रान्तरे तदङ्गाभ्यां रक्तकृष्णाणुनिर्मिता । बीभत्सा भीषणा निन्द्या नार्येका निर्ययौ बहिः ॥ ३४१ ॥ प्रतापमसहा सोढुं निशेवाचार्यभास्वतः । निर्गत्य पर्षदः सा च तस्थौ दूरे पराङ्मुखी ॥ ३४२ ॥ पश्चात्तापानलालीढौ सबाष्पौ व्यन्तरावथ । निजवृत्तं यथावृत्तं नत्वाख्यातां मुनीशितुः ॥३४३॥ ऊचतुश्च कथं नाथ ! तदस्मात्पापपङ्कतः । आवयोर्निर्गमो भावी निःस्थामगवयोरिव ॥ ३४४ ॥ भगवानाह भद्राभ्यां खेदः कार्यो न मानसे । न दोषो भवतोः शुद्धं स्वरूपं युवयोर्यतः ॥ ३४५ ॥ किन्तु युष्मच्छरीराभ्यां येयं स्त्री निर्ग्गताधुना । दोषः खल्वयमेतस्याः पापाया विशदाशयौ ! ॥३४६॥ केयं कथं वा दोषाणां कारणं करुणानिधे ! । इति स प्रश्नितस्ताभ्यां भगवानवदत्पुनः ॥ ३४७ ॥ महा-

१ अन्यदाऽस्मत्पुरे क० ख० घ०, अन्यदाऽस्मिन् पुरे ग० । २ ०नाशनी ता० ग० । ३ ०तप्यत ग० ।

भागौ ! महापापा भोगतृष्णेयमुच्यते । ऐहिकामुष्मिकानर्थश्वापदैकमहाटवी ॥ ३४८ ॥ इयं चात्यन्तदुर्लङ्घ्या विद्यते यावदन्तरा । तावज्जीवाध्वनीनानां कुतो मुक्तिपुरीगतिः ? ॥ ३४९ ॥ इह स्थातुमशक्ता च स्थिता सम्प्रति दूरतः । इयं भवन्तौ मत्पार्श्वात् निर्गच्छन्तौ प्रतीक्षते ॥ ३५० ॥ आवयोर्मुक्तिरेतस्याः कथं नाथ ! भविष्यति । इति पृष्टः पुनस्ताभ्यां भगवानभ्यधादिति ॥ ३५१ ॥ सर्वथेह भवे नेयं युवाभ्यां त्यक्तुमीश्यते । भवद्भ्यां किन्तु सम्यक्त्वं प्राप्तमस्याः क्षयक्षमम् ॥ ३५२ ॥ तत्प्रभावाद् बाधिकेयं भाविनीह भवेऽपि न । भावी भवान्तरे त्वस्या विनाशोऽपि हि सर्वथा ॥ ३५३ ॥ तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं मुदितौ देवदम्पती । महाप्रसाद इत्युक्त्वा पतितौ तस्य पादयोः ॥ ३५४ ॥ दृष्ट्वा तमथ वृत्तान्तं श्रुत्वा च भगवद्वचः । संवेगं परमं प्रापुर्नृपराज्ञीसुतस्नुषाः ॥३५५॥ यथावृत्तावबोधेन त्रपानुशयवन्ति च । निनिन्दुर्दुष्कृतं स्वं स्वं चित्ते तानि मुहुर्मुहुः ॥ ३५६ ॥ अत्रान्तरे तदङ्गेभ्यो निर्गतैः परमाणुभिः । घटितं विशदं [1]दीप्रं लोचनाह्लाददायकम् ॥ ३५७ ॥ रक्षितानि मया रक्षितानि यूयमिति ब्रुवन् । डिम्भरूपं सप्रमोदं तस्थौ भगवतः पुरः ॥ ३५८ ॥ युग्मम् ॥ अथान्यदसितं निन्द्यं तदन्वेव विनिर्ययौ । तस्मात् तु निरगात् कृष्णं तृतीयमपि भीषणम् ॥ ३५९ ॥ प्रवर्द्धमानं तच्चाथ धूमज्वालावदुच्चकैः । मुष्टिनाहत्य शिरसि प्रकृत्याद्येन धारितम् ॥ ३६० ॥ श्यामवर्णं डिम्भयुग्मं विनिर्गत्याथ पर्षदः । पराङ्मुखं स्थितं दूरे जनयज्जनकौतुकम् ॥३६१॥ भगवानथ राजादीन्यूचे [2]ज्ञात्वा तदाशयम् । भवद्भिर्न हि भद्राणि खेदः कार्यो मनागपि ॥३६२॥

---

१ दीप्तं लो० ग० । २ ज्ञाततदाशयः ग० ।

यतो न दोषो युष्माकमेष दोषोऽस्य केवलम् । कृष्णस्य डिम्भरूपस्य शुक्लानन्तरजन्मनः ॥ ३६३ ॥ अथ तान्यूचिरे नाथ ! किमेतदितरे च के । कथं वाऽद्यैनैधमानं तृतीयं विनिवारितम् ॥ ३६४ ॥ वाचंयमवरोऽवोचदज्ञानमिदमुच्यते । येनालीढा जना नैव कृत्याकृत्यं विजानते ॥ ३६५ ॥ डिम्भरूपं द्वितीयं तु कृष्णं पापं निगद्यते । अज्ञानाज्जायते तच्च प्रत्यक्षं भवतामदः ॥ ३६६ ॥ आदिमं डिम्भरूपं तु क्षीरडिण्डीरसोदरम् । शुद्धाशयकरं श्रेष्ठमिदमार्जवमुच्यते ॥ ३६७ ॥ अत एवामुना पापं वर्द्धमानमनर्थकृत् । मुष्टिनाहत्य शिरसि स्वरूपेणैव धारितम् ॥ ३६८ ॥ किञ्चैतदार्जवं येषां धन्यानां वर्त्तते हृदि । अज्ञानादाचरन्तोऽपि ते पापं स्वल्पपापकाः ॥ ३६९ ॥ तदेवंविधभावानां भद्राणां बुद्ध्यतेऽधुना । अज्ञानपापे निर्द्धूय सम्यग्धर्म्मनिषेवणम् ॥ ३७० ॥ ततो भागवतं वाक्यं श्रुत्वेदममृतोपमम् । संसारवासात् तैः सर्वैः स्वं स्वं चित्तं निवर्त्तितम् ॥ ३७१ ॥ नरेन्द्रोऽथ गुरोः पार्श्वे देवीमुग्धस्नुषायुतः । शुभाचाराभिधं सूनुं राज्ये न्यस्याददे व्रतम् ॥ ३७२ ॥ डिम्भरूपे ततः कृष्णवर्णे तूर्णं पलायिते । शुक्लडिम्भं पुनस्तेषां प्रविष्टं तनुषु क्षणात् ॥ ३७३ ॥ कुर्वाणावृजुराजादिप्रशंसां व्यन्तरावपि । भगवन्तं नमस्कृत्य हृष्टौ स्वं स्थानमीयतुः ॥ ३७४ ॥ विवेश भोगतृष्णापि शरीरे गच्छतोस्तयोः । शुद्धसम्यक्त्वमाहात्म्यात् केवलं सा न बाधिका ॥ ३७५ ॥ विचक्षणाऽऽह कालज्ञमन्यदा रहसि स्थिता । आर्यपुत्र ! यदा दृष्टा त्वयाऽहं कृतवञ्चना ॥ ३७६ ॥ तदा किं चिन्तितं ? सोऽपि स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् । विचक्षणाऽऽह सत्यस्त्वं कालज्ञ इति गीयसे ॥ ३७७ ॥ युग्मम् ॥ तेनापि पृष्टा सोवाच पर्यालोचं तदातनम् । कालज्ञः प्राह सत्येव

त्वमप्यत्र विचक्षणा ॥३७८॥ ततः प्रीतिसमायुक्तौ शुद्धसम्यक्त्वलाभतः। कृतार्थौ तौ निजं कालं निन्यतुर्देवदम्पती ॥ ३७९ ॥ तदिदं ते मया पुत्र ! कथितं मिथुनद्वयम्। सन्दिग्धेऽर्थे विलम्बेन कालस्य गुणभाजनम् ॥ ३८० ॥ कालक्षेपस्ततः कर्तुं तत्रापि सुत ! युज्यते। इति मातृवचः श्रुत्वा मध्यमोऽथ तथाऽकरोत् ॥ ३८१ ॥ इतश्च दर्शयात्मीयं मातर्योगबलं मम। बालेनेत्युक्ताऽकुशलमालाऽविक्षत् तदङ्गके ॥ ३८२ ॥ ततः स्पर्शनमातृभ्यां[1] भृशमाश्रितविग्रहः। अन्त्यजामपि नो नारीं स मुञ्चति नराधमः ॥ ३८३ ॥ ततो लोकैर्निन्द्यमानं मोहान्धीभूतमानसम्। मध्यमो भ्रातृमोहेन बहुधा तमशिक्षयत् ॥ ३८४ ॥ बालः प्राह ध्रुवं भ्रातर्विप्रलब्धो मनीषिणा। स्वर्गे विवर्त्तमानं मां नेक्षसे कथमन्यथा ? ॥ ३८५ ॥ ये मूढा जातिदोषेण कोमलं ललनादिकम्। नेच्छन्ति ते महारत्नं मुञ्चन्ति स्थानदोषतः ॥ ३८६ ॥ ततस्तत्रात्मनो वाचं मेघवृष्टिमिवोषरे। विज्ञाय विफलां मौनं भेजे मध्यमबुद्धिकः ॥ ३८७ ॥ एवं च तिष्ठतां तेषां बालमध्यमनीषिणाम्। अथान्यदा समायातो वसन्तः कृतमन्मथः ॥ ३८८ ॥ ततोऽनङ्गत्रयोदश्यां सार्द्धं मध्यमबुद्धिना। बालो लीलाधरं नाम मित्राम्बायुग् ययौ वनम् ॥ ३८९ ॥ तत्रोत्तुङ्गमनोहारिप्रासादान्तःप्रतिष्ठितः। पूजयित्वा नतस्तेन देवो मकरकेतनः ॥ ३९० ॥ अथ प्रदक्षिणां तस्य ददानो देवसद्मनः। पश्यन्ननङ्गपूजार्थमङ्गनागणमागतम् ॥३९१॥ बालो ददर्श पार्श्वस्थे गुप्तस्थाने व्यवस्थितम्। तस्यैव रतिनाथस्य सुन्दरं वासमन्दिरम् ॥ ३९२ ॥ युग्मम् ॥ कुतूहलवशेनाऽथ द्वारि संस्थाप्य मध्यमम्। स

१ स्पर्शनाऽकुशलमालासहितः।

तदन्तर्गतोऽपश्यन्महाशय्यां मनोभुवः ॥ ३९३ ॥ रतियुक्तेन कामेन क्रान्तमध्यां सुकोमलाम् । तां च मन्दप्रका-शत्वादसौ पस्पर्श पाणिना ॥ ३९४ ॥ तस्याः संस्पर्शलोलोऽथ स्पर्शनाम्बाविडम्बनात् । अविमृश्यायतिं बालस्तस्यां शेते स मूढधीः ॥ ३९५ ॥ अहो ! सुखमहो ! स्पर्श इति संचिन्तयन्नयम् । चकार तत्र शय्यायां मुहुर्विपरिवर्त्तनम् ॥ ३९६ ॥ इतश्च नगरे तत्र बहिरङ्गो नृपोऽपरः । शत्रुमर्दननामाऽस्ति पृथिवीतलविश्रुतः ॥ ॥ ३९७ ॥ तस्याग्रमहिषी चारुरूपा मदनकन्दली । तत्र मन्मथपूजार्थमाययौ सपरिच्छदा ॥ ३९८ ॥ गर्भा-गारस्थितं साऽथ पूजयित्वा रतिप्रियम् । आगाद्वासगृहे तत्र तं शय्यास्थितमर्चितुम् ॥ ३९९ ॥ तत्र मन्दप्रकाश-त्वात्कामभ्रान्त्याऽथ बालकम् । चन्दनादिभिरभ्यर्च्य निजावासं जगाम सा ॥४००॥ बालः कोमलहस्ताब्जस्पर्शं तस्या मृगीदृशः । अनुभूयाथ संजातकामावेशो व्यचिन्तयत् ॥ ४०१ ॥ विश्वसारो न जात्वीदृक् स्पर्शः प्राप्तो मया पुरा । तदियं हा ! कुरङ्गाक्षी कथं संपत्स्यते मम ॥ ४०२ ॥ इति संचिन्तयंस्तस्यां शय्यायां स मुहुर्लुठन् । आससाद रतिं नैव तप्ताश्मक्षिप्तमीनवत् ॥४०३॥ कथं बालो विनिर्याति नाद्यापीति विचिन्तयन् । मध्यो मध्य-गतोऽद्राक्षीदथ बालं तथास्थितम् ॥ ४०४ ॥ ततः स चिन्तयामास विवेककलिताशयः । हहा ! बालेन किमि-दमकार्यं कुधिया कृतम् ॥ ४०५ ॥ सुखदापि हि नो देवशय्यासंभोगमर्हति । किन्त्वेषा वन्दनीयैव गुरुपत्नीव सर्वदा ॥ ४०६ ॥ विचिन्त्येत्यमुना बालो बहुधा बोधितोऽपि हि । नैवोत्तरं ददाति स शय्यासंस्पर्शलालसः ॥

१ वाररूपा क० ख० । २ मध्यङ्गतो क० ख० घ० ।

॥ ४०७ ॥ अत्रान्तरे च तद्देवकुलाधिष्ठायकः सुरः । तत्रायातः क्रुधा बद्ध्वा तं बालं बहिरक्षिपत् ॥ ४०८ ॥ कुर्वन् हाहारवं दीनो मध्यस्तदनु निर्ययौ । किं किं किमिति जल्पाको विश्वक् लोकोऽप्यधावत ॥ ४०९ ॥ किमेतदिति पप्रच्छ मध्यमं संभ्रमाज्जनः । लज्जया स पुनर्नैव किञ्चिदप्युत्तरं ददौ ॥ ४१० ॥ अवतीर्य नरं कञ्चिद् व्यन्तरोऽथ रुषारुणः । बालदुर्नयमाख्याय लोकानामब्रवीदिति ॥ ४११ ॥ भो ! लोकाः ! पश्यतामेव भवतां तदयं कुधीः । निहन्तव्यो मयेदानीं दण्डसाध्या ह्यमूदृशाः ॥ ४१२ ॥ इत्युक्त्वा स तथा यावत्कुरुते तावदब्रवीत् । भ्रातृमोहान्मध्यमस्तं कृपया च जनोऽपरः ॥ ४१३ ॥ प्रसीद मुच्यतां स्वामिन्नेकवारं तपस्व्यसौ । ततस्तत्कृपया बालं जीवन्तं व्यन्तरोऽमुचत् ॥ ४१४ ॥ आक्रुश्यमानो लोकेन वधबन्धार्दितस्ततः । कृच्छ्रेण स्वगृहं नीतो बालो मध्यमबुद्धिना ॥ ४१५ ॥ दध्यौ कर्मविलासोऽथ ज्ञात्वा वृत्तमिदं जनात् । कियदेतन्मयि वामे भावि बालस्य बह्वपि ॥ ४१६ ॥ इतो देहव्यथां पृष्टो बालो मध्यममभ्यधात् । न कापि मम देहार्त्तिर्मनोऽर्त्तिः किन्तु बाधते ॥ ४१७ ॥ किन्निमित्ता ह्यसौ भ्रातरिति मध्येन भाषितः । कामस्य वामशीलत्वादेवं भूयोऽप्यदोऽवदत् ॥ ४१८ ॥ न वेद्मि किन्तु कन्दर्पवासौकोद्वारि तिष्ठता । किं निर्यान्ती विशन्ती वा कापि स्त्री ददृशे त्वया ? ॥ ४१९ ॥ दृष्टेति मध्यमेनोक्ते बालः पुनरभाषत । तत्किं केयमिति भ्रातर्भवता लक्षिता न वा ? ॥ ४२० ॥ सुष्ठु संलक्षिता सा हि देवी मदनकन्दली । शत्रुमर्दनभूभर्तुरिति मध्योऽवदत्ततः ॥ ४२१ ॥ तदाकर्ण्य कथं सा

१ ०वं भू० क० ख० घ० ।

स्यान्मादृशामिति चिन्तया । दीर्घदीर्घतरानुष्णान्निःश्वासान्बालकोऽमुचत् ॥ ४२२ ॥ तदर्थी खल्वयमिति ज्ञात्वा मध्यमधीरथ । अचिन्तयदिति स्थाने तावदस्यानुरागिता ॥ ४२३ ॥ जनयत्येव सा दृष्टा यतो मदनकन्दली । सौन्दर्यातिशयेनोच्चैरभिलाषं स्वगोचरम् ॥ ४२४ ॥ द्वारस्य संकटत्वेन तस्याः स्पर्शो मयापि च । कामवासगृहद्वारस्थितेनासादितो यदा ॥ ४२५ ॥ कामात्तदा ममाप्यासीत् मनाग्दोलायितं मनः । परस्त्रीगमनं युक्तं कुलीनानां तथापि न ॥ ४२६ ॥ ततो निवारयाम्येनं बालमस्माद् दुराशयात् । ध्यात्वेति मध्यमोऽवादीदिति तं मृदुभाषया ॥४२७॥ दुराशयममुं मुञ्च भ्रातर्नीतौ मनः कुरु । यदनीतिफलं दृष्टं सद्योऽपि भवता स्मरात् ॥४२८॥ मोचितोऽसि मया कृच्छ्रात् तन्निवर्त्तस्व दुर्नयात् । तक्षकाहिशिरोरत्नकल्पा सा हि नृपप्रिया ॥ ४२९ ॥ लक्षितोऽहमनेनेति ज्ञात्वोचे बालकोऽप्यथ । ब्रूषे त्वं मोचितोऽसीति न ब्रूषे मारितो भृशम् ॥ ४३० ॥ कन्दर्पबन्धनैर्भ्रातरमरिष्यं तदा यदि । नैनं प्राप्स्यं मनस्तापं मृत्योरप्यधिकं तदा ॥ ४३१ ॥ बालस्य तद् दुराकूतं विनिश्चित्यानिवर्तकम् । भेजेऽथ मध्यमो मौनं ययौ चास्तं रविस्तदा ॥ ४३२ ॥ निःसंचारासु रथ्यासु संजातास्वथ बालकः । नृपप्रियां रिरंसुस्तां निर्ययौ निभृतं निशि ॥ ४३३ ॥ घनान्धकाररुद्धायां रात्रौ कुत्रैष गच्छति । विचिन्तयन्निति प्रेम्णानुययौ मध्यमोऽपि तम् ॥ ४३४ ॥ अत्रान्तरे च केनापि नरेणागत्य बालकः । निन्ये दीनं रटन् बहिर्बन्धैर्बद्ध्वाम्बराध्वना ॥ ४३५ ॥ गमिष्यसि क्व रे ! दुष्ट ! गृहीत्वा भ्रातरं मम । उच्चैरेवं वदन्मध्यस्तं भूमावन्व-

१ ०बन्धं बद्ध्वा० ख० ।

धावत ॥ ४३६ ॥ नगरान्निर्ययौ यावदुद्यतासिरसौ जवात् । लोचनागोचरं तावद्ययौ बालापहारकः ॥ ४३७ ॥
मोक्ष्यत्येष किल क्वापीत्याशया मध्यमोऽथ सः । दीनः कण्टकविद्धांह्रिः क्षुत्पिपासाश्रमाकुलः ॥ ४३८ ॥
स्थाने स्थाने बालवार्त्तां पृच्छन् स्नेहविमोहितः । दिनानि सप्त पर्यट्य पुरं प्राप कुशस्थलम् ॥ ४३९ ॥
युग्मम् ॥ जीर्णकूपं तदभ्यर्णे स दृष्ट्वाथ व्यचिन्तयत् । स्वं क्षिपाम्यत्र किं भ्रातृविकलैरसुभिर्मम ? ॥ ४४० ॥
ध्यात्वेति स्वं क्षिपत्यत्र यावद् बद्ध्वा गले शिलाम् । तावन्नन्दननामा तमद्राक्षीद्राजपूरुषः ॥ ४४१ ॥ सोऽथ मा
साहसमिति ब्रुवन्नेत्य विधृत्य च । प्रोचे मध्यमिदं निन्द्यं कुतोऽध्यवसितं त्वया ? ॥ ४४२ ॥ मध्येन बालविरह-
वृत्तान्तेऽथ निवेदिते । नन्दनः प्राह यद्येवं तर्हि मा खेदमुद्वह ॥ ४४३ ॥ भावी भद्र ! तव भ्रात्रा सार्द्धं प्रायेण
सङ्गमः । मध्येन कथमित्युक्ते नन्दनः पुनरभ्यधात् ॥ ४४४ ॥ स्वाम्यस्माकं पुरेऽत्रास्ति हरिश्चन्द्राभिधो नृपः ।
स चोपद्रूयते क्षुद्रैः सीमभूपतिभिः सदा ॥४४५॥ तैरुपद्रुतमन्येद्युस्तं विलोक्य नरेश्वरम् । तन्मित्रं खेचरो नाम्ना
रतिकेलिरदोऽवदत् ॥ ४४६ ॥ ददामि तुभ्यं भूपाल ! क्रूरविद्यां महाबलाम् । यत्प्रभावात् त्वमेतैर्न रिपुभिः परिभू-
यसे ॥ ४४७ ॥ महाननुग्रह इति क्ष्माभृताभिहितेऽथ ताम् । तस्मै दत्त्वा पूर्वसेवां स वर्षार्द्धमकारयत् ॥ ४४८ ॥
इतो दिनादष्टमेऽह्नि कञ्चिन्नीत्वा महीपतिः । विद्यायाः साधनं तस्याः खेचरेण व्यधाप्यत ॥ ४४९ ॥ द्वितीये-
ऽह्नि च स क्ष्मापं पुंसैकेन सहानयत् । होमं चक्रे सप्तरात्रं पुंसस्तस्यासृजा नृपः ॥ ४५० ॥ पुर्मांसमर्पयामास

---

१ मोक्षत्येष क० । २ कुतो व्यव० ग० ।

तं च राजा ममाधुना । स एव च पुमान् भद्र ! भावी भ्राता तव ध्रुवम् ॥ ४५१ ॥ अथोचे मध्यमो भद्र ! यद्येवं तर्हि तं द्रुतम् । कृपां कृत्वानयस्वेह यथाहमुपलक्षये ॥ ४५२ ॥ निःश्वासोच्छ्वाससंलक्ष्यजीवितं कुणपाकृतिम् । गत्वाथ कृपयोत्पाट्य नन्दनो बालमानयत् ॥ ४५३ ॥ प्रत्यभिज्ञाय तं कृच्छ्रान्मध्यो नन्दनमब्रवीत् । स एवायं मम भ्रातानुगृहीतोऽस्मि तत्त्वया ॥ ४५४ ॥ नन्दनोऽभिदधे राजद्रोहोऽयं त्वत्कृते कृतः । किञ्चासृजास्य निश्चयद्य विद्यां रेट् तर्पयिष्यति ॥ ४५५ ॥ इति श्रुतं मयेदानीं तद् यातं त्वरितं युवाम् । मच्चिन्ता नैव कर्त्तव्या यद्भाव्यं भवतान्मम ॥ ४५६ ॥ ततो नन्दनमापृच्छ्य बालमुत्पाट्य मध्यमः । क्लेशानासाद्यन्मार्ग्गे तांस्तान् स्वं पुरमागमत् ॥ ४५७ ॥ अनुभूतं त्वया भ्रातः किं हतेनेति मध्यमः । मनाग् जातबलं बालमालपत्कतिभिर्दिनैः ॥ ४५८ ॥ स प्राह मां तदोत्क्षिप्य त्वत्समक्षं निबध्य च । निन्ये प्रेतवनं प्रेतपतितुल्यः स खेचरः ॥ ४५९ ॥ तत्राग्निकुण्डपार्श्वस्थः पुमानेको मयेक्षितः । ससंभ्रममुवाचैवं खेचरः स च तं मुदा ॥ ४६० ॥ चिन्तितं नृप ! सिद्धं ते पुमान्प्राप्तः सलक्षणः । ततोऽस्यासृक्पलाहुत्या विद्यां मद्दत्तया जप ॥ ४६१ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ पृथ्वीनाथः प्रमोदभाक् । विद्यां जपितुमारेभे सहायीकृतखेचरः ॥ ४६२ ॥ मांसमुत्कृत्य मद्देहात् शस्त्र्याकृष्य च शोणितम् । ददात्याहुतये राज्ञे खेचरोऽपि स निष्कृपः ॥ ४६३ ॥ रटन्तं मां च संवीक्ष्य नारकोपमवेदनम् । परमाधार्मिक इव मोदते हृदि खेचरः ॥ ४६४ ॥ घोराट्टहासवेतालशिवासृग्वर्षणादिभिः ।

१ शवाकृतिम् । २ राजा ।

विभीषिकाभिर्भूपस्याक्षुभितस्य मनागपि ॥ ४६५ ॥ अष्टाग्रशतजापान्ते सिद्धास्मीति वदन्त्यथ । सा विद्या-ऽऽविरभूत् [1]तेन [2]नैताविक्षच्च तत्तनुम् ॥ ४६६ ॥ युग्मम् ॥ दारिताशेषवर्ष्माणमारसन्तं निरीक्ष्य माम् । धराधीशोऽथ सीत्कारमकरोत्करुणापरः ॥ ४६७ ॥ विद्याया एष एवास्याः कल्पः प्रोक्तो यद[3]स्य न । कृपा कार्येति भाषित्वा खेचरस्तमवारयत् ॥ ४६८ ॥ मम देहमलिम्पच्च विष्वग्लेपेन केनचित् । वागवाच्या मयाऽऽसादि वेदना महती ततः ॥ ४६९ ॥ लेपानुभावसंजातदवदग्धद्रुमोपमम् । मामुत्पाठ्य पुरे तत्र जग्मतुर्नृपखेचरौ ॥ ॥ ४७० ॥ जापमर्[4]लाशनोच्छूनतनोर्मे पिशितैः पुनः । सप्तरात्रमदादष्टशतमष्टशतं नृपः ॥ ४७१ ॥ निर्ययौ जीवितं नेदं हतं मम तथापि हे[5] । तत्रापि विदिता भ्रातर्मदीयातः परं कथा ॥ ४७२ ॥ मध्यस्तं प्राह दुःखानां नोचितोऽसि त्वमीदृशाम् । अहो ! खेचरनैष्ठुर्यमहो ! विद्यानृशंसता ॥ ४७३ ॥ [6]तदा च वार्त्ताप्रश्नाय मनीषी लोकयात्रया[7] । आजगामाकर्णयच्च माध्यमं परिदेवनम् ॥ ४७४ ॥ प्रविश्यान्तस्ततस्ताभ्यां विहितो-चितसत्क्रियः । मध्यबुद्धिं स पप्रच्छ परिदेवनकारणम् ॥ ४७५ ॥ निःश्वस्य मध्यमोऽप्याख्यत् बालव्यतिकरं ततः । उद्यानयानादारभ्य यावत् खेचरकर्त्तनम् ॥ ४७६ ॥ पूर्वमेव परिज्ञातसर्वव्यतिकरोऽप्यथ । मनीष्यज्ञ इव प्राह विस्मयस्मेरलोचनः ॥ ४७७ ॥ किं जातं बालकस्येदृग् यद्वाग्रेऽपि मयोच्यत । स्पर्शनेनामुना सार्द्धं

---

१ विद्यासाधकेन । २ प्रणता । ३ अस्योपरि इत्यर्थः । ४ अम्लभोजनेन शोफयुक्तशरीरस्य । ५ हि क० ख० ग० घ० । ६ तथा च ग० । ७ ०यानया ग० ।

संगतिः श्रेयसी न ते ॥ ४७८ ॥ बालोऽब्रवीदथ भ्रातस्तामुत्त्रस्तमृगेक्षणाम् । यद्यद्यापि लभे दुःखं कियदेतत्तदा मम ॥ ४७९ ॥ महेच्छानां महाकार्यसाधनोद्यमिनां मनः । दुनोति नान्तरापाति व्यसनं हि कदाचन ॥ ४८० ॥ तं शिक्षानुचितं बालं परिज्ञाय मनीष्यथ । नीत्वा कक्षान्तरे मध्यमवदद् वदतां वरः ॥ ४८१ ॥ सौम्य ! यद्येष जानाति बालो नात्महितं कुधीः । तदस्य पृष्ठलग्नेन विंनष्टव्यं[1] त्वयापि किम् ? ॥ ४८२ ॥ मध्यमोऽप्यभ्यधाद् भ्रातर्बुद्धोऽहमधुनाऽचिरात् । त्वदाज्ञाप्रतिकूलेन बालेनालमतः परम् ॥ ४८३ ॥ अन्यच्च पृच्छयसे विज्ञ ! विज्ञलोकत्रपाकरः । असौ बालस्य वृत्तान्तस्तातेन बुबुधे न वा ? ॥ ४८४ ॥ मनीष्यभिदधे भद्र ! पित्रैकेन न केवलम् । असावबोधि किं तर्हि समग्रैर्नागरैरपि ॥ ४८५ ॥ तथाहि बहुलोकानां तावद्विदित एव सः । अनङ्गागारवृत्तान्तस्तस्य विज्ञास्यते हि किम् ? ॥ ४८६ ॥ गमिष्यसि क रे ? दुष्टेत्यादि त्वद्वचनेन ये । बुद्धास्तैः खेचरहृतेर्वृत्तान्तस्तु प्रचारितः ॥ ४८७ ॥ श्रुत्वेति मध्यमो दध्यौ प्रच्छन्नमपि निर्मितम् । पापं गर्भ इव व्यक्तं व्यक्तीभवति कालतः ॥ ४८८ ॥ तदस्याच्छादनेच्छा मे सूचयत्यज्ञतां परम् । पटेन हि तिरोधातुं प्रभातं केन शक्यते ॥ ४८९ ॥ ध्यात्वेत्यूचे सोदर्यमार्य ! श्रुत्वा कथामिमाम् । त्वया तातेन मातृभ्यां पौरैश्चाचरितं किमु ? ॥ ४९० ॥ मनीषी भाषते साऽथ बाले निर्गुणधूर्वहे[2] । माध्यस्थ्यं क्लिश्यमाने च करुणा महती त्वयि ॥ ४९१ ॥ आत्मन्यास्थामतिर्दुष्टसंसर्गाभावसुस्थिते । भवजन्तौ च मे भद्र ! जाता प्रीतिर्गुणाधिके ॥ ४९२ ॥ युग्मम् ॥ दिष्ट्या

१ विनष्टव्यम् क० ख० घ० । २ धुरन्धरे ।

बालस्य तज्ज्ञातं विलोमे मयि यद्भवेत्[1]। इति प्रमुदितोऽकार्षीदट्टहासं पिता पुनः ॥ ४९३ ॥ हा जात! क गतोऽसीति त्वन्माता[2] त्वामशोचत। नापायो मत्सुतस्याभूदिति मे मुमुदे प्रसूः[3] ॥ ४९४ ॥ बालापहारे पौराणां प्रीतिस्त्वद्गमने[4] कृपा। बभूव पक्षपातश्च स्वस्थानावस्थिते मयि ॥ ४९५ ॥ निर्यातेन मयाऽज्ञायि शर्वर्यां[5] वीरचर्यया। तैस्तैः परस्परालापैः पौराणां चरितं त्विदम्[6] ॥ ४९६ ॥ तच्छ्रुत्वा[7] चिन्तयामास मध्यधीर्जातशुद्धधीः। अहो! पुंस्त्वे समानेऽपि नराणां महदन्तरम् ॥ ४९७ ॥ मनीषीव जनैरेके प्रशस्यन्ते यदुत्तमाः। आक्रुश्यन्तेतरां शश्वदन्ये बाल इवाधमाः ॥ ४९८ ॥ अपरे त्वनुकम्प्यन्ते मादृशा मध्यमा जनाः। ममाप्युत्तमतां लातुं सांप्रतं सांप्रतं ततः ॥ ४९९ ॥ तदर्थिना मयावश्यं त्यक्तव्या बालसङ्गतिः। नहि दुर्बुद्धिसंपर्कः शुभोदर्काय जायते ॥ ५०० ॥ मध्यधीरिति संचिन्त्य भाषते स्म मनीषिणम्। त्यक्त एव मया भ्रातः! सङ्गो बालस्य दुर्मतेः ॥ ५०१ ॥ भ्रात्रापि हि किमेतेन विविधानर्थहेतुना। कनकेनापि किं तेन कर्णच्छेदो भवेद् यतः ॥ ५०२ ॥ साधु साध्विति संभाष्य मध्यमापृच्छ्य चाथ तम्। जगाम स निजं धाम मनीषी विदुषां वरः ॥ ५०३ ॥ मध्यमोऽपि बहिर्नैव निर्याति त्रपया तया। ह्रीमतां ह्रीर्बहिश्चारे पदयोः शृङ्खला खलु ॥ ५०४ ॥ इतश्चाकुशलमाला स्पर्शनेन सहैव हि। बालस्याङ्गाद्विनिर्गत्य सस्नेहं तमभाषत ॥ ५०५ ॥ साधु वत्स! त्वयाऽलीकजल्पाको लोकवञ्चकः। निराचक्रे मनीष्येष सत्यं नैन्वसि मे सुतः ॥ ५०६ ॥ स्पर्शनोऽप्यब्रवीदम्ब! युक्तमेतदमूदृशाम्।

१ प्रतिकूले। २ सामान्यरूपा। ३ माता। ४ त्वदीयगमने। ५ रात्रौ। ६ णे० ख०। ७ तच्चासि ख०।

एवं च मयि मित्रेणानुरागो दर्शितो भृशम् ॥ ५०७ ॥ त्रयाणामपि चेदानीं तुल्या नः सुखदुःखता । अभूद् ये त्वत्र विघ्नाः स्युस्तान् को वा गणयेद् बुधः ॥ ५०८ ॥ बालोऽब्रवीदथ ब्रूमो वयमप्येतदेव हि । मनीषी किन्त्व-सावेतन्न जानीते विचेतनः ॥ ५०९ ॥ स्पर्शनः प्राह किं तेन सातप्रत्यूहहेतुना । अहमम्बा च ते मित्र ! सुख-संपन्निबन्धनम् ॥ ५१० ॥ एवमेतदिति प्रोक्ते बालकेनाथ तद्वपुः । तथैवाकुशलमालास्पर्शनौ भेजतुः पुनः ॥ ५११ ॥ स्पर्शनश्वसनोद्धूतः कुमनोरथधूमवान् । स्मरदावानलोऽज्वालीदथ बालमनोवने ॥ ५१२ ॥ ततः प्रदोष एवोक्तः प्रदोषः पुनरप्यसौ । निर्जगाम रिरंसुस्तां देवीं मदनकन्दलीम् ॥ ५१३ ॥ तं निर्यान्तमपश्यच्च मध्यः किन्तु मनीषिणः । वचो विचिन्तयंश्चित्ते नोचे किञ्चन चारुधीः ॥ ५१४ ॥ बालोऽथ पृथिवीनाथशय-नावसथं ययौ । लोकान्धकारबाहुल्याद् यामिकैरप्यलक्षितः ॥ ५१५ ॥ मणिप्रदीपपर्यङ्कवितानादिविराजितम् । विवेश सोऽथ तद्वासमन्दिरं विश्वसुन्दरम् ॥ ५१६ ॥ सा च शय्यागृहासन्नप्रसाधनगृहे तदा । आत्मानं भूषयन्त्यासीद् देवी मदनकन्दली ॥ ५१७ ॥ ततस्तच्छून्यमालोक्य वेश्मानालोकितायतिः । बालः पल्यङ्क-मारोहत् कोमलस्पर्शलालसः ॥ ५१८ ॥ अथ यावत् कुधीस्तत्र निधायोच्छीर्षके पटीम् । सुखमानी लुठत्येष पल्व-लान्तर्लुलायवत्[3] ॥ ५१९ ॥ प्रदोषकर्म निर्माय कृतरक्षोङ्गरक्षकैः । तावद्भूवासवो वासमन्दिरद्वारमाययौ[4] ॥ ५२० ॥ आगतं च तमालोक्य बालः संभ्रान्तमानसः । लुठन् पपात पर्यङ्कादुपलः पर्वतादिव ॥ ५२१ ॥ श्रुत्वाऽऽस्फोटरवं

१ गणयत्यपि ख० । २ ०पवनोद्धूतः । ३ महिषवत् । ४ ०रं द्रुतमा० ग० ।

मध्यगतोऽथैक्षत तं तथा । नृपो व्यचिन्तयच्चायं कथमत्रागतो हतः ॥ ५२२ ॥ उच्छीर्षकपटालोकाद् ज्ञात्वा शय्याधिरोहणम् । देवीलुब्धोऽसकावित्यकुप्यत् तं प्रति भूपतिः ॥ ५२३ ॥ ततो न्यस्यावटौ[1] पादं वालयित्वा भुजौ बलात् । बबन्ध बालं भूपालस्तत्पटेनैव रोषणः ॥ ५२४ ॥ विभीषणाभिधानाय तर्द्दकायाथ तं नृपः । समाहूयार्पयामास साक्षेपं तमुवाच च ॥ ५२५ ॥ अरे ! कदर्थनीयोऽयं तथाशेषां निशीथिनीम् । अत्राहमस्य पापस्य शृणोम्यारटनं यथा ॥ ५२६ ॥ ततः प्रमाणमादेश इत्युक्त्वा स विभीषणः । बालमाकृष्य केशेषु निन्येऽभ्यर्णाङ्गणावनौ ॥ ५२७ ॥ अयःस्तम्भे निबध्याथ वज्रकण्टकसंकटे । कशाघाततप्ततैलसेचनास्थिभिदादिभिः ॥५२८॥ कदर्थनाभिरत्यर्थमशेषामपि शर्वरीम् । रसन्तं वीरसं बालं तं ततर्द स निर्दयः ॥ ५२९ ॥ युग्मम् ॥ तदाक्रन्दरवात् प्रातः श्रवणाच्च परस्परम् । तत्रायातं पुरं सर्वं किमेतदिति कौतुकात् ॥ ५३० ॥ तथास्थं[2] बालमालोक्य लोकः सर्वो विरागवान् । कथमद्यापि पापोऽयं जीवतीत्याक्रुशद् भृशम् ॥ ५३१ ॥ तदाक्रोशाश्च बालस्य क्षते क्षार इवाभवन् । विभीषणोऽप्युपावृत्तं पौराणां पुरतोऽवदत् ॥ ५३२ ॥ ततोऽहो ! धृष्टतास्येति निद्वेषं बालके भृशम् । प्रययुस्ते नृपं व्यज्ञपयच्चैको महत्तमः ॥ ५३३ ॥ अहितो देवपादानां दुष्टोऽसौ शिक्षयतां[3] तथा । अन्यस्याप्यनये नैवं प्रवृत्तिर्जायते यथा ॥ ५३४ ॥ तस्य चास्ति नरेन्द्रस्य सुरेन्द्रस्येव गीष्पतिः । सुबुद्धिर्जिनसिद्धान्तशुद्धधीः सचिवोत्तमः ॥ ५३५ ॥ प्रसाद्यानन्यसाध्येन केनाप्यद्भुतकर्म्मणा । पार्थिवं प्रार्थ-

---

१ ग्रीवायाः पश्चाद्भागः । २ तत्रस्थं ग० । ३ शिष्यताम् क० ख० ग० घ० ।

यामास चतुरः स वरं पुरा ॥ ५३६ ॥ हिंस्रकर्मणि यद्देव ! नालोच्योऽहं कदाचन। ददौ[1] च तं वरं तस्मै नृपतिः कृतिनां वरः ॥ ५३७ ॥ ततश्चैनमनालोच्य सचिवं शुचिचेतसम्। आरक्षानादिदेशोग्रशासनोऽत्रनिशासनः ॥५३८॥ अरे ! पुरे विडम्ब्यैष बहुशः[2] पुरुषाधमः। हन्यतां त्वरितं दुष्टा निग्राह्या हि महीभुजाम् ॥५३९॥ ते[3] च रासभमारोप्य प्रसाध्य च तथा तथा। लोकैराक्रुश्यमानं च प्रमोदभरनिर्भरैः ॥ ५४० ॥ विस्तीर्णे नगरे तत्र सकले सकलं दिनम्। बालकं भ्रमयामासुर्विकल्पा इव मानसम् ॥ ५४१ ॥ युग्मम् ॥ अथ ते नीतवन्तस्तं सन्ध्यायां वध्यभूमिकाम्। उल्लम्ब्य वटशाखायां ययुः स्थानं जनान्विताः ॥ ५४२ ॥ कथञ्चिद्दैवयोगेनात्रुटद्[4] बालस्य पाशकः। पतितो भूतले मूर्च्छां गतो मृत इव स्थितः ॥५४३॥ मरुता चेतनां कृच्छ्रात् प्राप्य कूजन् शनैः शनैः। स निजं सदनं भूमिकषणेन[5] समाययौ ॥ ५४४ ॥ इतश्च मध्यधीर्बालवृत्तान्तं लोकवार्त्तया। प्रातरेव परिज्ञाय चिन्तयामास चेतसा ॥ ५४५ ॥ पश्यताहो ! मनीष्युक्तवाग्विधानाविधानयोः। प्रत्यक्षमिह लोकेऽपि लक्ष्यते कियदन्तरम् ॥ ५४६ ॥ यतस्तदुपदेशेन त्यक्तबालकसङ्गतेः। न क्लेशो नायशश्चाभून्मम संप्रति पूर्ववत् ॥ ॥ ५४७ ॥ बालस्त्वेकान्ततस्तद्गीर्मङ्गिनीविमुखः[6] कुधीः। अगाधे व्यसनाम्भोधौ निमज्जति पुनः पुनः ॥ ५४८ ॥ ततो मम किमप्यस्ति मन्ये भाग्यमभङ्गुरम्। येनाधुनापि संजज्ञे तच्छिक्षाभिमुखं मनः ॥ ५४९ ॥ एवं चिन्त-

१ प्रददौ तं ग०। २ ०धा पु० क० ख० ग० घ०। ३ तेऽथ रा० क० ग०। ४ ०त्र्यद् क० ख० ग०। ५ ०कर्षणेन ख०। ६ नौका।

यतस्तस्याहोरात्रं तद्विलङ्घितम्। प्रातर्गत्वामुना पृष्टो बालः स्वं वृत्तमाख्यत ॥ ५५० ॥ शिक्षानर्हस्य तस्याथ बालस्य परिदेवनम्। कृत्वा मनाग्बहिर्वृत्त्या स्वावासं मध्यमोऽगमत् ॥ ५५१ ॥ बालोऽपि चूर्णिताशेषदेहो हतमनोरथः। महीपतिभयादुग्रान्निर्याति न बहिः क्वचित् ॥ ५५२ ॥ अन्यदा च पुरे तत्र प्रबोधनरतिर्गुरुः। निज-विलसिताभिख्ये कानने समवासरत् ॥ ५५३ ॥ इतश्च स्पर्शनद्वेषिमनीषिहृतमानसः। जगाद भूपतिः कर्म्मविलासः शुभसुन्दरीम् ॥ ५५४ ॥ वामोऽहं स्पर्शनावामे[1] तद्वामे[2] दक्षिणः[3] पुनः। स्वरूपमेतन्मे देवि! तावत्ते विदितं सदा ॥ ५५५ ॥ किञ्चोपकरणं वामाचरणे बालकप्रभुः। दक्षिणाचरणे त्वं तु वर्त्तसे देवि! मे सदा ॥ ५५६ ॥ ततः स्पर्शनरक्तस्य मया बालस्य दर्शितः। स्ववामताफललवस्तत्सवित्रीप्रयोगतः ॥ ५५७ ॥ स्पर्शनप्रतिकूलस्य त्वत्पुत्रस्य मनीषिणः। निजानुकूलताव्युष्टि[4]विशेषोऽद्यापि नो पुनः ॥ ५५८ ॥ साधुवादानपायादि जज्ञेऽस्य यदिदं किल। अहमेव त्वयोपेतस्तत्र यद्यपि कारणम् ॥ ५५९ ॥ तथाप्येतावदेवास्य फलं न खलु युज्यते। तस्याधिकफलप्राप्त्यै देवि! यत्नमतः कुरु ॥ ५६० ॥ शुभसुन्दर्यथोवाच चारु चारूदितं त्वया। देव! देवप्रसा-दानां मनीषी योग्य एव यत् ॥ ५६१ ॥ देवादेशं करोम्येषाधुनैवेत्यभिधाय सा। योगशक्त्या विवेशाथ गत्वा वर्ष्म मनीषिणः ॥ ५६२ ॥ तस्याथ जातहर्षस्य सुधासिक्ततनोरिव। निजविलसिते तत्र गमनेच्छा वनेऽभवत् ॥ ॥ ५६३ ॥ गच्छामि कथमेकाकी तत्राहमिति चिन्तयन्। स गत्वा मध्यमायाथ निजाकूतमचीकथत् ॥ ५६४ ॥

१ प्रतिकूलः। २ स्पर्शनप्रतिकूले। ३ अनुकूलः। ४ व्युष्टि=फल।

इतः सामान्यरूपापि राज्ञादिष्टाश्रयद् वपुः । मध्यमस्याथ यानेच्छास्याप्यभूत्तत्र कानने ॥ ५६५ ॥ त्वयाप्यवश्यं गन्तव्यमिति मध्येन जल्पता । बालोऽचालि बलात्तेऽथ तदुद्यानं त्रयोऽप्ययुः ॥ ५६६ ॥ अथ नानाविधैस्तत्र क्रीडन्तस्ते कुतूहलैः । प्रमोदशेखरं नाम ददृशुर्जिनमन्दिरम् ॥ ५६७ ॥ वन्दारुजनताचारुध्व-निमाकर्ण्य दूरतः । विविशुस्ते जिनावासं कौतुकोत्सुकचेतसः ॥ ५६८ ॥ अपश्यंश्च तदन्तस्ते देवं नाभिसमुद्भवम् । प्रबोधनरतिं तं च मुनीन्द्रं संघसंयुतम् ॥ ५६९ ॥ मनीषी भाविभद्रत्वात् नत्वा बिम्बं जिनेशितुः । सशिष्यं नतवान् सूरिं पृष्ठलग्नश्च मध्यमः ॥ ५७० ॥ धर्मलाभाशिषा तेन मुनीन्द्रेणाभिनन्दितौ । मुदितावथ तौ भूमौ यथास्थानं निषेदतुः ॥ ५७१ ॥ मातृमित्रापवित्रस्तु बालः कस्यापि नानमत् । किन्तु ग्राम्याकृतिं बिभ्रन्नि-षसादान्तिके तयोः ॥ ५७२ ॥ इतश्चोत्साहितस्तेन सचिवेन सुबुद्धिना । हृष्टो मदनकन्दल्याद्यन्तःपुरसमन्वितः ॥ ॥ ५७३ ॥ सपौरः सपरीवारस्तमाचार्यं विवन्दिषुः । जगाम कानने तत्र शत्रुमर्दनभूपतिः ॥ ५७४ ॥ मुक्त्वाथ[3] राजचिह्नानि प्रणम्य च जिनेश्वरम् । मुनिनाथं महीनाथस्तमवन्दत भक्तिभाक् ॥ ५७५ ॥ सुबुद्धिरपि संपूज्य देवं नत्वाभिनुत्य च । मुनीशं द्वादशावर्त्तवन्दनेनाभ्यवन्दत ॥ ५७६ ॥ लब्धाशीःषु निषण्णेषु यथास्थानं जनेष्वथ । कीर्णकर्णसुधावर्षां विदधे देशनां गुरुः ॥ ५७७ ॥ तां श्रुत्वाह नृपो ग्राह्यं किं प्रभोऽत्र सुखार्थिभिः । गुरुः प्रोचे जिनप्रोक्तो धर्म्मः शर्म्मनिबन्धनम् ॥ ५७८ ॥ भूपतिः प्राह यद्येवं कथमेते शरीरिणः । धर्म्मं सर्वे न कुर्वन्ति

१ इति सा० ता० । २ ०प्ययुः ग० । ३ त्यक्त्वा ग० । ४ ०नां द्वा० ग० । ५ ०त्वोचे नृ० ख० ।

शर्म्मदं शर्म्मकाङ्क्षिणः ॥५७९॥ सूरिरूचे महाराज! सुकरैव सुखस्पृहा। हृपीकविजितैर्जीवैर्धर्म्मः किन्त्वेष दुष्करः ॥ ५८० ॥ हृपीकाणि च राजेन्द्र! पञ्चामूनि प्रचक्षते। स्पर्शनं रसना घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं तथैव च ॥ ५८१ ॥ इन्द्रोपेन्द्रादयो येऽमी वर्त्तन्ते भुवनेश्वराः। तेप्यमीषां हृपीकाणां सर्वे किङ्करतां गताः ॥ ५८२ ॥ एवं चाख्याय पञ्चार्क्षी वोघायाथ मनीषिणः। ज्ञानविज्ञाततद्वृत्तः सूरिरूचे विशेषतः ॥ ५८३ ॥ अथवा सन्तु शेषाणि हृपीकाणि जगज्जये। स्पर्शनेन्द्रियमेवैकं समर्थं बत वर्त्तते ॥ ५८४ ॥ अभ्यधादथ भूनाथः किमत्र भुवने क्वचित्। भगवंन्नस्य[1] जेतारः सन्ति केऽपि नरा न वा? ॥ ५८५ ॥ सूरिराह महीनाथ! न हि सन्ति न सर्वथा। तादृशा विरलाः किन्तु तत्राकर्णय कारणम् ॥ ५८६ ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमा गुणैः। चतुर्विधा भवन्तीह पुरुषा भुवनोदरे ॥ ५८७ ॥ तत्रानादिभवाभीष्टं यैरिदं स्पर्शनेन्द्रियम्। सदागमोपदेशेन ज्ञायते बहुदोषदम् ॥ ५८८ ॥ गृहस्थैरपि सत्त्वाढ्यैः सन्तोषस्य वशेन यैः। स्पर्शनेन्द्रियलौल्येन क्रियते न कुचेष्टितम् ॥ ५८९ ॥ प्राप्यावसरमादाय दीक्षां च स्पर्शनेन्द्रियम्। जित्वा[2] च सर्वथापीदं कर्म्म निर्मूलयन्ति ये ॥ ५९० ॥ ये च निर्वृतिमासाद्य लभन्ते शाश्वतं सुखम्। ते ह्युत्कृष्टतमा भूप! निर्दिष्टाः शुद्धबुद्धिभिः ॥ ५९१ ॥ कलापकम् ॥ तदा दध्यौ मनीषीति यादृग्भगवतोदितम्। स्पर्शनाक्षं[3] स्पर्शनोऽसौ तादृग्मे प्रतिभासते ॥ ५९२ ॥ तन्नूनं पुरुषव्याजसंस्थितं स्पर्शनेन्द्रियम्। अस्मान्प्रतारयत्येतदन्यथेदृगसौ कथम्? ॥ ५९३ ॥ तथा भगवतादिष्टा ये चोत्कृष्टतमा

१ ०वंस्तस्य ग० । २ ०त्वाऽथ स० ग० । ३ स्पर्शनेन्द्रियम् ।

नराः। स्पर्शनाख्यानतो मन्ये भवजन्तुस्तथाविधः ॥५९४॥ यतः सोऽपि विशुद्धात्मा सदागमसमागमात्। जित्वाऽमुं स्पर्शनं दुष्टं सन्तुष्टः प्राप निर्वृतिम् ॥ ५९५ ॥ मनीषिन्नितरां चित्ते भावितस्त्वं विलोक्यसे। ततोऽत्र भवता किञ्चित् किं तत्त्वमवधारितम् ? ॥५९६॥ इति पृष्टोऽथ मध्येन तदा लक्षितचेतसा। मनीषी कथयामास निजाकूतं तदातनम् ॥ ५९७ ॥ युग्मम् ॥ बालस्तु पापकर्मत्वाद् गुरोर्गिरि निशादरः। दिशो दशापीक्षमाणोऽद्राक्षीन्मदनकन्दलीम् ॥ ५९८ ॥ तां च चन्द्रमुखीं सूरेः पिबन्तीं वचनामृतम्। दृष्ट्वा राज्ञः समीपस्थां स दध्यौ मदनातुरः ॥५९९॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिरहो ! सौभाग्यमद्भुतम्। ततोऽनुरूप एवास्यास्तनुस्पर्शः स तादृशः ॥ ६०० ॥ इत्याद्यनल्पसंकल्पकल्पनास्तस्य पाप्मनः। प्रवर्द्धन्ते तदा वार्द्धेरिव ग्रीष्मे महोर्मयः ॥ ६०१ ॥ भगवान्पुनरप्याह [2]भूपोत्कृष्टतमा नराः। तावदेते [3]मयाख्याता उत्कृष्टानधुना शृणु ॥ ६०२ ॥ बोधप्रभावतः कृत्वा मूलशुद्धिं यथास्थिताम्। वञ्चके ये सजन्त्यत्र न जातु स्पर्शनेन्द्रिये ॥६०३॥ शरीरस्थितये किञ्चिदाचरन्तोऽपि तत्प्रियम्। ये च गृद्धेरभावेन भवन्ति सुखभाजनम् ॥६०४॥ गुणानुरागिणो दोषभीलुका लोकवल्लभाः। परोपकारनिरताः कृतज्ञाश्च भवन्ति ये ॥ ६०५ ॥ देवतागुरुतत्त्वानि स्वधिया ये च जानते। उत्कृष्टास्ते नराः प्रोक्ताः कृतिभिः पृथिवीपते ! ॥ ६०६ ॥ कलापकम् ॥ अथ दध्यौ मनीषीति यादृगाख्यायि सूरिभिः। उत्कृष्टचरितं तादृक् किञ्चिदात्मनि भाति मे ॥ ६०७ ॥ मध्योऽपि दध्यौ यादृक्षा गुरुणा वर्णिता गुणाः। उत्कृष्टानां घटन्तेऽत्र ते सर्वेऽपि मदग्रजे

[1] तदा भवम्=तदातनम्। [2] नृपो० ख०। [3] तवाख्याता ता० क० ख० घ०।

॥६०८॥ गुरुराह नरेन्द्रैवमुत्कृष्टाः कथिता नराः । मध्यमानां स्वरूपं यत्तदिदानीं निशम्यताम् ॥६०९॥ भोगानेके प्रशंसन्ति प्रणिन्दन्ति पुनः परे । किं कर्त्तव्यमतोऽस्माभिरिति मुह्यन्ति ये किल ॥ ६१० ॥ कालक्षेपं विधायाथ स्पर्शनाक्षे सुखैषिणः । येऽनुकूला भवन्त्यत्र किन्तु नात्यन्तलम्पटाः ॥ ६११ ॥ बुधोपदेशं नादृष्टदुःखाः कुर्वन्ति सर्वथा । यदा स्युर्दृष्टदुःखास्तु तदा ये च प्रकुर्वते ॥ ६१२ ॥ देवतागुरुतत्त्वानि बुधोक्ता ये च जानते । तज्ज्ञैर्नरा नराधीश ! मध्यमास्ते प्रकीर्तिताः ॥ ६१३ ॥ कलापकम् ॥ दध्यौ मध्योऽथ मध्यानां सूरिणा ये गुणागुणाः । गदितास्ते स्वसंवेद्या ममापि निजगोचरे ॥ ६१४ ॥ मनीष्यपि तदाध्यायदादिष्टं गुरुणा स्फुटम् । चरितं मध्यमानां यत्तन्मदीयेऽनुजे स्थितम् ॥ ६१५ ॥ सूरिरूचे समाख्याता मध्यमा मानवा इति । जघन्यनरसम्बन्धिस्वरूपमधुनोच्यते ॥ ६१६ ॥ तत्त्वतः शत्रुरूपेऽपि येऽमुष्मिन् स्पर्शनेन्द्रिये । बन्धुबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते मोहान्धीभूतबुद्धयः ॥ ६१७ ॥ कृत्याकृत्यविवेकाज्ञा निस्त्रपाः कुलदूषणाः । नानापायसमालीढाः कुशीला लोकगर्हिताः ॥ ६१८ ॥ देवतागुरुतत्त्वानां प्रत्यनीका दुराशयाः । भवन्ति ये च भूपाल ! जघन्यास्ते नराः स्मृताः ॥ ६१९ ॥ ॥ विशेषकम् ॥ अथेति दध्यतुश्चित्ते मध्यबुद्धिमनीषिणौ । इदं सूरिवचः सर्वं बालेऽत्र घटते स्फुटम् ॥ ६२० ॥ सूरिराह तदेवं ते जघन्याः कथिता नराः । भूयांस एव भूमीश ! ते चात्र भुवनोदरे ॥ ६२१ ॥ शेषास्तु गणिता एव सकलेऽपि जगत्त्रये । स्पर्शनेन्द्रियजेतारो नरेन्द्र ! विरलास्ततः ॥६२२॥ तथेति प्रतिपन्नेऽथ गुर्वादेशे

---

१ सुखेपिणः ग० । २ बुधोक्तया ये ग० ।

महीभुजा। सुबुद्धिसचिवो वाचमुवाच रचिताञ्जलिः ॥ ६२३ ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमा नराः। पश्चानुपूर्व्या व्याख्याता य एते भगवन् ! किल ॥ ६२४ ॥ एवंविधस्वरूपास्ते प्रकृत्यैव भवन्ति किम् ?। इदृक्स्वरूपजनकं कारणं वास्ति किञ्चन ? ॥ ६२५ ॥ भगवानाह मन्त्रीश ! प्रकृत्या नेदृशा ह्यमी। ईदृक्स्वरूपजनकं कारणं किन्तु विद्यते ॥ ६२६ ॥ तत्रोत्कृष्टतमास्तावद् ये नराः प्रतिपादिताः। उत्कृष्टेभ्यः कृतार्थत्वाद् भिन्नास्ते न तु तत्त्वतः ॥६२७॥ यतस्त एव निःशेषं कर्म्म निर्मूल्य मूलतः। यदा निर्वृतिमञ्चन्ति तदोत्कृष्टतमाः स्मृताः ॥ ६२८ ॥ तेषां च तत्र शुद्धानां स्वरूपेण व्यवस्थितेः। जनको जननी वापि विद्यते नैव कश्चन ॥ ६२९ ॥ जायन्ते कर्म्मवैचित्र्यादितरे संसृतौ पुनः। स एवैषामतः कर्म्मविलासो जनको मतः ॥ ६३० ॥ शुभाकुशलसामान्यभेदात्कर्म्म च तत्त्रिधा। सुन्दरी हि शुभत्वेन तत्र या कर्म्मपद्धतिः ॥ ६३१ ॥ यकाकुशलमाला च या च सामान्यरूपिका। उत्तमाधममध्यानां जनन्यस्ता यथाक्रमम् ॥ ६३२ ॥ युग्मम् ॥ दध्यौ मध्याग्रजोऽस्माकं साम्यमेतैः सहोदितम्। न केवलं गुणैः किन्तु पितृभिश्चापि सूरिणा ॥ ६३३ ॥ उत्कृष्टतम एवायं भवजन्तुश्च निश्चितम्। पितरौ स्पर्शनेनोक्तौ यतस्तस्य न कावपि ॥ ६३४ ॥ जननीजनकौ सूरिवार्णितावेव नः पुनः। नियतं पूर्वनिर्णीतरूपा एव वयं ततः ॥ ६३५ ॥ मन्त्र्यूचे भगवन्नेषां नराणां रूपमीदृशम्। ध्रुवमेव सदा यद्वा परावर्त्तोऽपि संभवेत् ? ॥ ६३६ ॥ मुनीन्द्रोऽवददुत्कृष्टतमानां वीतकर्म्मणाम्। ध्रुवमेव सदा रूपमन्येषां भद्र ! नो पुनः ॥ ६३७ ॥ यतस्ते वशगाः कर्म्मविलासस्य सुनिश्चितम्। स त्वन्योन्य-

परावर्त्तं करोत्येषां निजेच्छया ॥ ६३८ ॥ मनीष्यथ पुनर्दध्यावदोऽपि घटते स्फुटम् । यतो विषमशीलोऽयमस्माकं जनको ध्रुवम् ॥ ६३९ ॥ यतो य एष बालस्य स्वसूनोरपि सर्वथा । व्यसनान्येवमाधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥ ६४० ॥ सुबुद्धिः पुनरप्याह विशदीभवदाशयः । भगवन् ! कस्य माहात्म्यात् स्युरुत्कृष्टतमा नराः ? ॥ ६४१ ॥ सूरिरूचे न कस्याप्यन्यस्य किन्तु स्ववीर्यतः । तदवाप्तेरुपायस्तु भावदीक्षाऽऽर्हती मता ॥ ६४२ ॥ उत्कृष्टतमताहेतुर्दीक्षेयं युज्यते मम । एवं मनीषी चारित्रपरिणामं तदाऽभजत् ॥ ६४३ ॥ मन्त्र्यूचे नाथ ! योऽस्माभिर्गृहिधर्म्मो विधीयते । उत्कृष्टतमताहेतुः स सम्भवति वा नवा ॥ ६४४ ॥ स प्राहोत्कृष्टतमतां साक्षादेषा जिनोदिता । प्रव्रज्या साधयत्युच्चैरयं तु व्यवधानतः ॥ ६४५ ॥ तत् श्रुत्वा चिन्तयामास मध्यबुद्धिर्विशुद्धधीः । युक्तो ममैषोऽनुष्ठातुं गृहिधर्मो जिनोदितः ॥ ६४६ ॥ इतश्च तत्तत्संकल्पकल्पनाकुलचेतसः । विस्मृतात्मस्वरूपस्य बालस्याजनि शून्यता ॥ ६४७ ॥ भूताविष्ट इवाश्लेष्टुं दुष्टस्तां स नृपप्रियाम् । ततो विमुक्तमर्यादस्तत्संमुखमधावत ॥६४८॥ अकाले तुमुलोत्ताले जने जातेऽथ संभ्रमात् । तं क्ष्मेन्द्रः क्षुद्रमद्राक्षीद् दिक्षु चक्षुः क्षिपन् क्षणात् ॥६४९॥ प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय तदाकूतं हगिङ्गितैः । उच्चैश्चकार हुङ्कारं नृपः कोपारुणेक्षणः ॥ ६५० ॥ बालकोऽथ समुद्भूतभीतिर्वीतस्मरज्वरः । आयातचेतनः पश्चात् नश्यन् दीनोऽपतद् भुवि ॥६५१॥ आविर्भूय स्पर्शनोऽपि निर्ययौ सूर्यविग्रहात् । बालं प्रतीक्षमाणश्च तस्थौ दूरे पराङ्मुखः ॥६५२॥ तेन बालचरित्रेण ह्रीणौ मध्यमनीषिणौ । महात्मानो

---

१ °दा क० ख० ग० घ० । २ आचार्यविग्रहात् । ३ पराङ्मुखम् क० ख० ग० ।

हि लेज्जन्ते परस्यापि कुचेष्टितैः ॥ ६५३ ॥ ततः कोऽस्य वराकस्योपरि कोपो विधीयते । विचिन्त्येति नृपः शान्तीभूतः सूरिमदोऽवदत् ॥ ६५४ ॥ अश्रद्धेयमवक्तव्यमविचार्यमलौकिकम् । भगवन्नस्य पापस्य पुंसः किमपि चेष्टितम् ॥ ६५५ ॥ जानन्त्येवाथवा पूज्या विमलज्ञानशालिनः । यदनेन पुराऽकारि प्रकृतं यच्च संप्रति ॥६५६॥ पूर्वकं चरितं चास्य संभाव्येतापि कर्हिचित् । प्रत्यक्षमप्यश्रद्धेयं सर्वथा त्वधुनातनम् ॥ ६५७ ॥ रागादि²ध्वान्ततिग्मांशौ त्वयि सन्निहिते यतः । ईदृशोऽध्यवसायोऽतिक्षुद्राणामपि किं भवेत् ? ॥ ६५८ ॥ सूरिराह महाराज ! न कर्त्तव्योऽत्र विस्मयः । यतोऽमुष्य वराकस्य दोषो नैष मनागपि ॥ ६५९ ॥ विग्रहादस्य निर्गत्य निर्गतो मदवग्रहात् । योऽयं सर्वसभाध्यक्षं दोषस्तस्यैव केवलम् ॥ ६६० ॥ स्पर्शनाख्यं मयाऽऽख्यायि यदिदानीं सुदुर्जयम् । भूप ! तद्रूप एवायं स्पर्शनः प्रतिपद्यताम् ॥६६१॥ ततो नास्त्येव दुष्कर्म्म तल्लोके सकलेऽपि हि । कुर्वन्ति जन्तवो नैव यदस्य वशवर्तिनः ॥ ६६२ ॥ अयं चाकुशलमालाजनन्याविष्टविग्रहः । स्पर्शनं शत्रुमप्येनं मन्यते मित्रमुत्तमम् ॥ ६६३ ॥ किञ्च देहभृतां सोपक्रमं च निरुपक्रमम् । कर्म्म द्विविधमुर्वीश ! वर्णितं सर्ववेदिभिः ॥६६४॥ तत्र सोपक्रमं साधुसन्निधानादिहेतुभिः । क्षयक्षयोपशमोपशमभावं प्रपद्यते ॥ ६६५ ॥ सन्निधाने जिनस्यापि न पुनर्निरुपक्रमम् । ²ध्वान्तविद्धंसनेऽन्धस्य न भास्वानपि हि क्षमः ॥ ६६६ ॥ जघन्यनररूपस्य निरुपक्रमकर्म्मणः । अस्य दुश्चरितैर्भूप ! कार्यस्तस्मान्न विस्मयः ॥ ६६७ ॥ मन्त्र्युवाचैवमेवेदं किन्तु देवोऽधुना प्रभो ! ।

---

१ लज्यन्ते क० ख० घ० । २ ध्वान्तं वि० क० घ० ।

युष्मत्प्रसादेनेदृक्षान् विचारानवभोत्स्यते ॥ ६६८ ॥ तं प्रशस्य महामात्यमथावसरभाषिणम् । बालोदर्कं महीनाथः पप्रच्छ स्वच्छधीर्गुरुम् ॥ ६६९ ॥ गुरुरूचे महाराज ! गतेषु भवदादिषु । लब्धसंज्ञममुं बालं स्पर्शनोऽसौ श्रयिष्यति ॥ ६७० ॥ त्वद्भयादथ बालोऽयमत्र स्थातुमशक्नुवन् । अटव्यादिष्वटन् गन्ता कोल्लाके सन्निवेशने ॥ ६७१ ॥ तत्र कर्म्मपुरकाख्यग्रामासन्नं सरोवरम् । श्रमोदन्यार्दितश्चायं मज्जनाय समेष्यति ॥ ६७२ ॥ इतश्च तत्र मातङ्गमिथुनं किञ्चिदेष्यति । हनिष्यति च मातङ्गस्तीरद्रुमपतत्रिणः ॥ ६७३ ॥ विजनत्वात् तु मातङ्गी सरः स्नानाय वेक्ष्यति । सैन्द्रक्ष्यति तदा चैनं तीरदेशमुपागतम् ॥ ६७४ ॥ अथ सा स्पृश्यपुंसोऽस्मात्सरोवतरणागसा । भीता निमज्य संस्थाता पद्मपत्रतिरोहिता ॥ ६७५ ॥ सरोऽवतीर्य तत्पार्श्वं गतोऽनाभोगतस्ततः । असावपि हि चण्डालीशरीराश्लेषमाप्स्यति ॥ ६७६ ॥ तस्यां जाताभिलाषस्यामुष्य सा श्वपची ततः । कथयिष्यति पृथ्वीश ! चण्डालस्त्रीत्वमात्मनः ॥ ६७७ ॥ तथाप्येष बलात्पापस्तदाश्लेषं विधास्यति । सा तु हाहारवं कर्त्ता(०र्त्री) संभ्रमभ्रान्तमानसा ॥ ६७८ ॥ समेष्यति तमाकर्ण्य संभ्रान्तस्तत्पतिर्जवात् । प्रज्वलिष्यति कोपेन दृष्ट्वा चैनं तथास्थितम् ॥ ६७९ ॥ आकर्णाकृष्टकोदण्डः कम्पमानममुं ततः । स हन्तैकेन बाणेन कुरङ्गमिव लुब्धकः ॥ ६८० ॥ मृत्वाथ नरके घोरे गन्तोद्वृत्तस्ततोऽप्यसौ । अनन्तकालं भूपाल ! भ्रमिष्यति भवोदधौ

---

१ श्रमोदन्याभिभूतोऽयम् क० ख० ग० घ० । २ उदन्या=तृषा । ३ सा द्रक्ष्यते तदा क० ख०ग० । ४ चाण्डाली ।

॥ ६८१ ॥ राजोचेऽकुशलमालास्पर्शनौ नाथ ! दारुणौ । यद्वशेनास्य संपन्नमिदं संपत्स्यते तथा ॥ ६८२ ॥ मन्त्र्यूचेऽकुशलमालास्पर्शनौ भगवन्निमौ । एकस्यास्यैव पुंसः किमुतान्येषामपि प्रभू ? ॥ ६८३ ॥ सूरिराह महामात्य ! सर्वेषां भववासिनाम् । समर्थौ योगिनावेतौ सुव्यक्तावत्र केवलम् ॥ ६८४ ॥ आविर्भावतिरोभावरूपा स्थानविशेषतः । योगिनां च भवत्येव शक्तिर्विस्मयकारिणी ॥६८५॥ राजोचे भगवन्नेतौ किमस्माकमपि प्रभू ? । सूरिणा बाढमित्युक्ते नृपः सचिवमभ्यधात् ॥ ६८६ ॥ इदं भगवता तावदादिष्टमधुना सखे ! । स्पर्शनाकुशलमाले यत् सहानेन यास्यतः ॥ ६८७ ॥ ततः पश्चात्तथाकार्यं यथैते न रिपू पुनः । देशं मे विशतो येन सत्यः स्यां शत्रुमर्द्दनः ॥ ६८८ ॥ दृष्टत्वादथ भूयोऽपि यद्येते विशतस्तदा । निष्पीड्ये लोहयन्त्रेण हित्वार्येण कृपालुताम् ॥ ६८९ ॥ युक्तं यद्यपि नो वक्तुमिदं भगवतोऽन्तिके । तथापि राजधर्म्मोऽयमित्यादिष्टमिदं तव ॥ ६९० ॥ मन्त्री दध्यावहो ! देवस्यानयोरुपरि क्रुधा[1] । हिंसकर्म्मानियोगं यत्तमपि व्यस्मरद् वरम् ॥ ६९१ ॥ भवत्वेवं तथापीदं गुरवो बोधकारणम् । कल्पयिष्यन्ति मे त्वाज्ञाप्रतिपत्तिः परं वरा ॥ ६९२ ॥ ध्यात्वेति स नृपादेशं तथेति प्रतिपन्नवान् । सूरिरूचे च भूमीशं विशेषाद् बोधहेतवे ॥ ६९३ ॥ एवमाज्ञापनेनालमनयोरन्तरङ्गयोः । अयमुन्मूलनोपायो न यतः सरलाशय ! ॥ ६९४ ॥ किन्त्वहिंसासमीचीनास्तेयाद्यैः[2] साधनैर्दृढम् । अन्तरङ्गद्विषां कालवदनोदरसोदरम् ॥ ६९५ ॥ महासत्त्वजनैर्वाह्यमप्रमादाख्यमेतयोः । अन्तरङ्गं लोहयन्त्रं समूलोन्मूलनक्षमम्

१ कोपः । २ ०सत्याचौर्याद्यैः ।

॥ ६९६ ॥ युग्मम् ॥ एतन्निष्पीडनाकाङ्क्षा ततो यद्यस्ति ते नृप ! । स्ववीर्ययष्ट्याऽवष्टभ्य तद्यन्त्रं वाह्यतां स्वयम् ॥ ६९७ ॥ तदा च भगवद्वाणीवात्यया ववृधेऽधिकम् । कर्म्मद्रुदाही चारित्रभाववह्निर्मनीषिणः ॥ ६९८ ॥ मनाक्संजातसंदेहः प्रत्युवाच गुरुं स च । प्रभो ! भागवती दीक्षा या पूर्वं प्रतिपादिता ॥ ६९९ ॥ यदप्रमादयन्त्रं च संप्रति प्रतिपाद्यते । अन्योन्यमनयोः कोऽपि विशेषो विद्यते न वा ? ॥७००॥ युग्मम् ॥ शब्दभेदाद्विशेषोऽन्यो नास्तीति गुरुणोदिते । मनीष्यथ पुनर्वाचमुवाच विनयाञ्चिताम् ॥७०१॥ तर्हि प्रसीद मे नाथ ! संसारोरगजाङ्गुलीम् । तूर्णं भागवतीं दीक्षां देहि यद्यस्ति योग्यता ॥७०२॥ सूरिराह भृशं योग्योऽसीति सुष्ठु प्रदीयते । अथोवाच नृपः कोऽयं भगवन् ! सात्त्विकाग्रणीः ? ॥७०३॥ मादृशै रणनिर्व्यूढसाहसैरपि दुर्वहा । दीक्षाधूरभ्युपगता धुर्यप्रज्ञेन लीलया ॥ ७०४ ॥ भगवानप्युवाचैवं विशामीश ! निशम्यताम् । राजा कर्म्मविलासोऽस्ति भोक्तास्य नगरस्य ते ॥७०५॥ तस्याग्रमहिषीशुभसुन्दरीकुक्षिसंभवः । सूनुर्मनीषिनामायं गुणरत्नैकरोहणः ॥ ७०६ ॥ तस्यैवाकुशलमालाकुक्षिजो बाल एष[3] च । तथा सामान्यरूपाभूर्मध्योऽस्यर्णे मनीषिणः ॥ ७०७ ॥ राज्ञाथ विस्मितेनोचे भोक्तामुष्य पुरस्य किम् । कर्म्मविलासो नृपतिर्न पुनर्भगवन्नहम् ? ॥ ७०८ ॥ सूरिराह महाराज ! स एवात्र ध्रुवं प्रभुः । यतस्तदाज्ञां कुर्वन्ति पौराः सर्वेऽपि विश्यतः ॥ ७०९ ॥ स्वेच्छया राज्यमादातुं दातुं वा जगतीपतिः । तत्रापि स प्रभुः स्थामविनिर्जितजगत्त्रयः ॥ ७१० ॥ यद्येवं भगवन्नेष कस्मान्नेहोपलभ्यते ? । इति क्षितीश्वरेणोक्ते जगाद

१ ०याञ्चितः ख० । २ ०वद् येन ता० ग० । ३ एव च ता० ग० ।

गणभृत्पुनः ॥७११॥ राजन् ! कर्म्मविलासोऽयमन्तरङ्गो नरेश्वरः । नान्तरङ्गा हि लोकाः स्युर्दृशां पथि भवादृशाम् ॥७१२॥ केवलं गुप्तरूपेण सर्वकार्याणि कुर्वतः । पश्यन्ति बुद्धिदृष्ट्यैव तानत्यन्तसुबुद्धयः ॥७१३॥ अथ विज्ञाततत्त्वेन प्रोचे राजा सुबुद्धिना । देव ! ज्ञातो मयाप्येष राजा योऽवर्णि सूरिभिः ॥ ७१४ ॥ देवाय कथयिष्यामि रूपमस्य परिस्फुटम् । अहमेव भदन्तैस्तु सर्वमत्र निवेदितम् ॥ ७१५ ॥ इतश्चावसरं ज्ञात्वा पूर्वं संजातबुद्धिना । तेनानतशिरस्केन प्रोक्तं मध्यमबुद्धिना ॥ ७१६ ॥ योऽयं भगवतादिष्टो भवतानवकारणम् । गृहिधर्म्मः स मे नाथ ! दीयतामुचितो यदि ॥ ७१७ ॥ सूरिरप्यवददीक्षां नादातुं शक्नुवन्ति ये । तेषां गृहस्थधर्म्मोऽसौ युक्त एव भवादृशाम् ॥ ७१८ ॥ प्रभो ! गृहस्थधर्म्मोऽसौ किंरूप इति भूभुजा । पृष्टः सम्यक्त्वमूलानि व्रतानीत्यवदद् गुरुः ॥७१९॥ ततस्तं धर्म्ममादित्सुर्गुरुं राजा व्यजिज्ञपत् । दीयतां भगवन्नेष गृहिधर्म्मो ममापि हि ॥७२०॥ योग्ययोरथ भूनाथमध्ययोः प्रददौ तयोः । कर्म्मजाड्यच्छिदाधर्म्मं गृहिधर्म्मं मुनीश्वरः ॥ ७२१ ॥ मनीषिदीक्षादानार्थमुद्यतेऽथ मुनीश्वरे । तमभाषत भूभर्त्ता भक्तिनिर्भरया गिरा ॥ ७२२ ॥ स्वामिन् ! मनीषिणानेन प्रव्रज्याऽऽत्तैव भावतः । किन्तु स्वतोषसदृशं चिकीर्षेऽस्य त्वदाज्ञया ॥ ७२३ ॥ तूष्णीकेऽथ स्थिते सूरौ भूपतिं सचिवोऽभ्यधात् । द्रव्यस्तुतिविधौ देव ! पृच्छ्यन्ते नैव साधवः ॥ ७२४ ॥ यद्यप्येते तद्विषयोपदेशं ददतेऽन्यदा । प्रवृत्तिसमये लोकानादिशन्ति तथापि न ॥ ७२५ ॥ किन्त्वेतां विहितामेतैः प्रशंसन्त्येव ते भृशम् । अस्मिन्नर्थे मनीष्येष स्वयमेवोच्यते ततः ॥७२६॥ मनीषी राजमन्त्रिभ्यामर्थेऽस्मिन्नर्थितस्ततः । तद्वचस्तेन मेने च प्रार्थना-

मङ्गभीरुणा ॥ ७२७ ॥ अथ भूभर्तुरादेशान्नियोगिपुरुषाः क्षणात् । पुरं देवगृहं तच्च चक्रिरे विततोत्सवम् ॥७२८॥ मनीषिमध्यमामात्यप्रमुखैः परिवारितः । उत्तस्थौ नरनाथोऽपि स्नात्रं कर्त्तुं जगत्पतेः ॥ ७२९ ॥ महताथ विमर्देन विदधे वसुधाधवः । स्नात्रं युगादिदेवस्य पुरस्कृत्य मनीषिणम् ॥ ७३० ॥ मनीषिसत्त्वसंतुष्टास्तदा तत्र सुरा अपि । समागत्य जिनेन्द्रस्य पूजां पुष्पोच्चयैर्व्यधुः ॥ ७३१ ॥ विलिप्य पूजयित्वा च कृत्वा चारात्रिकं प्रभोः । मनीषिनृपमुख्यास्ते भक्त्या साधून् ववन्दिरे ॥ ७३२ ॥ स्वगेहनयनायाथ समारोप्य जयद्विपे । मनीषिणं नृपो जज्ञे छत्रभृद् श्रद्धया स्वयम् ॥ ७३३ ॥ जनन्या शुभसुन्दर्योल्लासवत्याथ संश्रितः । करेणुकाधिरूढेन युतो मध्यमबुद्धिना ॥७३४॥ सुबुद्धिप्रमुखै राजलोकैः पौरैश्च नन्दितः । प्रापदापणमार्ग्गेण मनीषी नृपमन्दिरम् ॥७३५॥ युग्मम् ॥ तत्र स क्षणमाऽऽस्थानं दत्त्वा लोकान् विसृज्य च । जगाम मज्जनस्थानं भूपतेस्तोषवृद्धये ॥ ७३६ ॥ भ्रातुः सूनुमिवैतं च देवी मदनकन्दली । सर्वशुद्धान्तसंयुक्ता स्नपयामास गौरवात् ॥ ७३७ ॥ वाससी सूक्ष्मशुक्ले च परिधाय विधाय च । जिनार्चां भोजनस्थानं जगाम स गतस्मयः ॥७३८॥ तत्रानेकविधाहारं रसनाविहितोत्सवम् । बुभुजे भूभुजा साकं निरभिष्वङ्गमानसः ॥ ७३९ ॥ ततस्ताम्बूलमादाय विश्रम्य शयने क्षणम् । राजामात्यादियुक्तोऽसौ दत्त्वाऽऽस्थानीमुपाविशत् ॥ ७४० ॥ राजा सुबुद्धिमूचेऽथ सखे ! त्वदनुभावजा । सिद्धिसौधैकनिःश्रेणिः श्रेयःश्रेणिरसौ मम ॥ ७४१ ॥ यतो देवं गुरुं धर्म्मं प्रापं प्रोत्साहितस्त्वया । बभूव चेदृशा सार्द्धं

१ ०संस्थानं क० ख० ग० घ० । २ सभाम् ।

नररत्नेन मीलकः[1] ॥ ७४२ ॥ तदेवंविधकल्याणहेतुस्त्वं मेऽभवः सखे ! । त्वमेव हितकारी तद्यथार्था ते सुबुद्धिता ॥ ७४३ ॥ प्रत्युवाच महामात्यः पत्तिलेशस्य मे प्रभो ! । परभागं[2] नहीदृक्षमारोपयितुमर्हसि[3] ॥ ७४४ ॥ भाग्यसंपत् तवैवासौ सर्वकल्याणकारिणी । पुंसां परोपरोधेन न स्युः श्रेयांसि जातुचित् ॥ ७४५ ॥ मनीष्युवाच ते राजन् ! हर्षो दर्शनजो ह्यसौ । प्रभाभासनिभो भाविकैवल्यानन्दभास्वतः ॥७४६॥ आमेत्युदित्वा भूपालः सचिवं पुनरभ्यधात् । अप्यद्यदिनबुद्धानां विवेको वीक्ष्यतां सखे ! ॥ ७४७ ॥ मन्त्र्युवाचात्र किं चित्रं ? यथार्था हि मनीषिणः । प्रबुद्धा एव जायन्ते हेतुमात्रं गुरुः पुनः ॥ ७४८ ॥ इतश्च नृपमापृच्छ्य पूर्वमेव निजे गृहे । मध्यः साधर्म्मिकस्नेहान्नीत आसीत्सुबुद्धिना ॥७४९॥ तदा सोऽप्याययौ तत्र विहितस्नानभोजनः । मनीषिणा दापिते चोपविष्टो गुरुविष्टरे ॥ ७५० ॥ राजाथ मध्यमुद्दिश्य समभाषत मन्त्रिणम् । महोपकर्त्ता खल्वेष महाभागः सखे ! मम ॥ ७५१ ॥ यतोऽप्रमादाख्ययन्त्रं दुष्करं गुरुणा यदा । प्रोचेऽभूदाकुलत्वं मे भीरोरिव तदाहवे ॥ ७५२ ॥ ततोऽनेन यदा धर्मो ययाचे गृहमेधिनाम् । तं जिघृक्षोर्ममाप्युच्चैश्चित्तस्वास्थ्यमभूत् तदा ॥ ७५३ ॥ तदित्थं स्वास्थ्यदानेन ममायमुपकारकः । अमात्यः प्राह देवेन साध्वेतदवधारितम् ॥ ७५४ ॥ यतः स्याद् धर्म्मसंप्राप्तौ हेतुमात्रमपीह यः । संसारे नापरस्तस्माज्जन्तोरस्त्युपकारकः ॥७५५॥ किञ्च सान्वयनामायं ततस्तुल्यस्वभावतः । मध्यमाश्वासनं नूनं मध्यमस्यास्य युज्यते ॥ ७५६ ॥ राजा दध्याविंयत्कालं मिथ्यामानो ह्यसौ मम । बभूव

१ मेलकः क० ख० ग० । २ अतिगौरवम् । ३ ०ति क० ख० घ० ।

किल भूपत्वाद् यदहं पुरुषोत्तमः ॥ ७५७ ॥ अर्थापत्त्या त्वमात्येन साम्प्रतं गणितः पुनः । मध्यमजनलेख्येऽहं धिग् मां मिथ्याभिमानिनम् ॥ ७५८ ॥ मनीषिणमपेक्ष्यैनं त्यजद्भिर्बालचेष्टितम् । यद्वा मध्यमरेखापि मादृशै-रतिदुर्लभा ॥ ७५९ ॥ ध्यात्वेति मन्त्रिणं राजाऽवादीदार्य ! कुतो मम । तत्र चैत्ये गतस्याभूदानन्दो वचना-तिगः ॥ ७६० ॥ कथं च तस्य बालस्याध्यवसायस्तथाविधः । संपन्नः साधुलोकेऽपि तादृशे निकटस्थिते ॥७६१॥ अमात्योऽभिदधे देव! तच्चैत्यं सान्वयाभिधम्। प्रमोदशेखरं येन प्रमोदस्तेन तेऽभवत् ॥७६२। बालदुष्टा-भिसन्धेस्तु सूरिरेवाह कारणम् । किञ्च बालस्य नामैव हन्त्यमुं संशयं स्वयम् ॥७६३॥ किञ्च द्रव्यक्षेत्रकालभवभा-वाद्यपेक्षया । शुभाशुभपरिणामाः सत्त्वानां स्युरनेकधा ॥७६४॥ ततो बालस्य दोषोऽयमुद्यानक्षेत्रतोऽप्यभूत् । नृपो-ऽवोचत्कथं तर्हि तद्दोषायाभवन्न नः ॥७६५॥ सुबुद्धिः प्राह संप्राप्य सामग्रीं पुरुषादिकाम् । निजविलसिताख्यं तत् चित्रकार्यकरं वनम् ॥ ७६६ ॥ अत एव प्रभो ! तां तां सामग्रीं प्राप्य तद्वनम् । चक्रे बालास्मदादीनां स्वं स्वं भावं पृथक् पृथक् ॥७६७॥ नृपोऽवोचत् त्वयायं मेऽपनीतः संशयः सखे!। पूर्वोद्दिष्टं कर्म्मविलासरूपं कथया-धुना ॥७६८॥ मन्त्र्यूचे देव ! यद्येवमेकान्ते स्थीयतां ततः । ततो मनीष्यनुज्ञातौ तौ कक्षान्तरमीयतुः ॥७६९॥ जगाद मन्त्री ये देव ! सूरिणा वर्णिता नराः । उत्कृष्टतमा उत्कृष्टा मध्यमाश्च जघन्यकाः ॥७७०॥ तन्मध्ये प्रथमे ज्ञेयाः सिद्धाः कर्म्ममलोज्झिताः । मनीषिमध्यबालाख्याः शेषास्त्वेते यथाक्रमम् ॥ ७७१ ॥ उक्तः कर्म्मविलासो

१ यद्यहं क० ग० । २ मध्यमजनताऽपि । ३ नृपोऽथोचे त्वया क० ख० ग० घ० ।

य: स एषामेव तु प्रभो!। ईदृक्स्वरूपजनकः स्वस्वकर्मोदयो मतः ॥ ७७२ ॥ शुभसुन्दरीसामान्यरूपाऽकुशलमालिका। अमीषां मातरो देव! याः सूरिभिरुदाहृताः ॥७७३॥ तिस्रोऽस्य परिणतयः स्वस्वकर्मोदयस्य ताः। शुभमिश्राशुभरूपाः परिज्ञेया यथाक्रमम् ॥ ७७४ ॥ प्रसूतवत्यस्ता एवैतानेवंविधरूपिणः। आख्यातः स्पर्शनो यस्तु तद् दुष्टं स्पर्शनेन्द्रियम् ॥७७५॥ तच्छ्रुत्वा भूपतिर्दध्यावन्यव्याजेन सूरिभिः। सान्वयाहैरिदं सर्वं प्रोक्तमासीत्पुरो मम ॥ ७७६ ॥ केवलं न मया सम्यक् परिज्ञातं तदा हृदि। सुबुद्धिर्ज्ञातवान् यन्नु साधुसङ्गोऽत्र कारणम् ॥७७७॥ ध्यात्वेत्यभिदधे राजास्माभिः संप्रत्ययं सखे!। वृत्तान्तो विदितः सम्यक् किन्त्वेतदधुनोच्यते ॥ ७७८ ॥ कालं कियन्तमप्येष मनीषी चेत् प्रतीक्षते। वयमप्यमुना सार्द्धमेवाऽऽदद्मस्तदा व्रतम् ॥ ७७९ ॥ क्षणमप्यासितुं शक्ता यन्नास्य विरहे वयम्। तादृग् नाद्यापि चारित्रवासना जायते च नः ॥ ७८० ॥ तत्तथा कथमप्यार्य! प्रलोभय मनीषिणम्। यथा विषयभागेष कि(क०)ञ्चित्कालं विलम्ब्यते ॥७८१॥ मन्त्र्युवाच प्रभोराज्ञा प्रमाणं सर्वथा मम। तथापि किञ्चिदत्रार्थे देवं विज्ञापयाम्यहम् ॥ ७८२ ॥ देवेनोक्तं वयं सोढुं यन्नास्य विरहं क्षमाः। तद्युक्तं पक्षपातो हि गुणे(०णि)षु सुकृतावहः ॥ ७८३ ॥ यत्पुनर्लोभयित्वैनं कञ्चित् कालं प्रतीक्षय। इत्यादिष्टं न तद्देव! युक्तं मे प्रतिभासते ॥ ७८४ ॥ यतः स्नेहो भवन्नैवं प्रव्रज्यारज्जुकर्त्तनात्। अस्मिन् प्रत्युत वैरित्वं निर्यियासौ भवावटात् ॥ ७८५ ॥ न चैष विषयैर्देव! दैविकैरपि लोभ्यते। हित्वा मोहं ततः कार्यः कार्येऽस्य प्रभुणादरः ॥ ७८६ ॥

१ यस्तु सा० क० ख० ग० घ०। २ किञ्चित् ग०।

आमेत्युक्त्वाथ पप्रच्छ सत्वरं व्रतवासरम् । सांवत्सरं समाहूय सिद्धार्थं नाम पार्थिवः ॥ ७८७ ॥ दिनादस्माद्दिनं साधु नवमं देव ! विद्यते । इत्युक्तवन्तं भूपालस्तं सत्कृत्य विसृष्टवान् ॥७८८॥ गते तत्र दिने राजाऽकारयद्दिवसाष्टकम् । पूजां समस्तचैत्येषु महोत्सवपुरःसरम् ॥ ७८९ ॥ तेषु च द्विरदारूढो मनीषी जिनवन्दनाम् । समेतः क्षितिशक्रेण चक्रे शक्र इवान्वहम् ॥ ७९० ॥ अष्टमे च दिने प्राप्ते कृतसर्वोचितक्रियः । विहितोदारनेपथ्यः प्रधानं रथमास्थितः ॥ ७९१ ॥ सारथीभूतभूपालो वारस्त्रीधृतचामरः । धृतश्वेतमहाच्छत्रो बन्दिवृन्दकृतस्तुतिः ॥७९२॥ रथारूढैर्मध्यबुद्धिसुबुद्ध्यादिभिरावृतः । कुर्वन् पौरदृगानन्दमर्थिसार्थं कृतार्थयन् ॥ ७९३ ॥ चतुरङ्गचमूपेतः प्रेक्ष्यमाणः सुरैरपि । मनीपी व्रतमादातुं तदुद्यानमथागमत् ॥ ७९४ ॥ कलापकम् ॥ इतश्च स्यन्दनारोहादारभ्यालोकयन्नृपः । रूपं मनीपिणः सत्त्वपरीक्षार्थं विशेपतः ॥ ७९५ ॥ परं न लक्षितः कोऽपि तस्य निर्मलचेतसः । विकारस्तादृशे हर्पहेतौ सत्यपि भूभुजा ॥ ७९६ ॥ गुणिरागादथं क्षीणतद्विबन्धककर्म्मणः । आविर्बभूव चारित्रपरिणामो महीपतेः ॥ ७९७ ॥ देव्या मदनकन्दल्याः सामन्तानां च भूपतिः । सुबुद्धेर्मध्यबुद्धेश्च तं भावं निजमाख्यत ॥ ७९८ ॥ तैरप्युद्भूतचारित्रपरिणामैरथोदितम् । चारु चारूदितं देव ! युक्तमेतद्भवादृशाम् ॥ ७९९ ॥ सत्त्वं विलोक्य देवस्य तथैतस्य मनीपिणः । अस्माकमपि नो चित्तं संसारे रमतेऽधुना ॥ ८०० ॥ साधु साध्विति भूपालः प्रत्येकमुपवर्ण्य तान् । तदैव स्थापयामास राज्ये सूनुं सुलोचनम् ॥ ८०१ ॥ जिनवेश्म

१ ज्योतिपिनम् । २ ०वक्षी० ग० ।

प्रविश्याथ पूजयित्वा जगद्गुरुम् । गुरुभ्यो निजमाकूतं ते सर्वेऽप्याचचक्षिरे ॥ ८०२ ॥ सर्वसन्तापहारिण्या सूरिस्तानथ दीक्षया । अन्वग्रहीच्चन्द्रिकया चकोरानिव चन्द्रमाः ॥ ८०३ ॥ तेषां संवेगवृद्ध्यर्थं कल्पोऽयमिति च क्षणम् । विहिता जनताध्यक्षं सूरिभिर्धर्म्मदेशना ॥ ८०४ ॥ अथ पप्रच्छ राजर्षिः शुद्धं यादृग्मनीषिणः । चित्तं तादृशमन्यस्य कस्याप्यस्ति क्वचित्प्रभो ! ॥ ८०५ ॥ सूरिरूचे त्वया यास्य ज्ञाताम्बा शुभसुन्दरी । यावन्तस्तत्सुतास्तेषां सर्वेषामीदृशं मनः ॥ ८०६ ॥ राजर्षिर्जनबोधाय पुनः प्रोचे विदन्नपि । भगवन् ! शुभसुन्दर्याः किं सन्ति बहवः सुताः ? ॥८०७॥ जगाद गुरुरायुष्मन् ! ये केचन जगत्त्रये । मनीषिसदृशाः सत्त्वास्ते सर्वेऽस्या ध्रुवं सुताः ॥ ८०८॥ किञ्च विश्वत्रयेऽप्यत्र जना ये मध्यमोपमाः । ते सर्वे खलु सामान्यरूपायास्तनयाः स्मृताः ॥ ८०९ ॥ ये पुनर्बालकनिभा भविनो भुवनत्रये । सर्वेऽकुशलमालाया विज्ञेयास्ते तनूद्भवाः[1] ॥८१०॥ राजर्षिरूचे यद्येवमेवं तर्हि व्यवस्थिते । स्वचित्ते भगवन्नेतदधुना निश्चितं मया ॥ ८११ ॥ भार्यात्रयेण यत्तस्य जघन्योत्तममध्यमम् । सर्वं कर्म्मविलासस्य जगदेतत्कुटुम्बकम् ॥ ८१२ ॥ सूरिरूचे न संदेहः सम्यगार्येण लक्षितम् । मार्गानुसारिणी बुद्धिर्भवत्येव भवादृशाम् ॥ ८१३ ॥ तदेवं च स्थितेऽवश्यं त्यक्तव्यं बालचेष्टितम् । मनीषिचरिते यत्नः कर्त्तव्यो मध्यबुद्धिभिः ॥ ८१४ ॥ कुसंसर्गाच्च बालस्य बभूवुः क्लेशराशयः । तस्मात् स एव यत्नेन हातव्यः सुखकाङ्क्षिभिः ॥ ८१५ ॥ कुसंसर्गपरित्यागादिहापि सुखभाजनम् । मनीषी समभूदेष परत्र च शिवं गमी ॥८१६॥

[1] पुत्राः ।

इत्युक्तवन्तं तं सूरिं नत्वा मुदितमानसाः । सुरासुरनराः सर्वे स्थानं निजनिजं ययुः ॥ ८१७ ॥ विजहारान्यतः सूरिर्मनीष्यथ शिवं क्रमात् । प्रययौ देवलोकं तु मध्यबुद्ध्यादिसाधवः ॥ ८१८ ॥ बालस्य तु यदादिष्टं सूरिभिर्भाविचेष्टितम् । तत्तथैवाखिलं जातं नान्यथा ज्ञानिनां वचः ॥ ८१९ ॥ [इति] स्पर्शनकथानकम् ॥ कथानकमिदं तन्मे शृण्वतो लङ्घितं दिनम् । तेनाऽऽगममहं न ह्यः कुमार ! भवदन्तिके ॥ ८२० ॥ अथावोचमहं भद्र ! सुन्दरं विदधे त्वया । श्रोतुं युज्यत एवासौ कथाद्भुतरसप्रपा ॥ ८२१ ॥ अहो ! अतिदुरन्तेयं पापमित्रस्य संगतिः । यतोऽजायन्त बालस्य केवलं क्लेशराशयः ॥ ८२२ ॥ विदुरोऽचिन्तयत्तावत् कथार्थो विदितोऽमुना । ततो वचोऽवकाशो मे भविता संप्रति ध्रुवम् ॥ ८२३ ॥ इतश्चादूरदेशस्थः श्रुत्वा तद्वचनं मम । वैश्वानरः स साशङ्कश्चिन्तयामासिवानिदम् ॥ ८२४ ॥ कुमारस्यायमुल्लापः सुन्दरो मे न भासते । दुष्टोऽयं विदुरो ह्यस्य मद्रूपं ज्ञापयिष्यति ॥ ८२५ ॥ विदुरोऽथावदच्चारु कुमारेणावधारितम् । किञ्चाख्यानमिदं श्रुत्वा मयापीदं विचिन्तितम् ॥ ८२६ ॥ कदाचिदपि नो पापमित्रसङ्गः प्रजायते । चेन्नन्दिवर्द्धनस्यापि ततो भवति सुन्दरम् ॥ ८२७ ॥ नैष मे भविता भद्र ! कदापीति मयोदिते । विदुरोऽथ मम स्थित्वा कर्णाभ्यर्णेऽभ्यधात् पुनः ॥ ८२८ ॥ दुष्टो वैश्वानरोऽप्येष श्रूयते लोकवार्त्तया । सम्यक् परीक्ष्य एवायं कुमार ! भवता ततः ॥ ८२९ ॥ स्पर्शनो बालकस्येव माभूदेष तवापि हि । पापमित्रतयानर्थसन्ततेः कारणं परम् ॥ ८३० ॥ अत्रान्तरे कुरङ्गाक्षि ! वैश्वानरनिदेशतः । क्रूरचित्ताभिधानं तद् वटकं भक्षितं मया ॥ ८३१ ॥ ध्मातताम्रोपमं वक्त्रं

विभ्रत्तदनुभावतः। विदुरं निष्ठुरैर्वाक्यैरवादिषमिदं ततः ॥८३२॥ पाप! निस्त्रप! मां बालकल्पं त्वं कल्पयस्यरे!। अमेयमहिमानं च मन्मित्रं स्पर्शनोपमम् ॥ ८३३ ॥ मयैवं विब्रुवाणेन विदुरस्य दुरात्मना। दत्ता चपेटा चार्वङ्गि! कपोलप्रविदारिणी ॥ ८३४ ॥ महता फलकेनाथ प्रहर्तुं धाविते मयि। विदुरः स पलायिष्ट [1]वेपमानव-पुर्भयात् ॥ ८३५ ॥ श्रुत्वा मदीयवृत्तान्तं [2]तं सर्वमथ तन्मुखात्। तातोऽस्थाद् यद्भविष्यत्तामालम्ब्योपाय-वर्जितः ॥८३६॥ अधीताशेषविद्यस्य प्राप्तस्य नवयौवनम्। ततोऽथ पृथगावासं परिवारं च मे ददौ ॥ ८३७ ॥ सांसारिकसुखैस्तैस्तैर्ललमानस्य मे ततः। कियन्त्यप्यमरस्येव दिनानि व्यतिचक्रमुः ॥ ८३८ ॥ अथान्येद्युरहं यावत् तातं नत्वा निजौकसि। आगां तावद्भूद्राजकुले कलकलो महान् ॥ ८३९ ॥ प्रस्थितोऽहं ततो यावत्सं-भ्रान्तस्तं प्रति द्रुतम्। सेनानीर्धवलस्तावदभ्यागच्छन्मयेक्षितः ॥ ८४० ॥ मामेत्य नत्वा स प्राह देवस्त्वामादि-शत्यदः। यदितस्त्वयि निर्याते दूतोऽभ्येत्यैवमाख्यत ॥ ८४१ ॥ राज्ञः कनकचूडस्य सूनुः कनक-शेखरः। कुशावर्त्तपुरात्तातापमानेन समागतः ॥ ८४२ ॥ युष्मत्समीपमधुना वने मलयनन्दने। बहिरस्त्ये-तदाकर्ण्य प्रमाणं देव एव हि ॥ ८४३ ॥ युग्मम् ॥ तच्छ्रुत्वासन्नबन्धुं तं प्रत्युद्गन्तुं वयं स्वयम्। चलिताः स्मस्त्वमप्येहीत्याख्यातुं प्रहितोऽस्म्यहम् ॥ ८४४ ॥ गत्वाहमथ तातस्य मिलितः सबलो बले। अप्राक्षं धवलं बन्धुः कथं ? कनकशेखरः ॥ ८४५ ॥ धवलः प्राह कनकचूडस्त्वन्मातृसोदरः। अतो

१ कम्पमान० ग०। २ सर्वमप्यथ ग०।

मातुलजोऽयं ते भ्राता कनकशेखरः ॥ ८४६ ॥ अथान्तिकगतस्तातः कृतपादनमस्कृतिम् । समालिलिङ्ग तं गाढं प्रेम्णा कनकशेखरम् ॥ ८४७ ॥ कृतायामस्य योग्यायां प्रतिपत्तौ मयापि च । महता तं विमर्देन निजावासेऽनयन्नृपः ॥ ८४८ ॥ ताताम्बाभ्यां च स प्रोचे चारु ! चारु ! त्वया कृतम् । स्वाननेन्दुं दर्शयित्वास्माकं यत्त्वमदा मुदम् ॥ ८४९ ॥ कुमारैतदपि प्राज्यं राज्यं पैतृकमेव ते । निर्विकल्पमनास्तिष्ठ तस्मादत्र यथासुखम् ॥ ८५० ॥ उक्त्वेत्यस्यार्पयत्तातो वेश्म मद्वेश्मसन्निधौ । स्थितस्यात्र च कालेन स्नेहः सह मयाऽभवत् ॥ ८५१ ॥ अन्यदा विजने पृष्टो मया कनकशेखरः । जनकस्यापमानेन भवानत्रागतः किल ॥ ८५२ ॥ जनकेन ततः कीदृगपमानः कृतस्तव । इत्यहं श्रोतुमिच्छामि ततः सोऽप्येवमाख्यत ॥ ८५३ ॥ तातेन चूतमञ्जर्या जनन्यात्यन्तलालितः । कुशावर्त्तपुरे तावदहमासं कुमारकः ॥ ८५४ ॥ अन्यदा मित्रवृन्देन कलितः केलिलालसः । गतः शमावहं नाम काननं नन्दनोपमम् ॥ ८५५ ॥ मूर्त्तिमानिव सद्धर्म्मस्तत्राशोकतरोस्तले । ध्यानस्थितो मयाऽदर्शि दत्तनामा मुनीश्वरः ॥ ८५६ ॥ नत्वोपविष्टस्तं हृष्टः समित्रोऽहं तदग्रतः । ध्यानं सोऽप्युपसंहृत्य ददावस्माकमाशिषम् ॥ ८५७ ॥ अथ पृष्टो मया धर्म्मं श्रद्धया श्रमणाग्रणीः । श्रमणश्राद्धभेदेन स द्विधा तमचीकथत् ॥ ८५८ ॥ गृहिधर्म्मं गृहीत्वाहं स्वगृहे मुदितस्ततः । सचयस्यः समायातो मुनिरप्यन्यतो गतः ॥ ८५९ ॥ अन्यान्यश्रावकैः सार्द्धं विदधानस्य संगतिम् । दृढा पाषाणरेखेव ममाभूद्धर्म्मवासना

१ समा० क० ख० ग० घ० । २ साकं वि० क० ख० ग० घ० ।

॥ ८६० ॥ सोऽन्येद्युः पुनरायातो गत्वोद्याने मुनिर्मया । नत्वाऽपृच्छि भदन्तेह[1] किं सारमथ सोऽवदत् ॥ ८६१ ॥ अहिंसाध्यानयोगश्च रागादीनां विनिग्रहः । साधर्म्मिकानुरागश्च सारमेतज्जिनागमे ॥ ८६२ ॥ मयाथ चिन्तितं तावदहिंसादित्रयं मया । कर्त्तुं न शक्यमारम्भविषयादिनिषेविणा ॥ ८६३ ॥ साधर्मिकानुरागे तु प्रयतिष्ये स्वशक्तितः । निश्चित्येति यतिं नत्वाऽऽजगामाहं स्वमाश्रयम् ॥ ८६४ ॥ तातानुज्ञामथ प्राप्य ततः प्रभृति सर्वतः । साधर्मिकाणां वात्सल्यं मया कर्त्तुं प्रचक्रमे ॥ ८६५ ॥ भोजनाच्छादनद्रव्यालङ्काराद्यैरतोषयम् । साधर्मिकान् यथाकामं बन्धूनिव निजानहम् ॥ ८६६ ॥ परमेष्ठिनमस्कारमपि धत्ते च यो जनः । स देशे घोषणा-पूर्वं विहितोऽकरदो मया ॥ ८६७ ॥ रथयात्राजिनस्नात्राष्टाहिकादिमहोत्सवैः । एकच्छत्रमभूद्राज्यं तदार्हद्धर्म्म-भूपतेः ॥८६८॥ तां तादृशीमथालोक्य जिनधर्म्मप्रभावनाम् । मिथ्यादृग् दुर्मुखो नाम मन्त्री प्रद्वेषमादधौ ॥८६९॥ दोषयादोमहाम्भोधिः स दुरात्माहितः किल । रहसि स्थितमन्येद्युस्तातमेवं व्यजिज्ञपत् ॥ ८७० ॥ देवायं नीतिमुल्लङ्घ्य धर्म्मव्याजेन विप्लवः । यः प्रारम्भि कुमारेण सुन्दरो मे न भाति सः ॥ ८७१ ॥ न लुम्पन्ति हि मर्यादां करदण्डभिया जनाः । ते मुक्ता मुत्कलाचाराः कमनर्थं न कुर्वते ? ॥८७२॥ अकार्येऽत्र प्रवृत्तेषु तेषु स्वच्छन्द-चारिषु । कस्यात्र यूयं राजानः किं वा राज्यं विनाज्ञया ॥ ८७३ ॥ तदिदं यत् कुमारेण देव ! प्रारम्भ्यलौकिकम् । राजनीतेः समुत्तीर्णं बुद्ध्यते तन्न सुन्दरम् ॥ ८७४ ॥ तातः प्राहार्य ! यद्येवं स्वयमेवोच्यतां त्वया । कुमारो न वयं

१ इह=जिनशासने ।

तस्य संमुखं भाषितुं क्षमाः ॥ ८७५ ॥ तातादेशमवाप्यैवमथागत्य स दुर्मुखः । सप्रपञ्चं तथैवोचे ममापि पुरतः शठः ॥ ८७६ ॥ अपि प्रादुर्भवत्कोपविह्वलीभूतचेतसा । न्यगद्यत मया सोऽथ विधायाकारसंवरम् ॥ ८७७ ॥ आर्य ! युक्तमिदं वक्तुं तदा मां प्रति यद्यहम् । पारदारिकचौरादिदुष्टानां विदधेऽर्चनम् ॥ ८७८ ॥ ये तु स्वगुणमाहात्म्याद् देवानामपि पूजिताः । पूजायां महतां तेषां कोऽस्माकं धर्म्मविप्लवः ? ॥८७९॥ एते च करदण्डाभ्यां मुक्ता अपि महाशयाः । नानीतिं कुर्वते क्वापि सदाचारपथाध्वगाः ॥ ८८० ॥ तथा नाथो जगन्नाथो येषामेतेषु किङ्करः । यः स्याद्राजा स एवात्र राजा शेषास्तु किङ्कराः ॥ ८८१ ॥ एवं चाचरता ब्रूहि ? राजनीतेर्विलङ्घनम् । किं मया विदधे ? येन भवानेवं प्रजल्पति ॥ ८८२ ॥ अलीकं धर्म्मवात्सल्यं मदीयं वदता पुनः । परिस्फुटीकृतं नूनं दुर्मुखत्वं त्वयात्मनः ॥८८३॥ अथ विज्ञाय मे भावं स दध्याविति दुर्मुखः । निबिडा तावदेतस्य वासना जिनशासने ॥८८४॥ तथापि हि मयात्रार्थे परिपुष्टोऽस्ति भूपतिः । स्वयमेव ततोऽवश्यं विधास्ये स्वसमीहितम् ॥८८५॥ सान्त्वयाम्यधुना त्वेनमिति ध्यात्वाऽवदत्स माम् । भवच्चित्तपरीक्षार्थं कुमारैतन्मयोदितम् ॥८८६॥ नान्यथा तत् कुमारेण विचार्यं वचनं मम । इत्युक्त्वा निरगादेष दुर्मुखो मत्समीपतः ॥८८७॥ अथाहं चिन्तयामास पापात्मैष ध्रुवं शठः । यदेवमभ्यधात् पूर्वमाकूतेन महीयसा ॥ ८८८ ॥ पश्चात् पुनर्झटित्येव चकाराकारसंवरम् । तन्न विज्ञायते हन्त किमसावाचरिष्यति ॥ ८८९ ॥ ध्यात्वेति तस्य वृत्तान्तं ज्ञातुं प्राहिणवं चरम् । चतुराख्यं स चागत्य दिनैः कैश्चिन्ममाख्यत ॥ ८९० ॥ इतस्तावदहं गत्वा देवादेशेन दुर्मुखम् । विनयेन समाराध्य

जातस्तस्याङ्गरक्षकः ॥ ८९१ ॥ स चान्यदा समाहूय श्रावकानभ्यधादिति । अरे ! कुमारो यद्धर्म्मग्रहिलो वः प्रयच्छति ॥८९२॥ यश्च भूमीभृदाऽऽभाव्यः सम्भूतो भवतां करः । समर्प्पणीयं तत्सर्वमपि प्रच्छन्नमेव मे ॥८९३॥ कथितं च कुमारायैतत् चेत् तद्वो न जीवितम् । ऊरीकृत्य तदादेशं श्रावकास्ते ययुस्ततः ॥८९४॥ इदं च दुर्मुखा-देव ज्ञातं राज्ञा तथापि सः । केनापि हेतुना तस्थौ कृत्वा गजनिमीलिकाम् ॥८९५॥ अथाध्यायमहं ताताभिप्रेत-मकरोदिदम् । दुर्मुखः स्वधिया कुर्याद् यद्यं शिक्ष्यते ततः ॥ ८९६ ॥ तातेन तु सहास्माकं विग्रहो नैव युज्यते। पितरौ दुष्प्रतीकारौ यतो भगवतोदितौ ॥ ८९७ ॥ नापीदृशमिमं द्रष्टुमिदानीं शक्यते मया । अपक्रमणमेवेतस्त-स्माच्चारुतरं मम ॥ ८९८ ॥ पर्यालोच्येत्यनाख्याय कस्याप्याप्तसुहृद्युतः । अत्रागच्छमहं तातापमानस्तदसौ मम ॥ ८९९ ॥ अथावोचमहं साधु कुमार ! भवता कृतम् । इहायातोऽसि यत् त्यक्त्वा पराभवपदं पदम् ॥ ९०० ॥ स्वदेशमपि मुञ्चन्ति मानम्लानौ हि मानिनः । तेजोहानौ व्रजत्येव द्वीपान्तरमहस्करः ॥ ९०१ ॥ एवं परस्परप्रीत्या दशरात्रे व्यतीयुषि । तिष्ठतोर्नौ मदावासे ताताह्वानमुपाययौ ॥ ९०२ ॥ तातान्तेऽथ गता-वावां यावत्तावन्नराज्ञयः । उत्थाय सदसो हृष्टा नेमुः कनकशेखरम् ॥ ९०३ ॥ कुतः सुमतिकेसरिवराङ्गाः ? इति जल्पता । ऊर्ध्वीकृत्याथ सस्नेहं तेन ते परिरेभिरे ॥९०४॥ एते मदीयतातस्य माननीया महत्तमाः । इत्याचख्यौ मया पृष्टो हृष्टः कनकशेखरः ॥ ९०५ ॥ सर्वेऽप्यथ समासीना विहितप्रतिपत्तयः । ताताभ्यर्णे ततस्तातः प्रोचे

१ ०भ्यर्णे त० क० घ० ।

कनकशेखरम् ॥ ९०६ ॥ कुमारामीभिराख्यातमिदं त्वत्तातमन्त्रिभिः । यतः प्रभृत्यनाख्याय कुमारो निर्ययौ गृहात् ॥ ९०७ ॥ ततः प्रभृति मूर्च्छन्तौ विलपन्तौ च भूरिशः । प्रापतुर्न रतिं क्वापि दीनौ देवीनरेश्वरौ ॥९०८॥ युग्मम् ॥ तद्दुःखदुःखादाक्रन्दमुखे जाते जनेऽपि हि । संभूय बोधयामासुः सचिवास्तौ मृदूक्तिभिः ॥ ९०९ ॥ तथाप्यचेतयन्तौ तौ तत्प्राणत्यागभीरुकः । चतुरो ज्ञापयामास सहेतुं त्वदपक्रमम् ॥ ९१० ॥ कुमारो विद्यते तावदिति तौ लब्धचेतनौ । जगाम क्व स इत्युक्तौ चतुरं तमपृच्छताम् ॥ ९११ ॥ ततः सोऽप्यब्रवीत् किञ्चिदाख्यातं मम तेन न । यानहेतुरपि मया चतुरत्वेन लक्षितः ॥ ९१२ ॥ किन्तु संभावयाम्येतद्गतो भावी जयस्थले । यतः पितृष्वसा नन्दा पद्मराजश्च वत्सलौ ॥ ९१३ ॥ साधु ज्ञातं त्वयेत्युक्त्वा[1] चतुराय नृपो ददौ । तुष्टिदानं दुर्मुखं तु सदोषं निरवासयत् ॥ ९१४ ॥ भोजनं कार्यमावाभ्यां कुमारे खलु वीक्षिते । इति प्रतिज्ञां चक्राते ततो देवीनरेश्वरौ ॥ ९१५ ॥ इतः कनकचूडं तं नृपं तत्रैव वासरे । वेत्रिणा सूचितोऽभ्येत्य दूतः कोऽपि व्यजिज्ञपत् ॥ ९१६ ॥ अस्ति पूर्यां विशालायां नन्दनो नाम भूपतिः । तस्य प्रभावतीपद्मावत्यौ च दयिते उभे ॥ ९१७ ॥ तयोर्यथाक्रमं पुत्र्यौ तत्राद्या विमलानना । परा रत्नवती नाम रतिप्रीती इवापरे ॥ ९१८ ॥ इतश्च कनकपुरे प्रभावत्याः सहोदरः । अस्ति प्रभाकरो राजा तत्पुत्रस्तु विभाकरः ॥ ९१९ ॥ तस्मै च प्रददौ सत्यप्रतिज्ञा सा प्रभावती । निजां दुहितरं पूर्वप्रपन्नां विमलाननाम् ॥ ९२० ॥ सान्यदा गुणसंभारभावितं

१ इत्युक्त्वा च० ग० ।

विमलानना । शुश्राव मागधैः पठ्यमानं कनकशेखरम् ॥ ९२१ ॥ तत्र जातानुरागाथ त्यक्तान्यसकलक्रिया । योगिनीव परात्मानं ध्यायन्त्यस्ति तमेव[1] सा ॥९२२॥ तस्यास्तादृगवस्थानदर्शनादखिलेऽप्यथ । विषीदति परीवारे दध्यौ रत्नवती सुधीः ॥९२३॥ यतः प्रभृति शुश्राव नाम[3] कानकशेखरम् । ततः प्रभृत्यसौ जज्ञे स्वान्तशून्या मम स्वसा ॥९२४॥ मुग्धाया नूनमेतस्याश्चित्तचौरः स एव तत् । तातायाख्यामि तदिदं तं निगृह्णात्ययं यथा ॥ ९२५ ॥ विचिन्त्येति तयाख्याते भूपालोऽपि व्यचिन्तयत् । विभाकराय दत्तेयं प्रभावत्यास्ति यद्यपि ॥९२६॥ तथापि नान्यथा संप्रत्येतस्या जीवितं भवेत् । तत् प्रेष्यतेऽसौ कनकशेखराय स्वयंवरा ॥ ९२७ ॥ कथञ्चिद् बोधयिष्यामः पश्चादपि विभाकरम् । ध्यात्वेति स तथाकुर्वन् रत्नवत्येति भाषितः ॥९२८॥ ताताहमपि यास्यामि विमलाननया सह । अस्या हि विरहे नाहं स्थातुं क्षणमपि क्षमा ॥९२९॥ किन्तु नाहं करिष्यामि पतिं कनकशेखरम् । यदङ्गनानां सापत्न्यं महद्वैरस्य कारणम् ॥९३०॥ तदभीष्टस्य मित्रस्य पत्न्या भाव्यं मया ततः । भवत्वेवमिति प्रोच्य तामपि प्राहिणोन्नृपः ॥९३१॥ नन्दनोर्वीशनन्दिन्यौ[4] ते च नित्यप्रयाणकैः । देवाद्य बहिरुद्यानेऽत्र विद्येते समागते ॥९३२॥ ताभ्यां च विज्ञपयितुं स्वरूपं प्रहितोऽस्म्यदः । देवपादान्तिके देवः प्रमाणमधुना ततः ॥ ९३३ ॥ श्रुत्वा कनकचूडस्तत् ततः कन्यकयोस्तयोः[5][6] । आवासं दापयामास शूरसेनबलाधिपात् ॥ ९३४ ॥ अस्मान्सुमतिकेसरि-

---

१ त्वमेव क० ग० घ० । २ पुरी क० घ०, पुरा ख० ग० । ३ नाम कन० ख०, नामा कन० क० घ०, नाम्ना कन० ग० । ४ ०नन्दन्यौ ता० क० ग० घ० । ५ स कन्ययोस्तयोः ख० । ६ ०द्वयोः ग० ।

वराङ्गानथ पार्थिवः । समाहूय समादिक्षद् विपादानन्दपूरितः ॥ ९३५ ॥ कन्याऽऽगतिः पश्यताहो ! हर्षकारणमप्यसौ । घृताहुतिनिभा भाति कुमारविरहानले ॥९३६॥ तद् यात यूयमस्त्येव कुमारो हि जयस्थले । कन्याऽऽगतिं ममात्रस्थां चाख्यातुं पद्मभूभुजे ॥९३७॥ एतद् द्वयमपि श्रुत्वा कुमारं स प्रहेष्यति । किञ्चानेन सहाऽऽनेयः कुमारो नन्दिवर्द्धनः ॥ ९३८ ॥ अयमेव यतो रत्नवत्याः समुचितो वरः । इत्युक्त्वा प्रेषितास्तेन वयमत्र समागताः ॥ ९३९ ॥ एतैस्तदिदमाख्यातमस्मभ्यं वत्स ! मन्त्रिभिः । एवं व्यवस्थितेऽस्माभिर्भवतोरिदमुच्यते ॥ ९४० ॥ कुरुतं माधुना कालविलम्बं लघु गच्छतम् । राज्ञः कनकचूडस्य चित्तानन्दकृते युवाम् ॥ ९४१ ॥ युवयोर्विरहोऽस्माभिः सोढुं यद्यपि नेश्यते[1] । कार्यगौरवमालोच्य तथापि प्रेषितौ युवाम् ॥ ९४२ ॥ अथ तं[2] पितुरादेशं प्रतीष्यावां ससंमदौ । प्रस्थितौ प्रवरामात्यचतुरङ्गबलान्वितौ ॥ ९४३ ॥ व्यक्ताव्यक्तौ च तौ वैश्वानरपुण्योदयौ मया । सार्द्धं प्रचेलतुर्मार्गो लङ्घितोऽथ कियानपि ॥ ९४४ ॥ इतश्च नरकद्वारभूतं दुष्टजनाश्रयः । जन्मभूरस्त्यनर्थानां रौद्रचित्ताभिधं पुरम् ॥९४५॥ तत्रानीतिपरः शिष्टविद्वेषी दुष्टसंग्रही । दुष्टाभिसन्धिनामास्ति राजा चरटसन्निभः ॥ ९४६ ॥ अनभिज्ञा परार्त्तीनामनुरक्ता निजे प्रिये । प्रियास्य निष्करुणताभिधाना पूतनाकृतिः ॥ ९४७ ॥ वृद्धिहेतुः पुरस्यास्य[3] वल्लभा तन्निवासिनाम् । तयोर्हिंसाभिधा चास्ति दुहितात्यन्तभीषणा ॥ ९४८ ॥ इतस्तामसचित्ताख्ये नगरेऽस्ति नरेश्वरः । सूनुर्द्वेषगजेन्द्राख्यो महामोहमहीपतेः ॥ ९४९ ॥ इतो वैश्वानरस्याम्बा

१ नेक्ष्यते क० ख० ग० घ० । २ अथ तं क० ख० ग० । ३ रौद्रचित्तपुरस्य ।

प्रागुक्ता याऽविवेकिता । सा तस्य भूभुजो भार्या भवत्यम्भोजलोचने ! ॥ ९५० ॥ सा च वैश्वानरे गर्भस्थिते तामसचित्ततः । रौद्रचित्तपुरे तत्राऽऽययौ केनापि हेतुना ॥ ९५१ ॥ स हेतुः सकलत्रस्य सपुरस्य च भूभुजः । समग्रोऽपि व्यतिकरश्चोत्तरत्र प्रचक्ष्यते ॥ ९५२ ॥ स्वरूपं चेदृशं भद्रे ! नाज्ञासिषमहं तदा । सदागमानुभावात्तु मया ज्ञात्वाऽधुनोच्यते ॥ ९५३ ॥ अविवेकितायास्तत्र स्थितायाः समजायत । दुष्टाभिसन्धिना तेन सार्द्धं परिचय-स्ततः ॥ ९५४ ॥ यतो द्वेषगजेन्द्रस्य प्रतिबद्धः स भूपतिः । ततोऽविवेकितामेतां स्वामिनीं मन्यते सदा ॥ ९५५ ॥ अथाऽविवेकिता सा मां मत्वा मर्त्यगतौ गतम् । रौद्रचित्तात् ततोऽभ्येत्य स्नेहेनास्थान् मदन्तिके ॥ ९५६ ॥ मज्जन्माह्न्येव साऽसूत वैश्वानरमिमं सुतम् । आत्मस्वजनवर्गं च क्रमादस्मै न्यवेदयत् ॥ ९५७ ॥ वैश्वानरस्य तस्यैवं ततश्चिन्ताऽभवत्तदा । रौद्रचित्ते नयाम्येनं कुमारं नन्दिवर्द्धनम् ॥९५८॥ दापयामि च तां हिंसामस्मै दुष्टा-भिसन्धिना । येन जातु न मे क्वापि कार्ये व्यभिचरत्यसौ ॥ ९५९ ॥ अथोक्तस्तत्र यानाय तेनाहमिदमभ्यधाम् । तत्रागच्छन्तु कनकशेखराद्या इमेऽपि किम् ? ॥ ९६० ॥ ततो वैश्वानरोऽवादीदन्तरङ्गमिदं पुरम् । एकेनैव मया सार्द्धं यातव्यं तत्र तत्त्वया ॥ ९६१ ॥ ततस्तद्वचसा तत्र गतोऽहं तेन संयुतः । अज्ञानहतचित्तत्वादविमृष्ट-हिताहितः ॥ ९६२ ॥ वैश्वानरोपरोधेन दत्तां दुष्टाभिसन्धिना । तत्रोपयम्य तां हिंसां मिलितोऽहं पुनर्बले ॥ ९६३ ॥ मार्गेऽथ गच्छता वैश्वानरेणाहमभाषिषि । कुमाराद्य कृतार्थोऽहं हिंसया ते विवाहनात् ॥ ९६४ ॥

१ द्वेषगजेन्द्रस्य । २ दुष्टाभिसन्धिः । ३ ज्ञात्वा क० ख० ग० घ० ।

किन्त्वियं स्यात् कुमारस्यानुरक्ता सर्वदा यदि । ततो रम्यं मया प्रोचे भाव्युपायोऽत्र कः पुनः ? ॥ ९६५ ॥ स प्राहायमुपायोऽत्र यन्नाशङ्क्यं त्वया क्वचित् । निर्मन्तुं वा समन्तुं वा जन्तुं मारयता हठात् ॥ ९६६ ॥ सरागया किमनया भवितेति मयोदिते । स पुनः प्राह मत्तोऽपि सप्रभावेयमुच्चकैः ॥ ९६७ ॥ मयाऽऽलीढो नरो यस्मात् केवलं त्रासयेज्जनान् । श्लिष्टोऽनया पुनस्तेषां नाशयेदपि जीवितम् ॥ ९६८ ॥ तदियं संमुखीकार्या कुमारेणेति तद्वचः । श्रुत्वाऽहं हन्मि शार्दूलशशैणादीन् पथि व्रजन् ॥ ९६९ ॥ जज्ञेऽनुकूला हिंसाथ जातोऽहं चातिभीषणः । बभूव प्रत्ययश्चापि वाक्ये वैश्वानरोदिते ॥ ९७० ॥ प्राप्ता वयं च कनकचूडमण्डलसन्निधौ । भद्रे ! विषमकूटाख्यस्तत्र चास्ति गिरिर्गुरुः ॥ ९७१ ॥ राज्ञः कनकचूडस्य देशोपद्रवकारिणः । तत्राम्बरीषनामानश्चरटाः सन्ति दुर्मदाः ॥ ९७२ ॥ पुरा कनकचूडेन विद्रुतास्ते च भूरिशः । ततस्तत्सुतमायान्तं तैर्ज्ञात्वा रुरुधे पथः ॥ ९७३ ॥ अथान्तिकगतेऽस्माकं दले किलेकिलारवम् । वानरा इव कुर्वाणाः प्रहर्तुं ते ढुढौकिरे ॥ ९७४ ॥ तैश्चरटभटैरसङ्घटा अपि बलोत्कटाः । अयुध्यन्त शरासारैरसुरैरमरा इव ॥ ९७५ ॥ बहुत्वाद् द्विपतामीषद्भग्नेष्वस्मद्भटेष्वथ । लग्नः प्रवरसेनेन चरटेशेन मे रणः ॥ ९७६ ॥ ततोऽविवेकिताम्रनुवटकास्वादतस्तदा । ग्रीष्मेऽर्क इव जज्ञेऽहं दुर्दर्शस्तेजसा भृशम् ॥ ९७७ ॥ विपक्षः स क्षणादेव पुण्योदयविभावतः । शस्त्रास्त्रविद्याशक्तोऽपि विदधे विधुरो मया ॥ ९७८ ॥ स्यन्दनादवतीर्याथ करवालकरो रयात् । मत्संमुखमधाविष्ट स रुष्टश्चरटेश्वरः ॥ ९७९ ॥ मयाथ हिंसाश्लिष्टेन तस्याभ्यापततो जवात् । अच्छिद्यतार्द्ध-

१ निरपराधम् । २ सापराधम् । ३ हिंसया । ४ कनकशेखरम् । ५ ०लिकि० ता० क० ग० घ० । ६ शरेण ।

चन्द्रेण शिरः कमललीलया ॥९८०॥ अभूदथ मुदास्माकं बले कलकलः कलः। व्यधुर्मर्मोपरिष्टाच्च पुष्पवृष्टिं दिवौकसः ॥ ९८१ ॥ हतनाथं बलं तच्च दीनमङ्गीकृतं मया। कुमारेण च संप्राप्तौ कुशावर्त्तपुरं ततः ॥ ९८२ ॥ राजा कनकचूडोऽसदागत्या मुदितोऽधिकम्। आवयोरतिविमर्दात्प्रवेशकमकारयत् ॥ ९८३ ॥ विमलाननां कनकशेखरेण शुभे दिने। मया रत्नवतीं चाथ पृथ्वीशः पर्यणाययत् ॥ ९८४ ॥ दिनत्रये व्यतीतेऽथ क्रीडितुं ते उभे अपि। चूतचूचुकमुद्यानमावामापृच्छ्य जग्मतुः ॥ ९८५ ॥ आवामपि नृपास्थाने यावद्वृत्तविहे तदा। तावदाविरभूद् दासीपूत्कृतैस्तुमुलो बहिः ॥ ९८६ ॥ किमेतदिति संभ्रान्तं जवादास्थानमुत्थितम्। हृते नवोढे केनापीति प्रवादमथाशृणोत् ॥ ९८७ ॥ अथासद्बलमुत्तालं दधावे तस्य पृष्ठतः। ददर्श परसेनां च व्रजन्तीं नातिदूरतः ॥ ९८८ ॥ पूर्वं तत्र वैभाकरं नामोद्घुष्यमाणं च मागधैः। निशम्य सर्वैरस्माभिश्चिन्तितं स्वस्वचेतसि ॥ ९८९ ॥ पूर्वं यस्य प्रभावत्या दत्ताऽऽसीद्विमलानना। सोऽयं विभाकरो वध्वपहारं कुरुते ध्रुवम् ॥ ९९० ॥ ध्यात्वेति परुषैर्वाक्यैस्तस्मिन्नुत्तेजिते मया। ववलेऽरिबलं मार्गैर्गङ्गास्रोत इव त्रिभिः ॥ ९९१ ॥ अरुध्यन्त तदीशाश्च यथाभिमुखमागताः। मया कनकचूडेन तत्सुतेन च ते त्रयः ॥ ९९२ ॥ दूतः कनकचूडायाऽऽचख्यौ यः पूर्वमागतिम्। नन्दनोर्वीशनन्द(न्दि)न्योस्तदा चास्ति स मेऽन्तिके[3] ॥९९३॥ अरे! विकट! जानीषे क एते नायकास्त्रयः। एवं च स मया पृष्टः पृष्टार्थविदुरोऽवदत् ॥ ९९४ ॥ त्रिधाभूतपरानीकमध्ये यः संमुखस्तव। सोऽयं समरसेनाख्यः कलि-

१ विच्छर्दात्० ता० क० ग० घ०। २ ०चूतक० क० ख० घ०: ०चुचक० ग०। ३ ०कम् क० ख० घ०।

ङ्गाधिपतिर्नृपः ॥९९५॥ विभाकरपितुस्तस्य प्रभाकरधराभुजः । महाबलतयायं हि वर्त्तते स्वामिसन्निभः ॥ ९९६ ॥ राज्ञः कनकचूडस्य वर्त्तते यस्तु संमुखः । वङ्गाधिपो द्रुमो नाम स विभाकरमातुलः ॥ ९९७ ॥ कनकशेखरस्यास्ति संमुखस्तु कुमार[1] यः । स विभाकर एवायं प्रभाकरनृपात्मजः ॥९९८॥ एवमेष समाख्याति यावद् दूतो ममाग्रतः । लग्नमायोधनं तावदुभयोरपि सेनयोः ॥ ९९९ ॥ प्रभूतहेतिसंपातपर्यस्ततपनातपः । प्रसृतासृक्सरित्पूरश्चिरं जज्ञे च सङ्गरः ॥ १००० ॥ भीषणेऽथ रणे तत्र वर्त्तमाने मदोद्धुरैः । परैः समभरं दत्त्वा भग्नमस्मद्बलं क्षणात् ॥ १००१ ॥ विगाहमाना नः सैन्यकासारं कासरा इव । अस्मदन्तिकमापेतुस्तेऽथ प्रत्यर्थिपार्थिवाः ॥ १००२ ॥ अथाविवेकितान्मूनुवटकास्वाददारुणः । कलिङ्गाधिपमाह्वासि वचोभिः कटुभिर्युधे ॥ १००३ ॥ शस्त्रास्त्रवृष्टिनिर्नष्टकौतुकायातखेचरः । तत्रावयोरथाक्षीणः क्षणं जज्ञे रेणक्षणः ॥ १००४ ॥ हिंसावेशान्मया वक्षः शक्त्या द्विविधयाप्यथ । कलिङ्गेशस्य कालिङ्गवद दार्यत लीलया ॥ १००५ ॥ सार्द्धं कनकचूडेन युद्धमानो द्रुमोऽपि सः । मया साक्षेपमाहूतो ववलेऽभिमुखं[2] मम ॥ १००६ ॥ दूरादेवार्द्धचन्द्रेण[3] द्रुमस्याथ द्रुतं शिरः । मया फलमिवाकर्त्ति हिंसालिङ्गितमूर्त्तिना ॥ १००७ ॥ तयोर्भग्नं ततः सैन्यमस्माकं मुदितं पुनः । चक्रे च मे जयारावः सिद्धविद्याधरादिभिः ॥ १००८ ॥ इतः पृषत्कैः[4] कनकशेखरश्च विभाकरः । युद्ध्योर्चैर्दवतैरस्त्रैर्युयुधाते महाबलौ ॥ १००९ ॥ विभाकरो रथं त्यक्त्वा निष्ठितान्याखिलायुधः । उद्यतासिरधाविष्ट

१ मद्धारणः ग० । २ संमुखं क० ख० ग० घ० । ३ वाणेन । ४ वाणैः ।

हन्तुं कनकशेखरम् ॥ १०१० ॥ स्यदेन स्यन्दनं हित्वा ततः कनकशेखरः । कृपाणपाणिस्तं योद्धुं दधावे क्रोध-दुर्द्धरः ॥ १०११ ॥ खड्गाखड्गि क्षणं कृत्वा ततः कनकचूडभूः । आहत्य खड्गमुर्व्योर्व्यां विभाकरमपातयत् ॥१०१२॥ हर्षोद्भूतं कलकलं विनिवार्य निजे बले । वायुदानाम्बुसेकाद्यैस्तं समाश्वासयच्च सः ॥ १०१३ ॥ लब्धसंज्ञं तमूचे च साधु साधु नृपात्मज ! । न क्षत्रियधनं सत्त्वं त्वया मुक्तं मनागपि ॥ १०१४ ॥ तदिदानीं पुनर्योद्धुमुत्तिष्ठ क्षत्रियोत्तम ! । एतावता जितो नासि विजयी चास्मि नैयता ॥ १०१५ ॥ तद्वचोभिस्ततो हृष्टस्तं बभाषे विभाकरः । आर्य ! पर्याप्तमधुना युधाहङ्कृतिमूलया ॥ १०१६ ॥ भवता विजितो नाहं करवालेन केवलम् । अमुना चरितेनापि किन्तु माहात्म्यशंसिना ॥ १०१७ ॥ उक्तवन्तं तमेवं स्वरथे कनकशेखरः । स्वयमारोपयामास सहोदरमिवादरात् ॥ १०१८ ॥ नवोढे राजपुत्र्यौ ते गृहीत्वाथ जिताहवाः । पुरे वयमविक्षाम हट्टशोभोपशोभिते ॥ १०१९ ॥ ततः प्रमुदिताशेषपौरलोकविलोकितौ । जग्मतुर्भूपकनकशेखरौ स्वस्ववेश्मनि ॥ १०२० ॥ वीरौ कलिङ्गवङ्गेशौ जिग्याते येन लीलया । पद्मराजाङ्गजः सोऽयं कुमारो नन्दिवर्द्धनः ॥ १०२१ ॥ अहो ! धैर्यमहोरूपमहो ! भाग्यमहो ! बलम् । तन्निश्चितममर्त्योऽयं न मर्त्यो भवतीदृशः ॥ १०२२ ॥ इयं रत्नवती धन्या या बभूवास्य वल्लभा । धन्या वयमपि ह्येष यासां दृष्टिपथं ययौ ॥ १०२३ ॥ यद्वा सकलमप्येतन्नूनं धन्यतमं पुरम् । यदद्भुतचरित्रेण पवित्रीक्रियतेऽमुना ॥ १०२४ ॥ शृण्वन्नगरनारीणामिति प्रीतस्तदा गिरः ।

१ वेगेन । २ नृपात्मजः ता०, नृपात्मजम् क० ग० घ० । ३ ०धुना ता० ।

अहमप्यगमं राजकुलाभ्यर्णे रथस्थितः ॥ १०२५ ॥ इतश्च पद्मनाथस्य दुहिता जयवर्मणः । आस्ते कनकचूडस्य प्रिया मलयमञ्जरी ॥१०२६॥ तस्याः कन्यास्ति कन्दर्पनृपक्रीडावनावनिः । रूपास्तत्रिदशस्त्रैणरूपा कनकमञ्जरी ॥१०२७॥ तां च वातायनासीनां पश्यन्तीं मां तदादरात् । विव्याध मदनव्याधः सारङ्गीमिव सायकैः ॥१०२८॥ तस्यां लावण्यपीयूषवाप्यां दृष्टिः ससंभ्रमा । पपात तृषितश्रान्तपान्थस्येव ममापि हि ॥ १०२९ ॥ तारामेलक्षणादेवेक्षणेन क्षणमीक्षणम् । अयुज्यत मिथश्चित्तं चित्तेन च तदावयोः ॥ १०३० ॥ ततस्तेतलिना सारथिना ज्ञात्वास्मदाशयम् । लाघवस्य मयानुन्नरथः स्वावासमासदम् ॥ १०३१ ॥ विमुक्ताशेषकर्त्तव्यौ स्मरज्वरभरातुरौ । आवासेऽथ दिवाशेषमनयाव कथञ्चन ॥ १०३२ ॥ किं ममावस्थितस्यात्र सांप्रतं गततेजसः । इतीव विमृशन् भानुर्द्वीपान्तरमथागमत् ॥१०३३॥ वासरेणाप्यथ क्षीणं तत्क्षणं सह सन्ध्यया । तादृग्मित्रवियोगो हि विसोढुं केन शक्यते ? ॥१०३४॥ विद्राणवदनाम्भोजा विदूरीभूतवल्लभा । म्लानिमासादयामास चक्रवाकीव पद्मिनी ॥१०३५॥ कज्जलैरिव संपूर्णं कर्दमैरिव मेदुरम् । तापिच्छैरिव संच्छन्नं ध्वान्तग्रस्तं बभौ जगत् ॥१०३६॥ तमालकज्जलश्यामध्वान्तपन्नगमौलिषु । बभुः फणामणिनिभास्तारकास्तारकान्तयः ॥ १०३७ ॥ अगाधे तिमिराम्भोधौ रत्नौघा इव सर्वतः । प्रदीपाः प्रस्फुरन्ति स्म प्राज्यप्रसृमरप्रभाः ॥१०३८॥ अथोल्ललास शीतांशुः पूर्वा-

---

१ ०क्षण इवे० ता० क० ख० घ० । २ ०दृशम् घ० । ३ आवामथ क० ख० ग० । ४ ०पं गमयावः ग० । ५ तमालवृक्षैरिव ।

शाप्रमदामुखे । तिलकश्चान्दन इवामलवर्तुलशीतलः ॥१०३९॥ प्रासादः कलसेनेव छत्रेणेव नरेश्वरः । रेजे चन्द्रेण पूर्वाद्रिर्वृत्तेनौज्ज्वल्यशालिना ॥१०४०॥ तमःकरिघटां विश्वग् विचरन्तीं जगद्वने । कराग्रैर्दारयामास मृगेन्द्र इव चन्द्रमाः ॥ १०४१ ॥ सुधाभिरिव निर्द्धौतं क्षीरोदेनेव पूरितम् । ककुब्भासैरिवाकीर्णं ज्योत्स्नापूर्णं जगद् बभौ ॥ १०४२॥ विशिखैरिव कामस्य दूनयोः शशिनः करैः । त्रियामा[1] शतयामेव सागात्कृच्छ्रादथावयोः ॥ १०४३ ॥ प्राच्यां प्रादुर्बभूवाथ प्रभाचक्रं प्रभाप्रभोः[2] । भित्त्वाम्भोराशिमौर्वाग्नेर्ज्वालाजालमिवोत्थितम् ॥ १०४४ ॥ कराग्रैरथ पूर्वाद्रितटान्यालम्ब्य वारिधेः । निर्ययावर्यमानेककोकलोकविलोकितः ॥ १०४५ ॥ तमस्तरुवनं धिष्ण्य-कुसुमं विस्फुरत्करः[3] । मूलादुन्मूलयामास क्षणेनारुणवारणः ॥ १०४६ ॥ विध्वस्ते तिमिरे दूरं वैद्येनेव विवस्वता । लोचनानीव पद्मानि विकाशं शिश्रियुस्तराम् ॥ १०४७ ॥ उदितेऽप्येवमुष्णांशौ समायातेऽपि तेतलौ । ध्यायं-स्तामेव पद्माक्षीं नाहं किञ्चिदचेतयम् ॥ १०४८ ॥ इतः कनकचूडेन प्रोचे कनकशेखरः । द्विषज्जयसमुद्भूत-हर्षातिशयशालिना ॥ १०४९ ॥ येनानेन जितौ नन्दिवर्द्धनेन महाबलौ । कलिङ्गवङ्गाधिपती न सामान्यः कुमार ! सः ॥ १०५० ॥ न च प्राणव्ययेनापि वयमस्य महात्मनः । निष्क्रयं वत्स ! गच्छामः प्राप्तकालमिदं ततः ॥ १०५१ ॥ विद्येते मम मलयमञ्जरीकुक्षीसंभवे । मणिमञ्जरीकनकमञ्जर्यौ तनये उभे ॥ १०५२ ॥ ततः पुरैव सा नन्दिवर्द्धनज्येष्ठबन्धवे । शीलवर्द्धनसंज्ञाय दत्तास्ति मणिमञ्जरी ॥ १०५३ ॥ युज्यते सांप्रतं

१ रजनी । २ सूर्यस्य । ३ दिक्स्फु० ख० ।

तस्मै दातुं कनकमञ्जरी । तथेति तां पितुर्वाचं मेने कनकशेखरः ॥ १०५४ ॥ प्रदातुमथ तां मह्यं नृपः कनकमञ्जरीम् । मत्पार्श्वे प्रजिघायाशु मन्त्रिणं विमलाभिधम् ॥ १०५५ ॥ सोऽप्येत्य नत्वा मां प्रोचे देवस्त्वां देव ! वक्त्यदः । यदस्ति दुहितास्माकं नाम्ना कनकमञ्जरी ॥ १०५६ ॥ तामस्मदुपरोधेन कुमारो बन्धुवत्सलः । स्वपाणिग्रहणेनाशु प्रमोदयितुमर्हति ॥ १०५७ ॥ मयाथ मुदितेनास्यं पार्श्वस्थस्य स्वसारथेः । वीक्षितं तेतलेः सोऽपि प्रोचे सद्भावकोविदः ॥१०५८॥ कुमारेणानुवर्त्योऽयं कुशावर्त्तपुरेश्वरः। प्रणयप्रार्थना देव ! तस्येयं मान्यतां ततः ॥ १०५९ ॥ प्रमाणं नस्त्वमत्रासि तं प्रतीत्युदिते मया । महाप्रसाद इत्युक्त्वा समुत्तस्थौ स मन्त्र्यथ ॥१०६०॥ स्वरूपेऽथ यथावृत्ते गत्वा तेन निवेदिते । प्रमोदमेदुरमनाः समभूद् भूमिवासवः ॥ १०६१ ॥ सायं लग्नेऽथ तत्रैव वासरे स नरेश्वरः । आवयोः कारयामास करग्रहमहोत्सवम् ॥ १०६२ ॥ तत्र चिन्तितसंजाते पाणिग्रहमहामहे । तदाभूदावयोः प्रीतिः कापि वाचामगोचरः ॥ १०६३ ॥ इतो विभाकरस्यापि विहिते व्रणकर्म्मणि । संजातदेहारोग्यस्य मैत्री सार्द्धं मयाऽभवत् ॥१०६४॥ संमान्य सोऽन्यदा राज्ञा विसृष्टः स्वपुरं ययौ । ते चाम्बरीषचरटा मयाऽपि हि विसर्जिताः ॥ १०६५ ॥ कालं कियन्तमप्यस्यां तत्रैव विषयानहम् । भजन्कनकमञ्जर्या रत्नवत्या च संयुतः ॥ १०६६ ॥ अन्यदा यामिनीयामे चरमेऽहमचिन्तयम् । पुण्योदयस्य माहात्म्यमविदन्मूढमानसः ॥१०६७॥ अहो ! वैश्वानरस्यास्य कोऽपि स्नेहभरो मयि । मत्कार्यायैष मुक्तात्मकार्यस्ताम्यति यत्सदा ॥ १०६८ ॥

१ रा० ख० ।

प्रियाया अपि हिंसाया अहो! माहात्म्यमद्भुतम्। मित्रेण वर्णितानेन यादृक्तादृगसौ ध्रुवम् ॥ १०६९ ॥ मया यच्च जितौ वङ्गकलिङ्गाधिपती नृपौ। साधुवादश्च यज्जज्ञे जनेष्वत्यन्तदुर्लभः ॥ १०७० ॥ यदसौ च मयाऽप्रापि प्रिया कनकमञ्जरी। प्रभावातिशयः सोऽयं समग्रोऽप्यनयोः खलु ॥ १०७१ ॥ तदेतौ यो ममाभीष्टौ प्रशंसति निरन्तरम्। स एव मे सुहृत् प्रेयान्प्रतिपक्षः परः पुनः ॥ १०७२ ॥ एवं मे ध्यायतः क्रूरचित्तताऽजनि सा यथा। विनापि वटकास्वादं साक्षाद्वैश्वानरोऽभवम् ॥ १०७३ ॥ ततो निर्मन्तुमप्यात्मपरिच्छदमहं सदा। आक्रोशामि ताडयामि सततं ज्वलिताशयः ॥ १०७४ ॥ हिंसयाश्लिष्यमाणस्य पुनः संततरक्तया। बभूव मम पापर्द्धिव्यसनं सदसंमतम् ॥१०७५॥ तच्च मच्चेष्टितं दृष्ट्वा दध्यौ कनकशेखरः। अहो! किमिदमेतस्य चरित्रमसमञ्जसम् ॥१०७६॥ हिंसावैश्वानराश्लिष्टो यदयं पापकर्म्मणि। प्रवर्त्तमानो धर्मस्य दूराद् दूरेण वर्त्तते ॥ १०७७ ॥ तदहं वारयाम्येनमेतस्मात्पापकर्म्मणः। चेत्पुनः कथमप्येष स्यात् सर्वगुणभाजनम् ॥ १०७८ ॥ केवलस्य च मे वाक्यं कदाचिन्न करोत्ययम्। ताताभ्यर्णे पुनः प्रोक्तः कुर्यात् तत्तातलज्जया ॥१०७९॥ तदमुं शिक्षयिष्यामि प्रस्तावे तातसंयुतः। ध्यात्वेति स गृहीतार्थं चकार पितरं निजम् ॥१०८०॥ अथान्येद्युः सभासीनो मां नमस्कर्तुमागतम्। भृशं प्राशंसदुर्वीशः शौर्यधैर्यादिभिर्गुणैः ॥१०८१॥ तत्सुतोऽथावदत्तातेदृगेवैष स्वरूपतः। कुसङ्गो दूषयत्येनं किन्तु पङ्क इवांशुकम् ॥ १०८२ ॥ स कीदृगिति भूपेन पृष्टः स पुनरभ्यधात्। सुहृद्वैश्वानरो हिंसा भार्या चास्त्यस्य गर्हिता

१ ०वर्द्धमा० क० ख० ग० घ०।

॥१०८३॥ तत्संगतिरतस्यास्य सर्वाप्यन्या गुणावली । पुष्पश्रीरिव काशस्य निष्फला तात! सर्वथा ॥ १०८४॥ महीपतिरथोवाच यद्येवं तर्हि पापयोः । त्याग एव तयोर्नृणां श्रेयान्नाश्रयणं पुनः ॥ १०८५ ॥ वयस्यः स हि कर्त्तव्यो यः पापविनिवर्त्तकः । कार्या भार्यापि सा पुंसा या लोकद्वयसाधिका ॥ १०८६ ॥ ततस्तयोस्तया वाचा घृताहुत्येव पावकः । ज्वलितोऽहं नृपं वाक्यैर्निष्ठुरैरभ्यधामिति ॥ १०८७ ॥ अरे ! मृतक ! मत्प्राणान् हिंसा-वैश्वानराविमौ । पापौ जल्पसि ? नो वेत्सि ? राज्यं कस्यौजसा मम ॥ १०८८ ॥ अनयोर्हि विना मूढ ! पित्रापि भवतः किमु । कलिङ्गवङ्गाधिपती शक्येते जेतुमुद्धतौ ? ॥१०८९॥ तत्पुत्रस्तु मयेत्यूचे किमु मत्तोऽपि पण्डितः । वर्त्तसे वृपल! त्वं मां यदेवं शिक्षयस्यरे ! ॥ १०९० ॥ मच्चेष्टितमथालोक्य तादृशं ताववज्ञया । स्मितं विदधतू राजयुवराजौ सविस्मयौ ॥१०९१॥ अये! मामवमन्येते हास्येनैतौ दुराशयौ । तदेतौ शिक्षयामीति कृष्टाथ क्षुरिका मया ॥१०९२॥ उक्तं च भवतं गेहेनर्दिनौ रे ! कृतायुधौ । हिंसावैश्वानरस्थाम येन वां दर्शयाम्यहम् ॥ १०९३ ॥ लौललोलं यममिव प्रेक्ष्य मां कृष्टशस्त्रिकम् । तौ कुमारनृपौ मुक्त्वा दूरेऽभूदखिला सभा ॥ १०९४ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! पुण्योदयवशादहम् । तयोर्घातमकृत्वैव निर्गत्यागां स्ववेश्मनि ॥ १०९५ ॥ दृष्टौ मयाथ तौ राजयुवराजौ रिपूपमौ । दुःस्वप्नस्येव मे वार्त्तां कुर्वाते नैव तावपि ॥ १०९६ ॥ अन्येद्युर्दारुको नामाययौ दूतो जयस्थलात् । स मया प्रत्यभिज्ञातः सत्कृतश्च व्यजिज्ञपत् ॥ १०९७ ॥ प्रज्ञाकरमतिधनबुद्धिविशालनामभिः । कुमार ! भवदभ्यर्णे

१ नीच ! । २ ०तां रा० ग० । ३ ललमानजिह्वम् ।

प्रहितोऽहं महत्तमैः ॥१०९८॥ मयाथ चिन्तितं शङ्काव्याकुलीकृतचेतसा। अयं महत्तमैः प्रैषि तातेन न पुनः कथम् ॥ १०९९ ॥ कुशलं तातपादानामिति पृष्टो मयाथ सः। जगाद पुनरप्येवं कुमार! कुशलं खलु ॥ ११०० ॥ केवलं वङ्गनाथेन यवनाख्येन भूभुजा। बहिर्विषयमादाय जयस्थलमरुध्यत ॥ ११०१ ॥ पर्याहारे ततो भग्ने बलिना छलिनारिणा। गम्भीरहृदयोऽप्युच्चैर्देवोऽभूद्विधुरो मनाक् ॥ ११०२ ॥ अन्यं निवारणोपायमपश्यन्तोऽस्य विद्विषः। संभूयालोचयामासुरथैवं ते महत्तमाः ॥ ११०३ ॥ मदोद्धतममुं जेतुमरातिं नन्दिवर्द्धनः। कुमार एवालम्भूष्णुः सुपर्ण इव पन्नगम् ॥ ११०४ ॥ ततः कुमाराह्वानाय दूतस्तूर्णं प्रहीयते। ज्ञापनीयं न देवस्य केवलं सर्वथाप्यदः ॥ ११०५ ॥ यतस्तनयवात्सल्यात् कदापीदृशसंकटे। कुमारागमनं तस्य सुन्दरं नैव भासते ॥ ११०६ ॥ ततस्तैः सर्वसंमत्या प्रहितोऽहमिहागमम्। कुमार! देवप्रच्छन्नं प्रमाणं सांप्रतं भवान् ॥ ११०७ ॥ हिंसावैश्वानरावुच्चैस्तच्छ्रुत्वाथ ववल्गतुः। सुन्दरोऽवसरस्तत्रावयोर्भावीति संमदात् ॥ ११०८ ॥ अनाख्यायैव कनकचूडतत्पुत्रयोस्तयोः। तदैवाथ चचालाहं चतुरङ्गचमूयुतः ॥ ११०९ ॥ तदा कनकमञ्जर्या वत्सलत्वेन केवलम्। मया सह समागन्तुं प्रवृत्ता मणिमञ्जरी ॥ १११० ॥ अथ वैश्वानरेणाहं कुर्वन् विविध-संकथाः। जयस्थलपुराभ्यर्णमगमं कतिभिर्दिनैः ॥ ११११ ॥ विलोक्य सहसा तत्र परितः पेरवाहिनीम्। समनह्यत युद्धाय तूर्णमस्मदनीकिनी ॥ १११२ ॥ दृष्ट्वा सर्वाभिसारेणापतन्तीं मत्पैताकिनीम्। संनह्याभिमुखं दर्पा-

१ शत्रुसेनाम्। २ सेना। ३ ०सेनाम्।

दाययौ द्विपतां चमूः ॥ १११३ ॥ कल्पान्तमिलितप्राच्यप्रतीच्याम्भोधिभैरवः। अभूदथ रणारम्भः सेनयोरुभयोरपि ॥ १११४ ॥ कृत्वा क्षणं रणं रुग्णेऽस्मद्बले तेन वैरिणा। तमभ्यधाविपमहं केशरीवाभिकुञ्जरम् ॥ १११५ ॥ रथौ रणरसेनाथ मिलितौ गाढमावयोः। समुत्पत्याथ वङ्गेशशिरश्छिन्नं मयासिना ॥ १११६ ॥ ततः संमदसंपूर्णा वर्णयन्तः पराक्रमम्। मन्मूर्ध्नि कुसुमक्षेपं चक्रिरे सुरखेचराः ॥ १११७ ॥ मत्सैन्यमथ संजज्ञे हर्षकोलाहलाकुलम्। तच्च सर्वं परानीकं समजनि वशंवदम् ॥ १११८ ॥ सपौरः सपरीवारः सशुद्धान्तः ससंमदः। पुरान्निर्गत्य तातोऽथ मत्संमुखमुपाययौ ॥ १११९ ॥ स्यन्दनादवतीर्याहमपतं तातपादयोः। सोऽप्युत्थाप्य समालिङ्गन्मां मूर्द्धनि चुचुम्ब च ॥ ११२० ॥ अहमम्बां ननामाथ सापि चाश्लिष्य मूर्द्धनि। परिचुम्ब्य च हर्षाश्रुपूर्णाक्षी[3] मामभाषत ॥ ११२१ ॥ नूनमेतज्जनन्यास्ते हृदयं वज्रनिर्मितम्। तत्रापि विरहे वत्स! विदीर्णं शतधा न यत् ॥ ११२२ ॥ अस्मान्नगररोधाच्च दिष्ट्याऽऽकृष्टा वयं त्वया। तच्चिरं नन्द तच्छ्रुत्वा जज्ञेऽहं न्यग्मुखो ह्रिया ॥ ११२३ ॥ ततोऽहं स्यन्दनारूढो जननीजनकादियुक्। महेन महता तत्र प्रविवेश जयस्थले ॥ ११२४ ॥ ततो राजकुले गत्वा नत्वा च पितरावहम्। स्वावासमगमं पौरोत्सवप्रीणितमानसः ॥ ११२५ ॥ पुण्योदयवशाज्जज्ञे ममेयं च तदोन्नतिः। हिंसावैश्वानरजेयमिति चित्ते मम त्वभूत् ॥ ११२६ ॥ विधाय दिनकर्त्तव्यमशेषमथ सुस्थितः। समं कनकमञ्जर्या शर्वर्यामहमस्वपम् ॥ ११२७ ॥ उत्थायाथ निशाशेषेऽटव्यां

१ रुद्धेऽस्सा० घ०। २ ०माज० ता० कु० ग० घ०। ३ क्षा मा० कु० ख० घ०।

पापर्द्धयेऽगमम् । हत्वा च प्राणिनस्तत्र सन्ध्यायां गृहमागमम् ॥ ११२८ ॥ तदा च विदुरं तातः प्रोवाच कथमद्य न । कुमारो दृश्यते भद्र ! ततः सोऽप्यभ्यधादिति ॥ ११२९ ॥ देवाद्य प्रातरेवाहं स्मरन्मैत्रीं चिरन्तनीम् । कुमारस्याश्रयेऽगच्छं नाद्राक्षं तत्र तं पुनः ॥ ११३० ॥ ततस्तस्य परीवारः प्रोवाच मृगयाकृते । रात्रावेव गतोऽटव्यां कुमारो नास्त्यतो गृहे ॥ ११३१ ॥ किमद्यैव गतः किं वा तदर्थं याति सोऽन्वहम् । इति पृष्टो मया सोऽथ जगाद पुनरप्यदः ॥ ११३२ ॥ असौ हिंसा कुमारेण परिणीता यदाद्यपि । तदादि यात्ययं नित्यं नान्यथा लभते रतिम् ॥ ११३३ ॥ मयाथ चिन्तितमहो ! दुर्दैवेन हता वयम् । कुमारस्य कुसंसर्गपौनःपुंन्यविधानतः ॥ ११३४ ॥ अस्ति वैश्वानरस्तावत्पुराप्यस्याधमः सुहृत् । अधुना तु कुतोऽप्यस्य हिंसा पापा प्रियाऽभवत् ॥ ११३५ ॥ तदत्र किं विधातव्यमिति चिन्तयतो मम । दिनमद्यतनं देव ! व्यतीयाय कथञ्चन ॥ ११३६ ॥ कुमारादर्शने हेतुं जानीहि तदमुं प्रभो ! । तदाकर्ण्य जगादैवं तातोऽपि विमनायितः ॥ ११३७ ॥ मृगयाव्यसनं भद्र ! महापापमिदं मतम् । न चास्मद्वंशजैरेतन्नरनाथैरसेव्यत ॥ ११३८ ॥ तदस्य हेतुभूतेयं हिंसा भार्याधमा यदि । निवार्येत कुमारस्य सुन्दरं जायते तदा ॥ ११३९ ॥ विदुरोऽथावदद्वैश्वानरवन्निरुपक्रमा । कुमारस्य प्रियतमा देवेयमपि लक्ष्यते ॥ ११४० ॥ यद्वा जिनमतज्ञाख्यः स एवात्र निमित्तवित् । श्रूयते पुनरायातस्तदाहूय स पृच्छ्यते ॥ ११४१ ॥ तातादेशात्तमाहूय विदुरोऽथ

१ ०पुण्यवि० ता० क० घ० ।

समानयत्। तातोऽपि तस्मै सत्कृत्य प्रस्तुतार्थमचीकथत् ॥ ११४२ ॥ परिभाव्याथ सोऽवोचदेक एवेह विद्यते। उपायो नापरः कोऽपि सकर्णाकर्ण्यतां स च ॥ ११४३ ॥ नगरं चित्तसौन्दर्यं पूर्वमाख्यायि यन्मया। तस्मिन् शुभपरीणामो यश्च विश्वम्भरेश्वरः ॥११४४॥ यथा चास्य क्षान्तिमाता कथिता निष्प्रकम्पता। देव्यन्यास्ति तथा चारुचरिता चारुताभिधा ॥ ११४५ ॥ तत्कुक्षिसंभवा तस्य तनयास्ति दयाह्वया। आह्लाद-हेतुर्लोकानां मुनीनामपि वल्लभा ॥ ११४६ ॥ ततो यदैव तां कन्यां कुमारः परिणेष्यति। तदास्य स्वयमेवैषा हिंसा भार्या विनङ्क्ष्यति ॥ ११४७ ॥ इयं दाहात्मिका यस्मात्सा पुनर्हिमशीतला। ततोऽनयोर्विरोधोऽस्ति सदा-ग्निजलयोरिव ॥ ११४८ ॥ परिणेष्यति तामार्य! कदायमिति भाषितः। तातेन स पुनः प्रोचे यदा दास्यति तत्पिता ॥ ११४९ ॥ कदा दास्यति सोऽपीति तातेन गदितः पुनः। स जगाद कुमारेऽसौ प्रगुणो भविता यदा ॥ ११५० ॥ कदा स प्रगुणो भावीत्युक्तस्तातेन सोऽभ्यधात्। आख्यातमेव तच्चैतद्भवतां पुरतः पुरा ॥ ११५१ ॥ यथा शुभपरीणाममनुकूलयितुं क्षमः। स एव तत्पतिः कर्म्मपरिणामो नरेश्वरः ॥ ११५२ ॥ ततश्च स यदा कर्म्म-परिणाममहीपतिः। सुप्रसन्नमना भावी कुमारे नन्दिवर्द्धने ॥ ११५३ ॥ तदा शुभपरीणामादालोच्य स्वं कुटुम्बकम्। स्वयमेव कुमाराय स दयां दापयिष्यति ॥ ११५४ ॥ (युग्मम्) ॥ किञ्च संलक्षयाम्येतन्निमित्तस्य बलादहम्। अयमर्थः क्वचित्काले यदवश्यं भविष्यति ॥११५५॥ ततोऽवधीरणा कर्त्तुमुचिता भवतामिह। तातोऽ-भ्यधात्कथं सूनोः कर्त्तुं शक्याऽवधीरणा ॥ ११५६ ॥ दैवज्ञोऽथ जगादैवं देव! तत् किं विधीयते?। बहिरङ्गः

कुमारस्य स्याद्युपद्रव एष चेत् ॥ ११५७ ॥ ततस्तत्र न युज्येत भवतामवधीरणा । दोषः कोऽपि न युष्माकमान्तरोपद्रवे त्विह ॥ ११५८ ॥ ततो यदादिशत्यार्य इत्युक्त्वा विससर्ज तम् । संमान्य तातः कालोऽथ व्यतीयाय कियानपि ॥ ११५९ ॥ अन्यदा यौवराज्याय तातो मम शुभे दिने । कारयामास सामग्रीमालोच्य सचिवैः समम् ॥ ११६० ॥ तातेनाथाभिषेकार्थमाहूतः प्रययावहम् । पौरान्तःपुरसामन्तसंकीर्णां नृपसंसदम् ॥ ११६१ ॥ अत्रान्तरे प्रतीहार्या प्रणिपत्य निवेदितः । मन्त्री स्फुटवचनाख्यस्तातमेत्य व्यजिज्ञपत् ॥ ११६२ ॥ यथास्ति नृपशार्दूल ! शार्दूलपुरनायकः । भवतां ज्ञात एवेह नृपोऽरिदमनाभिधः ॥ ११६३ ॥ गुणमाणिक्यमञ्जूषा रतिचूलाप्रियोद्भवा । नाम्ना मदनमञ्जूषा समस्ति दुहितास्य च ॥ ११६४ ॥ सा च लोकप्रवादेन चरित्रं[2] नान्दिवर्द्धनम् । निशम्य समभूत्तत्र नितान्तमनुरागिणी ॥ ११६५ ॥ तयाऽथ रतिचूलायै स्वाभिप्रायो निवेदितः । कथयामास देवाय रतिचूलापि तत्तथा[3] ॥ ११६६ ॥ प्रदातुमथ तां नन्दिवर्द्धनायाऽऽत्मजां निजाम् । देवः संप्रेषयामास मामत्र भवदन्तिके ॥ ११६७ ॥ तन्निशम्य विशामीशोऽपश्यन्मतिधनाननम् । सोऽप्यूचे देव ! सम्बन्धः सत्पुंसाऽनेन युज्यते ॥ ११६८ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते तातेनाथ मयापि सः । जगदे यत्कियद्दूरे तत्त्वेतः पुरं भवेत् ॥ ११६९ ॥ सार्द्धे द्वे योजनशते भवेदिति तदीरिते । मयोक्तमभ्यधा मैवं गव्यूतोने हि ते भवेत् ॥११७०॥ इदं चाकर्णितं बाल्ये सम्यगाप्तमुखान्मया । तत्प्रमाणं मया प्रोक्तं नान्यथा जातु

१ ०लप्रि० क० ख० ग० घ० । २ चरितं ना० क० ख० ग० । ३ ०दा क० ख० घ० । ४ जगाद यत् ख० ।

जायते ॥ ११७१ ॥ उवाच स्फुटवचनो मैवं वोचः कुमार ! यत् । मया पदं पदेनैतद् गणितं गणशः स्वयम् ॥ ११७२ ॥ ततो विघटते नैव तुषमात्रमपि ध्रुवम् । प्रमाणमीदृशं त्वं तु विप्रलब्धोऽसि केनचित् ॥ ११७३ ॥ लोकमध्ये दुरात्मैष मामलीकं करोत्यतः । हिंसावैश्वानरौ गाढं ततो मम विजृम्भितौ ॥ ११७४ ॥ योगशक्त्या च मद्देहे भृशं ताभ्यामधिष्ठिते । तदाऽभवमहं सुभ्रु ! प्रलयज्वलनोपमः ॥ ११७५ ॥ कोशादथं चकर्षाहं तमालश्यामलच्छविम् । खड्गं वल्मिकनिर्गच्छत्कृष्णसर्पभ्रमप्रदम् ॥११७६॥ तदा पुण्योदयो दध्यौ मम पूर्णोऽधुनावधिः । चक्रे भवितव्यताया इयत्कालं च शासनम् ॥ ११७७॥ मत्सम्बन्धस्य योग्योऽयं नाधुना नन्दिवर्द्धनः । ततः परित्यजाम्येनमिति ध्यात्वा ननाश सः ॥ ११७८ ॥ ततो मयाऽसिना लोके हाहारवमुखेऽपि हि । द्विधारिदमनामात्यश्चक्रे पशुरिव क्षणात् ॥ ११७९ ॥ ततो हा वत्स ! हा वत्स ! किमकार्यमिदं कृतम् । इति ब्रुवाणस्तातो मे रभसादभ्यधावत ॥ ११८० ॥ विस्मार्य पापं तातत्वं स्नेहं चाप्युपकारिताम् । मया तथैव तातस्योत्तमाङ्गं त्रोटितं ततः ॥ ११८१ ॥ ततः पूत्कुर्वती जात ! मा साहसमिति द्रुतम् । समेत्य खड्गमाच्छेत्तुं ममाम्बा व्यलगत्करे ॥ ११८२ ॥ ममेयमप्यरिर्जज्ञे यैवं मयि रिपून्प्रति । आक्रोशतीत्यहं ध्यायन्विदधे तामपि द्विधा ॥ ११८३ ॥ ततो हा नाथ ! हा भ्रातर्हा कुमारेति रावकृत् । आगाद् रत्नवती शीलवर्द्धनो मणिमञ्जरी ॥ ११८४ ॥ एकालोचितमेतेषां सर्वेषामपि पाप्मनाम् । इति मे ध्यायतोऽत्यन्तं रौद्रता ववृधे ततः ॥ ११८५ ॥ अथैकैक-

१ ०वच० ग० । २ ब्रुवन् ग०, ध्रुवम् क० ख० घ० ।

प्रहारेण मयाऽन्तकनिकेतनम्। एककालमनीयन्त तानि त्रीण्यपि पाप्मना ॥ ११८६ ॥ हा आर्यपुत्र! हा आर्यपुत्रेति प्रलपन्त्यथ। वृत्तान्तमेनमाकर्ण्याययौ कनकमञ्जरी ॥ ११८७ ॥ मिलिता मम शत्रूणामेवैषापि दुराशया। यैवं क्रोशत्यहो! वैरि मेऽभूद् हृदयमप्यदः ॥ ११८८ ॥ एतस्याः शत्रुवात्सल्यं ततो व्यपनयाम्यहम्। इति मे ध्यायतस्तस्यां तदा प्रेम व्यलीयत ॥ ११८९ ॥ युग्मम् ॥ श्रित्वा कर्म्मातिचाण्डालं मया कनकमञ्जरी। द्विदला कदलीवेयमपि चक्रे वराक्यथ ॥ ११९० ॥ अत्रान्तरे च संरम्भान्महावातादिवापतत्। अन्तरीयं च मद्देहादुत्तरीयं च भूतले ॥११९१॥ विवस्त्रं मुत्कलीभूतकेशं वेतालसन्निभम्। डिम्भैर्विलोक्य मामुच्चैश्चक्रे किलि(ल)किलारवः ॥ ११९२ ॥ तान्निहन्तुमथालर्क इव कर्कशमानसः। अधाविषमहं यावन्मण्डलाग्रभयङ्करः ॥ ११९३ ॥ सामन्ताः सचिवास्तावत्स्वजनाश्चापरेऽपि हि। मत्करात्खड्गमाच्छेत्तुं युगपत्प्रदधाविरे ॥ ११९४ ॥ समप्रेक्षी यम इव तान्सर्वानपि सर्वतः। निघ्नन् सर्वौजसा भूमिमगमं कियतीमपि ॥ ११९५ ॥ खड्गमाच्छिद्य संभूय समग्रैरपि तैरथ। खेदयित्वा च बद्धोऽहं वानेय इव वारणः ॥ ११९६ ॥ असभ्यवचनैरुच्चैरारटन्तं च तेऽथ माम्। भूताविष्टमिव क्षिप्त्वा गर्भागारेऽररी प्यधुः ॥ ११९७॥ क्षुधितस्तृषितः खिन्नः प्रलपन्नसमञ्जसम्। कपाटौ शिरसा निघ्नन् निद्रयाप्यवधीरितः ॥ ११९८॥ चित्ततापानलालीढो महानारकवद् भृशम्। मासमेकं तथाबद्धस्तत्रास्थां दुःखभागहम् ॥ ११९९ ॥ युग्मम् ॥ कथमप्याप्तनिद्रोऽहं मूषिकच्छिन्नबन्धनः[1]। निश्युद्-

[1] मूषक० ख० ग०।

घाट्य कपाटे च गर्भागाराद् विनिर्गतः ॥ १२०० ॥ आलुलोके मया राजकुलं सकलमप्यथ । परं न कोऽपि जागर्त्ति ततोऽहं ध्यातवानिदम् ॥१२०१॥ सराजकुलमेतन्मे नगरं रिपुसन्निभम् । वर्त्तते खलु येनैवं पापेन क्लेशितोऽस्म्यहम् ॥१२०२॥ एवं मे ध्यायतो वैश्वानरहिंसे विजृम्भिते। ज्वलज्ज्वलनकुण्डं च दृष्ट्वा भूयोऽप्यचिन्तयम् ॥१२०३॥ वैरनिर्यातनोपायः प्राप्तोऽयं सुन्दरो मया । भृत्वा शरावमस्मात्तत्पुरेऽङ्गारान् क्षिपाम्यहम् ॥ १२०४ ॥ पुरं राजकुलं चैतद् यथा भवति भस्मसात् । ध्यात्वेति तत्तथा सद्यो मया चक्रे दुरात्मना ॥ १२०५ ॥ ततो विश्वग् जनाक्रन्दघोरं लग्नं प्रदीपनम् । दह्यमानः कथमपि निर्ययावहमप्यतः ॥ १२०६ ॥ ब्रुवन्तो लात लातेति परावस्कन्दशङ्कया । नगराच्च भटाः केऽपि मामनु प्रदधाविरे ॥ १२०७ ॥ क्षीणाङ्गः क्षीणशक्तिश्च समुद्भूतमहाभयः । तेभ्यः पलायमानोऽहमरण्ये न्यपतं ततः ॥ १२०८ ॥ कीलकैः कण्टकैस्तीक्ष्णैर्विद्धपादो व्रजन्नहम् । न्यङ्मुखो न्यपतं निम्नदेशेऽथ विषमस्थलात् ॥ १२०९ ॥ अत्रान्तरे समापेतुः केऽपि तत्र मलिम्लुचाः । तथास्थितं च मां दृष्ट्वा मिथ एवं बभाषिरे ॥ १२१० ॥ परकूले पुमानेष (पुंसाऽनेन) बहुमूल्यं हि लप्स्यते । स्वस्वामिपार्श्वे तद् धृत्वा त्वरितं नीयतामरे ! ॥ १२११ ॥ चूर्णिताखिलदेहोऽपि तच्छ्रुत्वा दास्यवं वचः । हिंसावैश्वानरोल्लासादुदतिष्ठं झटित्यहम् ॥ १२१२ ॥ चौरेणोक्तमथैकेनाभिप्रायोऽस्य न सुन्दरः । तच्छीघ्रं बध्यतामेष दुर्ग्रहो भविताऽन्यथा ॥ १२१३ ॥ कोदण्डैर्गाढमाहत्य वालयित्वा बलाद्भुजौ । बबन्धुर्ददतो गालीर्व-

दनं च ममाथ ते ॥ १२१४ ॥ परिधाप्य जरच्चीरखण्डं तैरथ खेटितः । कृत्वाग्रे निर्दयं घातान् ददानैर्दम्य-गौरिव ॥ १२१५ ॥ तैः कनकपुरासन्नां पल्लीं भीमनिकेतनाम् । नीत्वाऽहं रणवीरस्य पल्लीभर्त्तुः प्रदर्शितः ॥ १२१६ ॥ पोष्यतामेष रे ! येन समुद्भूताङ्गपीनतः । विक्रेतुं नीयत इति पल्लीशोऽप्यादिदेश तान् ॥ १२१७ ॥ तदादेशादथैकेन किरातेन स्ववेश्मनि । नीतोऽहं छोटितस्तस्य ददौ गालीर्निरर्गलः ॥ १२१८ ॥ कुपितः सोऽथ मां लोष्टुयष्ट्यादिभिरताडयत् । स्वामिना मेऽर्पित इति कृत्वा किन्तु जघान न ॥ १२१९ ॥ दापितं कर्प्परे तेन कदन्नमथ रङ्कवत् । बुभुक्षाक्षामकुक्षित्वाद् दीनास्योऽहमभक्षयम् ॥ १२२० ॥ एवं दिने दिने दत्ते भिल्लः कदशनं स मे । तेन जीवन्मृतस्येव भूयान्कालो ममागमत् ॥ १२२१ ॥ अन्येद्युः कनकपुरादव-स्कन्दः कृतागसाम् । तेषामुपरि चौराणामागान्नेशुश्च तेऽखिलाः ॥ १२२२ ॥ पल्लीं तामथ लूपित्वा बन्दीश्चादाय भूरिशः ॥ व्याघुट्य कनकपुरे प्रययौ तत्र तद्बलम् ॥ १२२३ ॥ गतोऽहमपि तन्मध्ये ततो बन्दीर्विलोकयन् । विभाकरधराधीशो मां निरीक्ष्य व्यचिन्तयत् ॥ १२२४ ॥ अहो ! किमिदमाश्चर्यं यदयं बन्दिपूरुषः । दवदग्धद्रु-कल्पोऽपि नन्दिवर्द्धनसन्निभः ॥१२२५॥ किन्त्वत्र संभवस्तस्य कथं स्यादथवा विधेः । विचित्राणि चरित्राणि तद्व-शात् किं न संभवेत् ? ॥ १२२६ ॥ एवं विचिन्त्य मां सम्यगुपलक्ष्य च भूपतिः । हर्षादाश्लिक्षदुत्थाय स्मरन्मैत्रीं पुरातनीम् ॥१२२७॥ कृतसंसच्चमत्कारं निवेश्यार्द्धासने स माम् । वयस्य ! कोऽयं वृत्तान्तः ? इत्यपृच्छदतुच्छधीः

१ ०व्यदु० ग० घ० ।

॥१२२८॥ निवेदिते यथावृत्ते ततो वृत्ते मयात्मनः । स पुनः प्राह हा मित्र ! सुन्दरं न कृतं त्वया ॥ १२२९ ॥ यदेतदतिनिस्त्रिंशं मन्त्रिपित्रादिमारणम् । विदधे परलोकेहलोकक्लेशैककारणम् ॥ १२३० ॥ हिंसावैश्वानरोल्लासादथाध्यायमहं तदा । एषोऽपि मम वैर्येव यस्य नो भाति मत्कृतम् ॥ १२३१ ॥ तदमुं मारयिष्यामि समयेऽहं दुराशयम् । सांप्रतं तु न सामग्री काप्यस्त्येतस्य मारणे ॥ १२३२ ॥ इति ध्यानान्मुखं कालं ममालोक्य विभाकरः । दध्यौ जल्पो मदीयोऽयं नास्य नूनं सुखायते ॥१२३३॥ ततः संतापितेनालमनेनेति विचिन्त्य सः । चक्रे कथापरावर्तममात्यांश्चैवमादिशत् ॥१२३४॥ शरीरं जीवितं बन्धुर्ममायं नन्दिवर्द्धनः । तत्सादिष्टागममहः कार्यतां तेऽपि तं व्यधुः ॥ १२३५ ॥ स्नपयित्वा परिधाप्य भोजयित्वा विलिप्य च । भूषयित्वाथ भूपालस्ताम्बूलं मे स्वयं ददौ ॥ १२३६ ॥ व्रजित्वाऽऽस्थानशालायामुपविष्टास्ततो वयम् । प्रोचे तत्र च मां तस्य सचिवो मतिशेखरः ॥१२३७॥ विदितं किं कुमारेण देवभूयमियाय यत् । सुगृहीतनामधेयः प्रभाकरधरेश्वरः ॥१२३८॥ विभाकरवधोपायचिन्तया भ्रान्तचेतसा । आर्तेनेवाथ तच्छ्रुत्वा कन्धरा धूनिता मया ॥१२३९॥ ततो विभाकरः साश्रुलोचनो मामदोऽवदत् । ताते दिवं गते तातकार्यं कार्यं त्वया सखे ! ॥ १२४० ॥ एते वयमिदं राज्यमिदं च नगरं मम । सर्वमेव तवायत्तं यथेष्टं तन्नियुज्यताम् ॥ १२४१ ॥ वैश्वानरवशादस्थां मौनेनैव तदा त्वहम् । अस्तं गतेऽथ तिग्मांशौ दत्तं प्रादोषिकं सदः ॥१२४२॥ तदन्ते राजकं सर्वं विसृज्य स्नेहतोऽस्वपत् । मया सहैकपल्यङ्के विभावर्यां विभाकरः ॥१२४३॥

---

१ ०स्ति त० ख० । १ भोजनमण्डपात् ।

हिंसावैश्वानरादेशादथोत्थाय सुलोचने ! । मया निपातितः स्निग्धविश्वस्तोऽपि विभाकरः ॥ १२४४ ॥ परिधानद्वितीयोऽहं नगरात् निरगां ततः । स्वकर्माऽऽतङ्कतो नश्यन् महाटव्यां पपात च ॥ १२४५ ॥ सोढानि नानादुःखानि क्लेशेन महता ततः । प्राप्तः पुरे कुशावर्त्ते विश्रान्तश्च बहिर्वने ॥ १२४६ ॥ तत्रस्थं मां परीवार-स्ततः कानकशेखरः । विलोक्य कथयामास गत्वा तस्मै नृपाय च ॥ १२४७ ॥ कारणेनात्र भाव्यं यदेकाकी नन्दिवर्द्धनः । ध्यायन्तावित्यथाऽऽयातौ तौ मामल्पपरिच्छदौ ॥ १२४८ ॥ उचिते विहितेऽन्योन्यं ततः कनकशेखरः । पप्रच्छ रहसि स्थित्वा मामैकाकित्वकारणम् ॥ १२४९ ॥ मयाथ चिन्तितं नूनं वृत्तं नास्यापि मामकम् । प्रतिभासिष्यते तस्मात् कथितेनामुना कृतम् ॥ १२५० ॥ विचिन्त्येति मया प्रोक्तमनया कथया-प्यलम् । ततः प्रोचे स भूयोऽपि न कथ्यं किं ममाप्यदः ? ॥ १२५१ ॥ आमेत्यथ मया प्रोक्ते स पुनः प्राह यत्सखे ! । अवश्यं कथ्यमेवेदं नान्यथा मन्मनोधृतिः ॥ १२५२ ॥ मयाप्यादिष्टमुल्लङ्घयत्ययं तन्निहन्म्यमुम् । ध्यात्वेति तत्कटीदेशात् क्षुरिकामकृषं ततः ॥ १२५३ ॥ प्रहारो यावदुद्गीर्णस्तद्घाताय मया ततः । तावत्कनक-चूडाद्याः प्रापुः संभ्रान्तमानसाः ॥ १२५४ ॥ स्तम्भितस्तद्गुणावर्जितया देवतया त्वहम् । उत्क्षिप्य पश्यतां तेषां नीतस्तद्देशसीम्नि च ॥ १२५५ ॥ उत्क्षिप्तक्षुरिकं तत्र चरटा मां व्यलोकयन् । अम्बरीषाभिधानास्ते वीरसेना-दयस्ततः ॥ १२५६ ॥ प्रत्यभिज्ञाय संभूय पतित्वा पादयोश्च ते । स्वामिन् ! क ? एष वृत्तान्तः पप्रच्छुरिति

१ भयात् ।

मां मुहुः ॥ १२५७ ॥ मां वक्तुमक्षमं वीक्ष्य विस्मितैश्चरटैस्ततः । आनीतमासनं नोपवेष्टुं शक्तं मया पुनः ॥१२५८॥ दीनांस्तान्वीक्ष्य कारुण्यान्मामुत्तस्तम्भ देवता । ते चालिताङ्गं मां दृष्ट्वा हृष्टाः पीठे न्यवेशयन् ॥१२५९॥ पुनः प्रस्तुतवृत्तान्ते पृष्टे तैर्भक्तिशालिभिः । हिंसावैश्वानरोल्लासाद् दध्याविति मनस्यहम् ॥ १२६० ॥ व्रजामो यत्र यत्राहो ! तत्र तत्र वयं जनैः । परतप्तिपरैः पापैरासितुं न लभामहे ॥ १२६१ ॥ अलीकव-त्सलानेतानन्तयिष्याम्यहं ततः । ध्यात्वेति शस्त्रया केऽप्याशु निहताश्चरटा मया ॥ १२६२ ॥ ततः संभूय तैः सर्वैर्गृहीत्वा मत्करात्क्षुरीम् । बबन्धे दस्युवदहं तदा चास्तं ययौ रविः ॥ १२६३ ॥ संभूयालोचयामासुरथैवं ते परस्परम् । यत्पूर्वरिपुरेवायमस्माकं नन्दिवर्द्धनः ॥ १२६४ ॥ येन प्रवरसेनोऽस्मन्नायको निहतः पुरा । प्रधानपुरुषाः केऽपि संप्रत्यपि विनाशिताः ॥१२६५॥ अस्माभिः स्वामिभावेन प्रतिपन्नस्तथाप्ययम् । लोके प्रख्या-पितश्चैतद् ज्ञातं देशान्तरेष्वपि ॥१२६६॥ ततोऽस्य मारणेऽस्माकमकीर्तिर्महती भवेत् । न चायं पार्यते धर्तुं ग्रन्थौ वह्निरिव क्वचित् ॥ १२६७ ॥ दूरदेशान्तरे तस्मान्नीत्वाऽयं त्यज्यते द्रुतम् । त्याग एव यतः श्रेयान् वधा-नर्हापराधिनाम् ॥ १२६८ ॥ पर्यालोच्येति तैर्गन्त्र्यां मां नियन्त्र्य तथा मम । रटतो वदनं बद्ध्वाऽयोजयन् जविनौ वृषौ ॥ १२६९ ॥ ततस्तैः खेटिता गन्त्री निशि द्वादशयोजनीम् । साऽऽगात् प्रयाणकैः कैश्चित् तच्छा-र्दूलपुरं तथा ॥ १२७० ॥ तत्र च मलविलयाभिधाने मां बहिर्वने । त्यक्त्वा सर्पमिवागच्छन् स्वस्थानं ते सगन्त्रिकाः ॥ १२७१ ॥ तत्राकस्मात्ततः सुभ्रु ! सुरभिः पवनो ववौ । नित्यवैरैरपि त्यक्तवैरं श्रीमदभूद्

वनम् ॥ १२७२ ॥ सर्वेऽवतीर्णा ऋतवो मुदिताश्च विहङ्गमाः । तारं च गुञ्जितं भृङ्गैस्तापः शान्तश्च मे मनाक् ॥ १२७३ ॥ अथागत्य सुरास्तत्र भूमिशुद्धिं रजःशमम् । पुष्पवृष्टिं [1]विनिर्माय स्वर्णाम्भोजं च चक्रिरे ॥ १२७४ ॥ अथाऽऽलोकितमार्गस्तैः केवलालोकभास्करः । विवेकनामा तत्राऽऽगाद्गुरुर्गुरुगणान्वितः ॥ १२७५ ॥ भेजे तत्कनकाम्भोजं राजहंस इवाथ सः । सभापि तं नमस्कृत्य यथास्थानमुपाविशत् ॥ १२७६ ॥ सूरितेजोऽसहिष्णू तौ तदा निर्गत्य मत्तनोः । हिंसा[2]वैश्वानरौ दूरे गत्वास्थातां पराङ्मुखौ ॥ १२७७ ॥ अथारिदमनो राजा सूरिं तं नन्तुमाययौ । सुतामदनमञ्जूषाशुद्धान्तसचिवादियुक् ॥ १२७८ ॥ मुक्त्वा च राजचिह्नानि सूरिं नत्वाभिनुत्य च । प्रणम्य शेषसाधूंश्च निषण्णः शुद्धभूतले ॥ १२७९ ॥ प्रणम्याथ यथास्थानं निषण्णेषु जनेष्वपि । भगवान् विदधे धर्म्मदेशनां मोहना[4]शिनीम् ॥ १२८० ॥ देशनान्ते च पप्रच्छ सूरिं राजा ससंशयः । विभो ! मदनमञ्जूषा येयं मे वर्त्तते सुता ॥ १२८१ ॥ नन्दिवर्द्धनसंज्ञाय पद्मभूपतिसूनवे । दातुमेतां पुरा प्रैषि मयामात्यो जयस्थले ॥ १२८२ ॥ भूयस्त्वपि गते काले स मन्त्री ववले न तु । ततो विधातुं तच्छुद्धिं प्रेषिताः पुरुषा मया ॥ १२८३ ॥ तैश्चागत्य ममाख्यायि यथा देव ! जयस्थलम् । भस्मीभूतं स देशोऽपि शून्यः शुद्धिस्ततः कुतः ? ॥ १२८४ ॥ तच्छ्रुत्वाहमथो दध्यौ हा ! कष्टं किमभूदिदम् । उत्पाताङ्गारवृष्टिः किं ? तत्राकाण्डेऽभवद् भृशम् ॥ १२८५ ॥ किञ्चात्यन्तविरुद्धेन देवेन मुनिनापि वा । क्षेमा(त्रा)नलेन वा चौरादिभिर्वाऽदाहि तत्पुरम् ॥ १२८६ ॥

१ च नि० ता० । २ विच० ता० । ३ ०विश्वा० क० ख० । ४ ०शिनीम् क० ख० ग० घ० ।

विचिन्त्येत्यपरिज्ञातपरमार्थः ससंशयः । सशोकश्च स्थितः कालमेतावन्तमहं प्रभो ! ॥ १२८७ ॥ भगवत्यधुना दृष्टे शुचश्छेदोऽभवन्मम । सन्देहस्य तु नाद्यापि तं छिनत्त्वधुना प्रभुः ॥ १२८८ ॥ भगवानप्युवाचैवं त्वमेनं वीक्ष्य(°क्ष)से नृप ! । पुमांसं संसदासन्नं नियन्त्रितभुजाननम् ॥ १२८९ ॥ वीक्षे सुष्ठ्विति भूपेन गदिते गुरुरभ्यधात् । चकार भस्मसादेष नगरं तज्जयस्थलम् ॥१२९०॥ भगवन् ! कोऽयमित्युक्ते भूभुजा सूरिरब्रवीत् । स एवायं तवोर्वीश ! जामाता नन्दिवर्द्धनः ॥ १२९१ ॥ नृपः प्राह कथं स्वामिन्नीदृशं विदधेऽमुना । कथं चैवंविधावस्थ इदानीमेष वर्त्तते ? ॥ १२९२ ॥ स्फुटवचनविरोधाद्यं वृत्तं मामकं ततः । चरटत्यागपर्यन्तमाचख्यौ भूभुजे गुरुः ॥ १२९३ ॥ तदाकर्ण्य महीपालः परिषच्च विसिष्मिये । दध्यौ च भूभृदेनं किं छोटयामि तपस्विनम् ? ॥१२९४॥ यद्वा नहि नहीत्येतद् विधातुं युज्यते मम । यतः कथितमेवास्य चरितं सूरिणाधुना ॥ १२९५ ॥ धर्मश्रवणविघ्नं तदस्माकमपि मुत्कलः । अकाण्डविड्वरोत्पादात् कुतोऽप्येष करिष्यति ॥ १२९६ ॥ तस्मादेष यथान्यासमेवास्तामधुना क्षणम् । न चैष करुणास्थानं यस्य स्याद् वृत्तमीदृशम् ॥ १२९७ ॥ पृच्छामि सांप्रतं तावद् मुनीशं संशयान्तरम् । पर्यालोच्येति पप्रच्छ मुनिनाथं महीपतिः ॥ १२९८ ॥ प्रभो ! पुरायमस्माभिः शुश्रुवे नन्दिवर्द्धनः । पात्रं गुणानां सर्वेषामाराम इव भूरुहाम् ॥ १२९९ ॥ अतोऽनेन महापापं कथं विहितमीदृशम् ? । सूरिणाभिदधे राजन् ! नास्य दोषस्तपस्विनः ॥ १३०० ॥ पदं गुणानां सर्वेषां स्वरूपेणैष वर्त्तते । राजोचे तर्हि कस्यायं दोषोऽथ

---

१ °दो भवेन् क० घ० ।

गुरुरभ्यधात् ॥ १३०१ ॥ यदेतद् दृश्यते दूरे कृष्णवर्णं पराङ्मुखम् । मानुषद्वयमेतस्य दोषः सर्वोऽपि पाप्मनः ॥ १३०२ ॥ ततो विलोक्य तत्सम्यक् प्राह भूमिप्रभुः प्रभो ! । लक्ष्यतेऽत्र पुमानेको द्वितीया वनिता पुनः ॥ १३०३ ॥ गुरुः प्राह महाराज ! सम्यग् विज्ञातवानसि। पुनर्नृपतिरप्राक्षीद् भगवन् ! के इमे ननु ? ॥ १३०४ ॥ सूरिराह महामोहपौत्रो द्वेषगजेन्द्रतुक् । अविवेकिताभूर्वैश्वानरोऽयं प्रोच्यते नरः ॥ १३०५ ॥ पितृभ्यामस्य च क्रोध इति पूर्वं कृताभिधा । पश्चाद्वैश्वानर इति जनेऽसौ पप्रथे गुणैः ॥ १३०६ ॥ द्वेषगजेन्द्रसम्बन्धिदुष्टाभिसन्धि-पुत्रिका । निष्करुणताभूर्हिंसा नारी त्वेषा निगद्यते ॥ १३०७ ॥ कोऽस्याभ्यां सह सम्बन्धः ? इति राज्ञोदिते गुरुः । आख्यदेते सुहृद्भार्ये भवतोऽस्यान्तरङ्गके ॥ १३०८ ॥ अधीनश्चानयोरेष धर्म्माधर्म्मं हिताहितम् । कृत्याकृत्यं भक्ष्याभक्ष्यं पेयापेयं च वेत्ति न ॥ १३०९ ॥ ततः कदर्थिताश्छात्रा बाल्येऽनेन निरागसः । खलीकृतः कलाचार्यस्ताडितो विदुरस्तथा ॥ १३१० ॥ घातिताः सत्त्वसंघातास्तरुणेन सता पुनः । जनितो जनतोद्वेगो विहिताश्च महाहवाः ॥ १३११ ॥ कनकचूडकनकशेखरौ स्वजनावपि । तौ मारयितुमारब्धौ न्यकृतौ च द्विषाविव ॥ १३१२ ॥ तदाराद् यद्भवन्मन्त्रिवधादि विदधेऽमुना । समग्रमपि भूमीश ! तन्निवेदितमेव ते ॥ १३१३ ॥ दोषः सैष समस्तोऽपि तद्वैश्वानरहिंसयोः । अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दाश्रयस्त्वसौ ॥ १३१४ ॥ पृथ्वीपतिरथोवाच भगवन् ! जनवार्त्तया । स्फुटवचनवृत्तान्तात् पुरास्माभिरिदं श्रुतम् ॥ १३१५ ॥ यन्नन्दिवर्द्धनेनोच्चैरुत्पन्नेन निजं

१ ०पुत्रः । २ राज्ञोदितो गुरुः क० ख० ग० ।

कुलम् । आनन्दितं वर्द्धितं च तोषितं नगरं तथा ॥ १३१६ ॥ वर्द्धमानेन तु निजैर्गुणैरावर्जितो जनः । निर्जिताः शत्रवः सर्वे यशसा च भृतं जगत् ॥ १३१७ ॥ यदन्यदपि च श्रेष्ठं तत्सर्वं विदधेऽमुना । हिंसावैश्वानरावस्य तत्किं नास्तामिमौ तदा ? ॥१३१८॥ सूरिराह महाराज ! तदाप्यास्तामिमौ ध्रुवम् । केवलं श्रेयसां हेतुरन्य एवा-भवत्तदा ॥ १३१९ ॥ कः सः ? एवं नृपेणोक्ते भगवानवदत् पुनः । परः सहचरोऽमुष्य राजन् ! पुण्योदयाभिधः ॥ १३२० ॥ तेनास्य तादृशी सर्वा चक्रे श्रेयःपरम्परा । प्रभावोऽनेन मूढेन केवलं नास्य लक्षितः ॥ १३२१ ॥ पुण्योदयवशाज्जातामपि कल्याणसन्ततिम् । हिंसावैश्वानरभवां मन्यते स्मायमल्पधीः ॥ १३२२ ॥ ततोऽयम-विशेषज्ञ इति मत्वा विरागवान् । इमं त्वन्मन्त्रिवृत्तान्तकाले पुण्योदयोऽत्यजत् ॥ १३२३ ॥ ततस्तद्विकलस्यास्य हिंसावैश्वानराविमौ । विदधाते महाराजैतदनर्थकदम्बकम् ॥ १३२४ ॥ नृदेवोऽथ जगादैवमस्य कालः किया-न्पुनः । हिंसाविवेकितासूनुसङ्गतस्याभवद्विभो ! ॥ १३२५ ॥ सूरिरूचे तिरोभूतावेतस्यानादिसङ्गतौ । किन्तु पद्मगृहेऽस्येमौ स्थितस्याऽऽविर्बभूवतुः ॥ १३२६ ॥ अनादिरूपः किमयं भगवन् ! नन्दिवर्द्धनः । इति पृष्टो नरेन्द्रेण बाढमित्यवदद् गुरुः ॥ १३२७ ॥ पद्मराजाङ्गजत्वेन प्रसिद्धस्तदसौ कथम् ? । इति भूमीभुजा पृष्टः पुनर्गुरुरभाषत ॥ १३२८ ॥ मिथ्याभिमानोऽमुष्यैष यदहं पद्मराजभूः । अतो नात्र महीभर्तः ! कर्त्तव्याऽऽस्था मनागपि ॥ १३२९ ॥ तत्त्वतस्तत्कुतस्त्योऽयमिति राज्ञेरिते गुरुः । जगादासंव्यवहारपुरवासी कुटुम्बिकः

१ ०भावस्तेन घ० ।

॥ १३३० ॥ संसारिजीवनामायं तच्छ्रुत्वा भूभुजा पुनः । पृष्टो गुरुः समाचख्यौ चरितं मे सविस्तरम् ॥ १३३१ ॥ ध्यात्वेति स शुद्धबुद्धितया बुद्धतत्त्वोऽथाचिन्तयन्नृपः । प्रोक्तो भवप्रपञ्चोऽस्यानेन व्याजेन सूरिभिः ॥ १३३२ ॥ जगादैवं यथैव भगवन् ! मया । विचारितं तथैवेदमन्यथा वा निगद्यताम् ॥ १३३३ ॥ तथैवेति मुनीन्द्रेण प्रत्युक्तः क्षितिपोऽवदत् । वृत्तान्तोऽयं किमस्यैव किंवान्यप्राणिनामपि ॥ १३३४ ॥ भगवानाह सर्वेषां संसारोदरवर्त्तिनाम् । प्राणिनामेष वृत्तान्तस्तुल्यः प्रायेण वर्त्तते ॥१३३५॥ यतः कर्म्मपरीणामादेशतो भवितव्यता । पर्याटयति निःशेषान् जन्तूनन्यान्ययोनिषु ॥१३३६॥ ततः क्रोधादिशत्रूणां मध्यतः क्वापि केऽपि तान् । नन्दिवर्द्धनवद् दुःखं बहुधा प्रापयन्त्यलम् ॥१३३७॥ नृपः प्राह प्रबोधोऽस्य प्रपञ्चेनेयतापि किम् । कथ्यमाने स्वसंवेद्ये स्ववृत्तान्तेऽभवद् विभो ! ॥ १३३८ ॥ सूरिरूचे महाराज ! बोधाभावो न केवलम् । प्रत्युतास्य महोद्वेगो मय्याख्याति[1] प्रवर्त्तते[2] ॥ १३३९ ॥ राजोचे किमभव्योऽयं ? गुरुः प्राह नहीदृशः । किन्तु क्रोधस्य दोषोऽयं यद् भात्यस्य न मद्वचः ॥१३४०॥ यतोऽनन्तोऽनुबन्धोऽस्येति कृत्वा मुनिपुङ्गवैः । एषोऽनन्तानुबन्धीति तुर्यनाम्ना निगद्यते ॥ १३४१ ॥ विद्यमाने ततोऽमुष्मिन्नमुना नाप्तबोधिना । अटितव्यं भवाटव्यां बहुशोऽद्यापि दुःखिना ॥१३४२॥ राजोचे तर्हि वैर्येष बाढमित्यभ्यधाद् गुरुः । राजोचे[3] किं सखास्यैवान्येषामप्यथवासकौ ॥ १३४३ ॥ मुनीन्द्रोऽथावदत्तावद् भवन्तीह पृथक् पृथक् । त्रीणि त्रीणि कुटुम्बानि सर्वेषामपि देहिनाम् ॥ १३४४ ॥ मार्दवार्जवसन्तोषक्षान्तिज्ञानदयादयः । भवन्ति

१ मयाख्याते प्र० ख० । २ ०वर्द्धते ता० । ३ राज्ञोचे क० ख० घ० ।

बन्धवो यत्र तत्कुटुम्बकमादिमम् ॥१३४५॥ इदं चाभ्यन्तरं जन्तोः प्रकटाप्रकटात्मकम्[1]। अनादि चाक्षयं मोक्षहेतुः स्वाभाविकं हितम्[2] ॥१३४६॥ क्रोधमानमायालोभमोहहिंसाभयादयः। भवन्ति बान्धवा यत्र तद् द्वितीयं कुटुम्बकम् ॥ १३४७ ॥ कियतामपि भव्यानामिदं चानादि सक्षयम्। अनाद्यपर्यवसितमभव्यभविनां पुनः। ॥ १३४८ ॥ तथादोऽप्यान्तरं जन्तोः प्रकटाप्रकटात्मकम्। तत्त्वतोऽस्वाभाविकं चाहितं संसारकृत् तथा ॥ १३४९ ॥ वपुस्तज्जनको योषिन्नरावन्येऽपि तादृशाः। भवन्ति स्वजना यत्र तत् तृतीयं कुटुम्बकम् ॥१३५०॥ एतच्चानियतं बाह्यं सादि सान्तं हिताहितम्। संसारमोक्षहेतुश्च यथा[3]भव्यतया[4] भवेत् ॥१३५१॥ तदेवं सति भूमीश! यद् द्वितीयं कुटुम्बकम्। तस्यान्तः सर्वजीवानामेष वैश्वानरः सखा ॥ १३५२ ॥ तथेयमपि हिंसाख्या भार्या विद्यत एव हि। तदेवं च स्थिते कार्यं यद् बुधैर्नृप! तच्छृणु ॥ १३५३ ॥ कुटुम्बमादिमं पोष्यं हन्तव्यं च द्वितीयकम्। तृतीयं च परित्याज्यं द्वितीय-परिपोषकम् ॥ १३५४ ॥ इदं च पार्यते कर्तुं तदा नृप! शरीरिभिः। दीक्षा यदाप्यते जैनी सर्वसौख्यनिबन्धनम् ॥ १३५५ ॥ तन्निशम्य विशामीशः श्रद्धाबन्धुरमानसः। एवं विज्ञपयामास भगवन्तं कृताञ्जलिः ॥ १३५६ ॥ भगवन्निह संसारे पुण्यैः प्राप्तोऽसि मादृशैः। ततः प्रसीद मे देहि दीक्षामेनां दयानिधे! ॥ १३५७ ॥ साधु साधु महाराज! सूरिणाऽपीति जल्पिते। जगाद विमलमतिं पार्श्वस्थं सोऽथ मन्त्रिणम् ॥ १३५८ ॥ अस्मा-भिरधुना ज्ञाततत्त्वैः सूरिपदान्तिके। दीक्षा ग्राह्या तदेतस्य कालस्योचितमाचर ॥ १३५९ ॥ सचिवोऽभिदधे देव!

१ आविर्भावतिरोभावधर्मकम्। २ हितकरणशीलम्। ३ तथा० क० ख० घ० । ४ ०याऽभवत् क० ग० घ० ।

मयैकेन न केवलम् । कालस्यास्योचितं कार्यं किन्तु पर्षज्जनैरपि ॥ १३६० ॥ गम्भीरः कोऽप्ययं भावोऽस्येति राजा विचिन्त्य तम् । [2]प्रोचेऽत्र त्वं क्षमः कार्ये [3]कार्यमेतैस्ततः किमु ? ॥१३६१॥ मन्त्र्यूचे देव ! यद्देवपादैरस्ति चिकीर्षितम् । शुद्धान्तामात्यसामन्तादीनामप्युचितं हि तत् ॥ १३६२ ॥ यतः [4]समानमाख्यातं सूरिभिः सर्वदेहिनाम् । पोष्यवध्यपरित्याज्यं कुटुम्बत्रितयं क्रमात् ॥ १३६३ ॥ राजोचे युक्तमेवेदं यद्येवं विदधत्यमी । मन्त्र्याह स्वहितं देव ! न विधास्यन्त्यमी कथम् ? ॥ १३६४ ॥ श्रुत्वाथ तं तदालापं कम्पिता गुरुकर्मकाः । व्यज्ञप्यत महीनाथो हृष्टैस्तु लघुकर्मभिः ॥ १३६५ ॥ यदाज्ञापयैते देवस्तदेव क्रियते द्रुतम् । कः सकर्णो हि सामग्र्यां भ्रश्यतीदृशसार्थतः ॥ १३६६ ॥ तच्छ्रुत्वा मुदितो राजा तैः सार्द्धं पार्श्ववर्त्तिनि । प्रमोदवर्द्धनाभिख्ये प्रययौ जिनमन्दिरे ॥ १३६७ ॥ तस्मिंश्च तैर्जिनार्चानामर्चास्नात्रपुरःसरम् । विदधे विधिनानल्पपुलकोद्भेदमेदुरैः ॥ १३६८ ॥ दानबन्धनमोक्षादि कृत्वान्यदपि चोचितम् । सुतं श्रीधरमाहूय स्वराज्येऽस्थापयन्नृपः ॥ १३६९ ॥ तैः सर्वैरपि गत्वाथ प्रार्थितो गणभृद्वरः । तेभ्योऽदाद् विधिना दीक्षां विदधे देशनां ततः ॥ १३७० ॥ ययुर्देवादयः [5]स्थानं व्यहरत् चान्यतो गुरुः । भद्रे ! तद्वाक्यपीयूषं रुरुचे न पुनर्मम ॥ १३७१ ॥ बन्धमोचनकाले च सर्वेषामपि देहिनाम् । मुक्तोऽहमपि बन्धेभ्यो नियुक्तैर्नृपपूरुषैः ॥ १३७२ ॥ हिंसावैश्वानरौ देहे प्रविष्टौ मे ततो मया ।

---

१ तावदस्याकूतो हि वर्तते ख० । २ विचिन्त्येति नृपोऽवोचदेतेषामुचितं नु किम् ? ख० । ३ किं कर्तव्यमिभैस्ततः ग० । ४ सामान्यमा० ता० । ५ ०यति दे० ख० ।

ध्यातमेतेन लोकान्तर्भिक्षुणाऽहं विगोपितः ॥ १३७३ ॥ तत्किमत्र स्थितेनेति दुर्मनाश्चिन्तयन्नहम् । गन्तुं प्रवृत्तो विजयपुरस्याभिमुखं ततः ॥ १३७४ ॥ इतश्च तत्रैव पुरे शिखर्याख्यमहीपतेः । सूनुर्मत्तुल्य एवास्ति भद्रे ! नाम्ना धराधरः ॥ १३७५ ॥ हिंसावैश्वानरासक्तः पित्रा निर्वासितः स च । अभ्यागच्छन् पुरस्यास्य मया मार्गमपृच्छ्यत ॥१३७६॥ अन्यचित्ततया तेन न ममाश्रावि तद्वचः । ततो ध्यातं मया नैष गणयत्यपि मां मदात् ॥१३७७॥ चिन्तयित्वेति तच्छ्रोणेश्चक्रपे क्षुरिका मया । हिंसावैश्वानरोल्लासात् खड्गं तेनापि कोशतः ॥ १३७८ ॥ द्वाभ्यामपि मिथो दत्तौ प्रहारौ युगपत्ततः । विदीर्णौ चावयोर्देहौ तत्क्षणात्कमलेक्षणे ! ॥ १३७९ ॥ जीर्णा सैकभववेद्या तदा च गुटिकाऽऽवयोः । ततश्च प्रददे साऽन्या भवितव्यतया तया ॥ १३८० ॥ इतश्चास्तीह पापिष्ठनिवासा नामतः पुरी । उपर्युपरि तस्यां च विद्यते सप्त पाटकाः ॥ १३८१ ॥ तेषु पापिष्ठनामानो वसन्ति कुलपुत्रकाः । आवामपि गतौ षष्ठे तमाख्ये पाटके ततः ॥ १३८२ ॥ तत्राऽऽवां च स्थितौ तादृकुलपुत्रकरूपिणौ । दुःखाम्भोनिधिनिर्मग्नौ प्रहरन्तौ परस्परम् ॥ १३८३ ॥ द्वाविंशतिसमुद्रान्ते गुटिकादानयोगतः । पञ्चाक्षनिवासपुरे निन्ये नौ भवितव्यता ॥ १३८४ ॥ गर्भजोरगरूपेण तत्राऽऽवां जनितौ तया । पूर्वावैरवशोद्भूतक्रोधाबन्धादयुत्स्वहि ॥ १३८५ ॥ तस्यां पापिष्ठवासायां पुर्यां धूमप्रभाभिधे । पञ्चमे पाटके नीतावथाऽऽवां पूर्ववत्तया ॥ १३८६ ॥ अन्योन्यं निघ्नतोस्तत्राप्यावयोर्दुःखमग्नयोः । सप्तदशसैवन्तीशोपमानि

१ तत्कटीतटात् । २ ०शव० ता० । ३ ०सागरोपमानि ।

व्यतिचक्रमुः ॥ १३८७ ॥ ततश्चानीय पञ्चाक्षनिवासे सिंहरूपिणौ । तया विनिर्मितावावामयुध्यावहि वैरतः ॥ ॥ १३८८ ॥ तत्रैव पुरि भूयोऽपि तुर्ये पङ्कप्रभाभिधे । तयाऽऽवां पाटके नीत्वा कृतौ पापिष्ठरूपिणौ ॥ १३८९ ॥ पूर्ववैरवशात्तत्राऽऽव्यावयोर्निघ्नतोर्मिथः । व्यतीयुर्दश वारीशा दुर्वारासुखदूनयोः ॥ १३९० ॥ तत्रैवाऽऽवां पुरे श्येनौ चक्रेऽथ भवितव्यता । प्राहरावहि तत्रापि पूर्ववद् रोषभीषणौ ॥ १३९१ ॥ तत्रैव पुरि नौ साऽथ तृतीये वालुकाभिधे । पाटके पूर्ववन्निन्ये गुटिकायाः प्रयोगतः ॥ १३९२ ॥ तत्राप्यावां मिथो घ्नन्तौ सागरान् सप्त तस्थिव । परमाधार्मिकक्षेत्रकृतदुःखौघविह्वलौ ॥ १३९३ ॥ ततो भूयोऽपि पञ्चाक्षनिवासे नकुलौ कृतौ । तयाऽऽवां वैरदुर्वारावयुध्यावहि पूर्ववत् ॥ १३९४ ॥ भूयोऽपि पूर्यां तत्रैव शर्कराख्ये द्वितीयके । पाटके गुटिकामन्यां वितीर्याऽऽवां निनाय सा ॥ १३९५ ॥ मिथस्तत्रापि हिंसन्तावतिष्ठावार्णवत्रयम् । परमाधार्मिकक्षेत्रकृतानेकव्यथातुरौ ॥ १३९६ ॥ धराधरेण तेनोच्चैर्वैरं वर्द्धयता मया । पुरे पुर्यां च तत्रैवं मुहुश्चक्रे गमागमः ॥ १३९७ ॥ ततश्च कौतुकेनेव गुटिकायोगतस्तया । त्यक्त्वाऽसंव्यवहारं तद् भ्रमितः सर्वतोऽप्यहम् ॥ १३९८ ॥ एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । चिन्तितं यदहो ! रौद्रः क्रोधो हिंसापि दारुणा ॥ १३९९ ॥ यतोऽयं तद्वशः प्राप्तो भवे दुःखमनेकशः । नृभवं कथमप्याप्तं व्यर्थीकृत्य तथा तथा ॥१४००॥ एवं च वीक्षमाणोऽपि फलमान्तरवैरिणाम् । नायं प्रवर्तते लोकः स्वहिते हा ! विमूढधीः ॥ १४०१ ॥ संसारिजीवः प्रोवाच सुभ्रु !

१ ०सागरोपमाः ।

श्वेतपुरेऽन्यदा । आनीयाऽऽभीररूपोऽहं भवितव्यतया कृतः ॥ १४०२ ॥ तदा वैश्वानरेऽन्तर्द्धिं गते शान्तोऽभवं मनाक् । विदधे च विशेषेण न शीलं न च संयमः ॥१४०३॥ केवलं मध्यमगुणो दानादिश्रद्धयाऽभवम् । अहं गिरिणदीग्रावघोलनान्यायतः स्वयम् ॥ १४०४ ॥ मां वीक्ष्य तादृशं साऽथ प्रसन्ना भवितव्यता । पुण्योदयं सहचरं पुरोधायाऽभ्यधादिति ॥ १४०५ ॥ त्वयाऽऽर्यपुत्र ! गन्तव्यं सिद्धार्थनगरेऽधुना । स्थेयं सुखेन चायं ते भावी पुण्योदयोऽनुगः ॥ १४०६ ॥ मयाऽपि स तदादेशस्तथेति प्रत्यपद्यत । जीर्णायां च पुरातन्यां सा मेऽन्यां गुटिकां ददौ ॥ १४०७ ॥ इत्थं विपाकविरसं चरितं निशम्य बालस्य पद्मतनयस्य च सम्यगेतत् । स्पर्शं क्रुधं वधमतिं च विमुञ्चतोच्चैर्भव्याः ! भवाब्धितरणे यदि वोऽस्ति वाञ्छा ॥ १४०८ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्य-श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे क्रोधहिंसास्पर्शनेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम तृतीयः प्रस्तावः ।

चतुर्थः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतौ सिद्धार्थं नामतः पुरम् । धर्मानुभावजातार्थसिद्धार्थाशेषनागरम् ॥ १ ॥ सौधाङ्गणेषु संक्रान्तं निंच्छु स्वच्छेषु बालिकाः । यत्रादित्सन्ति शीतांशुं पुष्पकन्दुकशङ्कया ॥ २ ॥ बभूव भूपतिस्तत्र नामतो नरवाहनः । यः पुण्यजननाथत्वात्प्रत्यक्षो नरवाहनः ॥ ३ ॥ यस्य निस्त्रिंशकृष्णाहिर्धाराजिह्वा-द्वयोत्कटः । यशःपयांसि भूयांसि वैरिणां परितः पपौ ॥ ४ ॥ तस्याग्रमहिषी जज्ञे नाम्ना विमलमालती । स्वकान्तस्वान्तरोलम्बफुल्लद्विमलमालती ॥ ५ ॥ भवितव्यतया तस्याः क्षिप्तः कुक्षावहं ततः । सापि मां समयेऽसूत सुतं पुण्योदयान्वितम् ॥ ६ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्यानि विधाय पितरौ मुदा । रिपुदारण इत्याख्यां चक्राते समये मम ॥ ७ ॥ इतोऽविवेकिता सापि मम धात्री सुलोचने ! । गर्भं बभार संप्राप्य सङ्गं स्वप्रेयसः क्वचित् ॥ ८ ॥ उन्नामितमहोरस्कं वदनाष्टकधारकम् । मज्जन्माहृथेव साऽसूत शैलराजाभिधं सुतम् ॥ ९ ॥ ततः पित्रोर्महानन्दं ददानः सुखलालितः । सहैव शैलराजेन क्रमाद् वृद्धिमहं गतः ॥ १० ॥ अथ पञ्चस्वतीतेषु वर्षेषु ददृशे मया । शैलराजशिरांस्यष्टौ शृङ्गाणीव स धारयन् ॥ ११ ॥ अनादिस्नेहमोहेन तं दृष्ट्वा मम मानसे । या प्रीतिरासीदाख्यातुं वचसा शक्यते न सा ॥ १२ ॥ मद्भावं सोऽथ विज्ञाय दूरादागत्य

१ नाम तत्पुरम् ता० क० ख० घ० । २ निशासु । ३ कुबेरः ।

सत्वरम् । मां स्नेहादिव सर्वाङ्गमालिलिङ्ग शठाशयः ॥ १३ ॥ अहो! भावज्ञता कापि स्नेहश्चामुष्य कोऽप्यहो ! । व्यायतेति मयाप्येष वयस्यः प्रत्यपद्यत ॥ १४ ॥ क्रीडतोऽथ समं तेन मैत्री मे ववृधेऽधिकम् । तत्प्रभावाद् बभूवुश्च वितर्का इति चेतसि ॥ १५ ॥ अहो ! मे सुन्दरा जातिरहो ! मे कुलमुत्तमम् । अहो ! मे वर्यमैश्वर्यमहो ! मे रूपमद्भुतम् ॥ १६ ॥ ये चान्येऽपि तपोलाभश्रुतशक्त्यादयो गुणाः । ते मय्येव वसन्त्युच्चैर्विमुच्य भुवनत्रयम् ॥१७॥ वन्द्यो मे न च कोऽप्यस्ति गुणातिशयशालिनः । विश्वस्यापि हि विश्वस्य वन्दनीयोऽहमेव यत् ॥१८॥ यद्वा यस्येदृशेनाभून्मित्रेण मम संगमः । को हि वर्णयितुं शक्तस्तस्य मे गुणगौरवम् ॥ १९ ॥ चिन्तयन्नेवमुद्ग्रीवो नक्षत्राणि निभालयन् । प्रभिन्न[1] इव गन्धेभः[2] सर्वतोऽपि भ्रमाम्यहम् ॥ २० ॥ न चाहं जनकं नापि जननीं न च देवताम् । न गुरुं चानमं शैल इवानम्रशरीरकः ॥ २१ ॥ ततो मां तादृशं दृष्ट्वा जनको मे व्यचिन्तयत् । अहो ! मदीयपुत्रोऽयं गाढं मानधनेश्वरः ॥ २२ ॥ ततो यद्यस्य कोऽप्याज्ञां कदाप्युल्लङ्घयिष्यति । तदा किमपि कर्त्ताऽयं मानान्नूनं विरूपकम् ॥ २३ ॥ कुमारप्रकृतिं तस्माद् ज्ञापयित्वाखिलानपि । सामन्तादीनमुष्याहं करोम्याज्ञावशंवदान् ॥ २४ ॥ चिन्तयित्वेति तातेन तथैव विहिते मम । लघोरपि नृपाः सर्वे किङ्करत्वमुपाययुः ॥ २५ ॥ कुलीना अपि विक्रान्ता अपि तातनिदेशतः । मां वीतगुणमप्येते सेवन्ते चाटुकारिणः ॥ २६ ॥ भद्रे ! पुण्योदयस्तत्र माहात्म्ये मम कारणम् । शैलराजादिदं सर्वमिति चित्ते त्वभून्मम ॥२७॥

---

१ मदवारियुक्तः । २ गन्धहस्ती ।

ततोऽत्यन्तप्रहृष्टेन स्नेहनिर्भरचेतसा । शैलराजो मयान्येद्युर्जगदे रहसि स्थितः ॥ २८ ॥ वयस्य ! समभूल्लोके देवानामपि दुर्लभम् । यदिदं मम माहात्म्यं प्रतापस्ते स निश्चितम् ॥ २९ ॥ स प्रोचे यद्गुणित्वेन गुणहीनोऽप्ययं जनः । कुमार ! हृदि ते भाति सौजन्यं तत्र कारणम् ॥ ३० ॥ ततश्च यदियं जज्ञे तव संभावना मयि । तया-सादितधाष्ट्र्यस्त्वां किञ्चिद् विज्ञपयाम्यहम् ॥ ३१ ॥ अस्ति स्ववीर्यजं स्तब्धचित्ताख्यं मे विलेपनम् । तन्निजे हृदये देयं कुमारेण प्रतिक्षणम् ॥ ३२ ॥ कुमारोऽस्य प्रभावं तु ज्ञास्यत्यनुभवात् स्वयम् । स इत्युक्त्वार्पयत्तन्मे लिप्तं तेन मयाप्युरः ॥ ३३ ॥ तत्प्रभावादहं गाढतरोन्नतभुजान्तरः । प्रस्तायःकुशिक इव जज्ञे नमनवर्जितः ॥ ॥ ३४ ॥ ततो मंध्यनमल्लोको विशेषेण ममाप्यभूत् । शैलराजे तदाख्यातलेपे च प्रत्ययो महान् ॥ ३५ ॥ इतोऽह-मगमं क्लिष्टमानसाख्ये पुरेऽन्यदा । तत्र दुष्टाशयं नाम नरेन्द्रं दोषमन्दिरम् ॥ ३६ ॥ देवीं जघन्यतां तस्य मृषावादं च तत्सुतम् । शाठ्यादिमित्रं स्नेहादिप्रतिपक्षं न्यलोकयम् ॥ ३७ ॥ कालं कियन्तमप्यस्थां तैश्चाहं तत्र मानितः । जज्ञे च निर्भरं मैत्री मृषावादेन तेन मे ॥ ३८ ॥ सहैवागत्य तेनाथ स्वस्थानं पुनरप्यहम् । संजाताभ्यधिकानन्दो विलसामि निजेच्छया ॥ ३९ ॥ मृषावादबलेनाथ सर्वप्रत्यक्षमप्यहम् । कृत्वापि निह्नुवेऽकृत्यं स्वीकृत्यात्यन्तधृष्टताम् ॥ ४० ॥ आत्मनापि विधायोच्चैर्दोषं कमपि लीलया । रोपयामि परे चाहं प्रहसन्निज-चेतसि ॥ ४१ ॥ ततश्च समयेऽनर्था जायन्तेऽत्यन्तदारुणाः । पुण्योदयानुभावेन विलयं यान्ति तेऽखिलाः

१ ममाऽन० ख० ।

॥ ४२ ॥ एवं च वर्त्तमानस्य वयस्यद्वययोगतः। कलाग्रहणकालो मे संप्राप प्रवरेक्षणे ! ॥ ४३ ॥ महामत्य-भिधस्याथ कलाचार्यस्य भक्तितः। अर्पयामास मां तातो महोत्सवपुरःसरम्॥ ४४ ॥ मामूचे च गुरुर्वत्स ! तवायं ज्ञानदायकः। अतः पादौ प्रणम्यास्य शिष्यभावं समाचर ॥ ४५ ॥ मयोक्तं तात ! मुग्धोऽसि यो मामेवं प्रभाषसे। वराकः किं विजानाति नूनमेष ममाग्रतः ? ॥ ४६ ॥ गुरुरन्यस्य लोकस्य स्यादेष न तु मादृशाम्। अतो नाहं पताम्यस्य पादयोः शास्त्रकाम्यया ॥ ४७ ॥ आददामि कलाः किन्तु भवतामनुरोधतः। मदीय-विनयो नूनमस्य स्यान्मातृलोहितम्॥ ४८ ॥ ततस्तातेन स प्रोचे कलाचार्यो रहःस्थितः। आर्य ! मामकपुत्रोऽयं गाढं मानधनेश्वरः ॥ ४९ ॥ तन्नैव भवताऽमुष्य दृष्ट्वाप्यविनयादिकम्। चित्तोद्वेगो विधातव्यो ग्राह्योऽयं चाखिलाः कलाः ॥ ५० ॥ ततो विनयनम्रस्य श्रुत्वा तातस्य जल्पितम्। यदादिशति राजेन्द्र इत्याह स महामतिः ॥ ५१ ॥ चिन्तितं च तदा तेन कलाचार्येण चेतसि। किलैष यावच्छास्त्रस्य भावार्थं नाव-बुध्यते ॥ ५२ ॥ यावच्च केलिबहुलां बालतामनुवर्त्तते। आध्मातोऽलीकगर्वेण तावदेवं प्रभाषते ॥ ५३ ॥ यदा तु ज्ञातशास्त्रार्थः प्रवीणश्च भविष्यति। तदायं मदमुत्सृज्य विनीतो भविता स्वयम्॥ ५४ ॥ एवं निश्चित्य शुद्धात्मा स मां ग्राहयितुं कलाः। कलाचार्यः प्रववृते बृहदादरपूर्वकम्॥ ५५ ॥ अन्येऽपि बहवस्तस्माद्विनीता राजसूनवः। कलामाददते वारि वारिदा इव वारिधेः ॥ ५६ ॥ ततश्चाहमधीयानो हीलयामि मुहुर्मुहुः। जात्यादि-

---

१ पुरस्सरम् क० ख० घ०। २ ०नीते नू० क० ख० ग० घ०।

भिरुपाध्यायं शैलराजनिदेशतः ॥ ५७ ॥ अथ दध्यावुपाध्यायः पापोऽयं रिपुदारणः । पायसं संनिपातीव न शास्त्राभ्यासमर्हति ॥ ५८ ॥ श्वपुच्छमिव नैवायं विनतिं कुटिलाशयः । शक्यो ग्राहयितुं नूनं मयोपायशतैरपि ॥ ५९ ॥ गुणाधानार्थमेतस्य मयेयत्कालमादरः । चक्रे नृपोपरोधेन त्याग एवाधुनोचितः ॥ ६० ॥ इति चेतसि निश्चित्य ततः प्रभृति मामसौ । धूलिरूपतयापश्यद्विमुक्ताध्यापनादरः ॥ ६१ ॥ तथापि न बहिर्वक्त्रविकारमपि जातुचित् । स दर्शयति गम्भीरमानसस्तातलज्जया ॥ ६२ ॥ अथान्यदा बहिर्याते कलाचार्ये तदासने । उपाविशमहं छात्रैर्दृष्टा च जगदे शनैः ॥ ६३ ॥ कुमार ! वन्द्यमेवेदमुपाध्यायासनं ततः । अस्य नाक्रमणं युक्तं बहुदोषनिबन्धनम् ॥ ६४ ॥ अथाहमवदं रे ! रे ! के यूयं शिक्षणे मम । एवं शिक्षयतात्मीयं गत्वा सप्तकुलं जडाः ! ॥ ६५ ॥ तेऽथ तूर्णीं स्थिताः पीठादुत्तस्थौ स्वेच्छया त्वहम् । आगते च कलाचार्ये मद्वृत्तं तेऽप्यचीकथन् ॥ ६६ ॥ क्रुद्धेन तेन पृष्टोऽथ सासूयमहमभ्यधाम् । अहो ! ते मतिनैपुण्यमहो ! ते शास्त्रकौशलम् ॥ ६७ ॥ यत्त्वं मत्सरिणामेषां सर्वदाऽनृतवादिनाम् । वचोभिर्विप्रलब्धो मामेवमाभाषसे किल ॥ ६८ ॥ दध्यौ विलक्षीभूतोऽथ कलाचार्यो महामतिः । न हि तावदमी राजसूनवो ब्रुवतेऽनृतम् ॥ ६९ ॥ निजापराधमेवं हि गोपयत्येष केवलम् । एनं विलोकयिष्यामि प्रच्छन्नीभूय तत्स्वयम् ॥ ७० ॥ विचिन्त्येत्यन्यदा तेन तथैव विहिते सति । तत्र वेत्रासने दृष्टो निविष्टोऽहं निकृष्टधीः ॥ ७१ ॥ उपाध्यायोऽथ

१ ऽपि तू० ता० । २ ०थाऽनृ० ख० ग० । ३ ०पाय० ता० ।

सहसा प्रकटः समजायत । अहमप्यमुचं तूर्णं तं विलोक्य तदासनम् ॥ ७२ ॥ कलाचार्योऽथ मामूचे तवेदानीं किमुत्तरम् ? । किमासीनो नवात्र त्वं विष्टरे दुष्ट ! रे वद ? ॥ ७३ ॥ प्रोचे कर्णौ पिधायाहमहो ! मत्सरवल्गितम् । यदकृत्यं स्वयं कृत्वा मय्येवाऽऽरोपयन्त्यमी ॥ ७४ ॥ दध्यौ महामतिः सेयं दृष्टेऽप्यनुपपन्नता । तदहो ! धार्ष्ट्यमेतस्य मन्ये नास्त्यस्य [1]वैद्यकम् ॥ ७५ ॥ अथैकान्ते कलाचार्यं कृत्वोक्तं राजदारकैः । यद्दृष्टव्यवक्त्रोऽयमत्रानेन स्थितेन किम् ? ॥ ७६ ॥ दध्यावथ कलाचार्यः सत्यमेते वदन्त्यदः । सत्संसर्गस्य नैवायमुचितो रिपुदारणः ॥ ७७ ॥ लुब्धक्रुद्धशठस्तब्धचौरजारादिशिक्षणे । उपायो विद्यते लोके न मिथ्यावादिनां पुनः ॥ ७८ ॥ तस्मादवश्यं त्याज्योऽयं ध्यात्वेत्याह स मां रहः । कुमार ! नेदृशां स्थानं शालायामिह जातुचित् ॥ ७९ ॥ शैलराजमृषावादौ ततः पापाविमौ त्यज । यदि वात्र कुमारेण नागन्तव्यमतः परम् ॥ ८० ॥ मया प्रोचे निजस्य त्वं स्थानं देहि पितुर्निजम् । विनैव त्वत्पदं त्वां च भर्लिंष्यामो वयं पुनः ॥ ८१ ॥ एवं च कर्कशैर्वाक्यैस्तिरस्कृत्य कलागुरुम् । स्तब्धचित्तविलिप्ताङ्गो निर्गतोऽहं तदाश्रयात् ॥ ८२ ॥ महामतिरथावादीत्तानेवं राजदारकान् । अरे ! तावदयं पापः प्रययौ रिपुदारणः ॥ ८३ ॥ केवलं भूपतेः पुत्रस्नेहमोहो महानिह । [3]दोषदोषिविभागं च स्नेहमूढा विदन्ति न ॥ ८४ ॥ ततः प्रक्ष्यति वृत्तान्तं यद्येनमवनीपतिः । ततः प्रत्याय[2]यिष्यामि सम्यग्युक्त्याऽहमेव तम् ॥ ८५ ॥ मौनमेवात्र युष्माभिः कर्त्तव्यं सर्वथा पुनः । यदादिशत्युपाध्याय इति

१ चिकित्सा । २ °विष्या० ख० । ३ दोष्यदो० ता० क० ।

तेऽप्यवदंस्ततः ॥८६॥ इतश्चाहं विनिर्गत्य गतस्तातस्य सन्निधौ । पाठस्वरूपं तेनापि पृष्टः संमान्य सादरम् ॥८७॥ शैलराजावलेपेन मृषावादबलेन च ततोऽहमवदं तात ! समाकर्णय मद्वचः ॥ ८८ ॥ कलाः सन्तीह याः काश्चिद् वेद्म्यहं ताः पुरैव हि । अयं त्वदीययत्नो मे [1]विशेषाधायकः परम् ॥८९॥ कलाभिर्भुवि पश्यामि स्वतुल्यं नापरं नरम् । तच्छ्रुत्वा मुदितस्तातः प्रोचे चारुस्तवोद्यमः ॥ ९० ॥ विद्यायां ध्यानयोगे च स्वभ्यस्तेऽपि हितैषिणा । सन्तोषो नैव कर्त्तव्यो जातु जात ! तथापि हि ॥ ९१ ॥ गृहीतानां स्थिरत्वेन शेषाणां ग्रहणेन च । कलानां मे ततो वत्स ! त्वं पुषाण मनोरथान् ॥ ९२ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते मया मुदितमानसः । भद्रे ! तातस्ततः कोशाध्यक्षमादिष्टवानिति ॥ ९३ ॥ महामतिगृहं भद्र ! स्वर्णाद्यैः परिपूरय । कुमारोऽयं कला गृह्णन् येन तत्रैव तिष्ठति ॥ ९४ ॥ तत्तथा विदधे सोऽपि मद्वृत्तं तु महामतिः । माभूद् देवस्य संताप इति तातस्य नाख्यत ॥ ९५ ॥ तातो मां पुनरप्याह कुमाराद्यप्रभृत्यपि । पूर्वाधीतं स्थिरयता नूतनं चाभिगृह्णता ॥ ९६ ॥ कलाकलापं सकलं त्वयोपाध्यायमन्दिरे । स्थेयं तत्रैव नो वत्स ! द्रष्टव्योऽहमपि त्वया ॥ ९७ ॥ युग्मम् ॥ एवं भवत्विति मुदा गदित्वाऽथ नृपान्तिकात् । विनिर्गतोऽहमप्राक्षं दुष्टाशयनृपात्मजम् ॥ ९८ ॥ सखे ! कस्योपदेशेन तव कौशलमीदृशम् ? । येन त्वदीयावष्टम्भात् चक्रे हर्षः पितुर्मया ॥ ९९ ॥ प्रच्छादितः कलाचार्यकलिव्यतिकरोऽपि हि । लेभेऽतिदुर्लभा चेयं तथा मुत्कलचारिता ॥ १०० ॥ सोऽप्युवाच कुमाराऽस्ति पुरे राजसचित्तके ।

१ 'केवलं पिष्टपेषणम्' ताडप्रतौ पाठान्तरं लिखितमस्ति । २ मृषावादम् ।

रागकेशरिभूपालो देवी तस्य च मूढता ॥ १०१ ॥ तयोर्माया सुता सा च प्रपन्ना मे वृहत्स्वसा। ततस्तदुपदेशेन मम कौशलमीदृशम् ॥ १०२ ॥ व्रजामि यत्र यत्राहं तत्र तत्र मया सह। अन्तर्लीनास्ति सा नित्यं मदीयविरहासहा ॥ १०३ ॥ वयस्य ! दर्शनीयेयं ममापीति मयोदिते। प्रस्तावे दर्शयिष्यामीत्यवोचत्पुनरप्यसौ ॥ १०४ ॥ ततः प्रभृत्यहं वेश्याद्यूतकारादिवेश्मसु। विचरामि यथाकामं सदा दुर्ललितैर्युतः ॥ १०५ ॥ अलीकं च मृषावादाल्लोके स्वस्य कलाग्रहम्। तन्वंस्तातमपश्यंश्च द्वादशाब्दीमलङ्घयम् ॥ १०६ ॥ मुग्धोक्त्या[1] च कुमारोऽयं कृती[2] सर्वकलास्विति। देशान्तरे प्रवादोऽभूद् यौवनं चाहमासदम् ॥ १०७ ॥ इतोऽस्ति शेखरपुरे नरकेशरिभूपतेः। सुता वसुन्धरादेवीकुक्षिभूर्नरसुन्दरी ॥ १०८ ॥ उद्यौवना च सा दध्यौ यः कलाभिर्भविष्यति। मत्तोऽधिकस्तमेवाहं परिणेष्यामि नापरम् ॥ १०९ ॥ तदाकूतं च ज्ञात्वाथ पित्रोराकुलताऽभवत्। कलाभिर्न समोऽपीह यतस्तस्याः कुतोऽधिकः ? ॥ ११० ॥ समाकर्ण्य कलावित्त्वकीर्त्तिं दध्यौ च तत्पिता। भविष्यत्यधिकोऽमुष्याः[3] स एव रिपुदारणः ॥ १११ ॥ युज्यते चैष संबन्धो नरवाहनभूभुजा। तादृशा हि सुवंश्येन संबन्धः केन लभ्यते ? ॥ ११२ ॥ ततस्तत्रैव गत्वाहं परीक्ष्य रिपुदारणम्। सुतां विवाहयाम्येनां यथा स्यान्मे मनःसुखम् ॥ ११३ ॥ ध्यात्वेति तामुपादाय सुतामत्यन्तवल्लभाम्। सिद्धार्थपुरमायातः सबलो नरकेशरी ॥११४॥ अथ ज्ञापितवृत्तान्तो हृष्टस्तातः सविस्तरम्। प्रवेश्यैनं पुरे तस्यार्प्पयाञ्चक्रे निकेतनम् ॥११५॥ ज्ञापितं चेति लोकानां कुमारस्य भवि-

---

१ जनप्रवादेन। २ विद्वान्। ३ प्रभवत्य० ग०।

ष्यति। समं यन्नरसुन्दर्यां कलाकौशलनिर्णयः ॥ ११६ ॥ ततः शुभे दिने सज्जीकारिते मण्डपेऽमिलत्। राजकं सपरिवारस्तातश्चान्तरुपाविशत् ॥ ११७ ॥ आहूतोऽथ कलाचार्यः सार्द्धं तैर्नृपदारकैः। आजगामाहमप्याशु मित्रत्रयसमन्वितः ॥ ११८ ॥ पुण्योदयोऽस्ति मद्दुष्टचेष्टितैस्तु कृशस्तदा। अथाहं न्यषदं तातान्तिके स च कलागुरुः ॥ ११९ ॥ निवेदितं च तातेन कलाचार्याय मूलतः। नरकेशरिराजस्य तत्रागमनकारणम् ॥ १२० ॥ तच्छ्रुत्वा मुदितोऽत्यन्तमहं स तु महामतिः। हृसंश्रित्ते स्थितस्तूर्ष्णीं नरकेशर्यथाऽऽगमत् ॥ १२१ ॥ तातेन दापिते सिंहासने तस्मिन्निषेदुषि। वयस्याभिः परिवृता रूपावगणिताप्सराः ॥ १२२ ॥ विहिताद्भुतनेपथ्या हरन्ती कामिनां मनः। लीलामन्थरया गत्या नरसुन्दर्यथाऽऽययौ ॥ १२३ ॥ युग्मम् ॥ तां विलोक्य च हृष्टेन शैलराज-विलेपनम्। मयात्महृदये चक्रे चिन्तितं चेति चेतसि ॥ १२४ ॥ अन्यः को मां विहायैनां मृगाक्षीं वोढुमर्हति। नहि जातु विना कामं रतिरन्यस्य युज्यते ॥ १२५ ॥ अत्रान्तरे सविनयं तातादीनां कृतानतिः। नरकेशरिराजेन जगदे नरसुन्दरी ॥ १२६ ॥ उपविश्य त्रपां मुक्त्वा त्वमेनं नृपनन्दनम्। पृष्ठ्वाभीष्टां कलां वत्से! पूरयात्म-मनोरथम् ॥ १२७ ॥ उपविश्याथ सा प्राह न गुरूणां पुरो मम। वक्तुं युक्तं ततो राजसूनुरेव प्रजल्पतु ॥१२८॥ कलासु जल्पतस्तस्य सारस्थानं किमप्यहम्। प्रक्ष्यामि तत्र निर्वाहः कर्त्तव्यो नृपसूनुना ॥ १२९ ॥ हृष्टस्तातोऽथ मामूचे युक्तं राजसुताऽवदत्। तदिदानीं कलोद्ग्राहं कृत्वाऽस्याः पूरयेप्सितम् ॥ १३० ॥ विधेहि कुलनैर्मल्यं गृहाण च जयध्वजम्। कलाज्ञानप्रकर्षस्य वत्सैष निकषः खलु ॥ १३१ ॥ तदा तु मे कलानामान्यपि विस्मृतिमाययुः।

ततः प्रनष्टवाक्यस्य 'क्षोभोऽभूद्वचनातिगः ॥ १३२ ॥ तातो विषण्णस्तद्वीक्ष्योपाध्यायमुखमैक्षत । किमेतदित्यपृच्छच्च सोऽपि कर्णे न्यवेदयत् ॥ १३३ ॥ देव ! किञ्चिन्न वेत्त्येष कलामध्ये ततोऽक्षुभत् । तातः प्राह कुतोऽज्ञानं ? कुमारो हि [2]कलाकृती ॥ १३४ ॥ मद्दुर्वृत्तमथ स्मृत्वा क्रुद्धः प्रोचे कलागुरुः । शैलराजमृषावादकलयोरेव [3]कृत्ययम् ॥ १३५ ॥ ततो दुर्विनयासत्यभाषणे एव वेत्त्यसौ । न गन्धमात्रमप्यन्यकलानां बुध्यते पुनः ॥ १३६ ॥ तातः प्राह कथं ? सोऽथावदद्देव ! किमुच्यते । कुमारचरितं सर्वं नाख्यातुमपि पार्यते ॥ १३७ ॥ तातः प्रोचे यथावृत्तं कथ्यतां सोऽप्यथो मम । वृत्तं वेत्रासनारोहाद्यधिक्षेपान्तमाख्यत ॥ १३८ ॥ तातः प्रोवाच यद्येवं जानतापि त्वयेदृशम् । स्वरूपं किमसावार्य ! सभामध्ये प्रवेशितः ॥ १३९ ॥ कलाचार्योऽवदद्देव ! मया नायं प्रवेशितः । मद्गृहान्निर्गतस्यास्याभूवन् द्वादश वत्सराः ॥ १४० ॥ त्वदाह्वानादहं गेहादिहागामन्यतस्त्वयम् । स्थानात् कुतश्चिदेवं च श्रुत्वा तातोऽभ्यधादिति ॥ १४१ ॥ आर्य ! यद्येवमस्यैवंविधस्यापि कुतोऽभवत् । कल्याणाली पुरा किं वाऽधुना लोके विगुप्यति(ते) ॥ १४२ ॥ महामतिरथोवाच देवा[4]स्त्यस्यान्तरः सखा । पुण्योदयः पुरा तेन कल्याणाली कृताऽखिला ॥ १४३ ॥ ततोऽवोचदयं तत्र क्वाऽधुना ? स प्राह तिष्ठति । क्षीणः किन्त्वस्य दुर्वृत्तैर्न क्षमो हर्तुमापदम् ॥ १४४ ॥ तच्छ्रुत्वाह सभामध्ये दुःसुतेनामुना वयम् । ह्रेपिताश्चिन्तयन्नेवं तातः कृष्णमुखोऽभवत् ॥ १४५ ॥ सोऽलक्षि लोकैरालोचो विद्राणं स्वजनैस्ततः ।

---

१ ०मथ त० ख० । २ कलानिपुणः । ३ विद्वान् अयम् । ४ ०स्तेऽस्या० ग० ।

निभृतं हसितं विज्ञैर्विषण्णा नरसुन्दरी ॥ १४६ ॥ विस्मितस्तत्पितुर्लोकोऽहं तु चेतस्यचिन्तयम् । नूनं तातकलाचार्यौ बलान्मां जल्पयिष्यतः ॥ १४७ ॥ ततो भयातिरेकेण विह्वलीभूतमानसः । निरुद्धोच्छ्वासनिःश्वासोऽहं मुमूर्षुरिवाभवम् ॥ १४८ ॥ ततो हा ! जात ! हा ! जात ! किमेतदिति भाषिणी । वेगेनैत्यालगद् देहेऽम्बा मे विमलमालती ॥ १४९ ॥ यात यात जनाः ! नाद्य कुमारः पटुविग्रहः । इति तातोदिता लोकाः स्थानं स्वस्वमथाययुः ॥ १५० ॥ कुमारस्याहो ! पाण्डित्यमहो ! पाण्डित्यमित्यलम् । स्थाने स्थाने च सम्भूय ते हसन्ति स्म मां बहिः ॥ १५१ ॥ नरकेशर्युपाध्यायावप्यावासं निजं निजम् । त्रपावनतवक्त्रेण तातेन प्रहितौ गतौ ॥ १५२ ॥ नरकेशरिभूपालश्चिन्तयामासिवानथ । दृष्टं द्रष्टव्यमधुना कुर्मः प्रातः प्रयाणकम् ॥ १५३ ॥ ममापि निर्जने मन्दभियः सुस्थमभूद् वपुः । तातो वज्राहत इवालक्ष्यत् तद्दिनं पुनः ॥ १५४ ॥ प्रादोषिकमथास्थानमदत्त्वा निशि केवलः । सुष्वाप चिन्तया ध्वस्तनिद्रश्चालक्ष्यन्निशाम् ॥ १५५ ॥ इतश्च लज्जितः पुण्योदयो दध्यौ न सुन्दरम् । मयाऽकारि कुमारो यत् लोकमध्ये विगोपितः ॥ १५६ ॥ ततो यद्यप्ययोग्योऽयमेतस्या रिपुदारणः । तथापि दापयाम्येनामस्मै कमललोचनाम् ॥ १५७ ॥ ध्यात्वेति स रजन्यन्ते निद्राणस्य पितुर्ददौ । स्वप्नान्तर्दर्शनं श्वेतभद्राकारनृरूपभाक्[1] ॥ १५८ ॥ राजन् ! जागर्षि ? निद्रासि ? चेति तातमुवाच च । जागर्मीति नृपेणोक्ते जगादेति पुनः स तम् ॥ १५९ ॥ अवश्यं दापयिष्यामि नरकेश-

१ ०नृवेषभाक् ग० ।

रिनन्दिनीम्। अचिराय कुमाराय खेदं भूनाथ! मा कृथाः ॥ १६० ॥ महाप्रसाद इत्युक्ते राज्ञाथ स तिरोदधे। तदानीं चापठत् प्रातःशंसी मङ्गलपाठकः ॥ १६१ ॥ हीनप्रतापो यः पूर्वं गतोऽस्तं जगतां पुरः। स एवोदयमासाद्य लभते श्रियमर्यमा ॥ १६२ ॥ तेन वैतालिकोक्तेन तेन स्वप्नेन चात्मनः। निश्चिताभीष्टसंसिद्धिस्तातः प्रातःक्रियां व्यधात् ॥ १६३ ॥ इतश्चाचिन्त्यमाहात्म्यपुण्योदयसमीरितः। नरकेशरिभूमीशश्चिन्तयामास चेतसि ॥ १६४ ॥ इहागमनहेतुर्मे तावद् राज्यान्तरेष्वपि। विज्ञातो माननीयश्च नृपोऽयं नरवाहनः ॥ १६५ ॥ ततो लज्जाकरं पक्षद्वयेऽपि नरसुन्दरीम्। अदत्त्वा गमनं तस्मात् कुमाराय ददाम्यमूम् ॥ १६६ ॥ ध्यात्वेति नरसुन्दर्यै स स्वाभिप्रायमाख्यत। पुण्योदयेरिता सापि तदादेशममन्यत ॥ १६७ ॥ नरकेशर्यथागत्य नरवाहनमभ्यधात्। महाराज! कुमाराय दत्तैवेयं मया सुता ॥ १६८ ॥ यतो विकत्थमानानां बह्वत्र खलु जायते। खलावकाशस्तदियं निर्विचारं[1] प्रगृह्यताम् ॥ १६९ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ हृष्टस्तातः शुभेऽहनि। आवयोः कारयाञ्चक्रे पाणिग्रहमहामहम् ॥ १७० ॥ विमुच्य तनयां यातः स्वस्थाने नरकेशरी। ममापि हि तया सार्द्धं क्रीडतो यान्ति वासराः ॥ १७१ ॥ आवयोश्च महाप्रेम द्विशरीरैकचेतसोः। पुण्योदयेन घटितमन्योन्यविरहासहम् ॥ १७२ ॥ तद् दृष्ट्वाथ मृषावादशैलराजौ रुषं गतौ। वियोक्ष्यते कथमसावेतयेति प्रदध्यतुः ॥ १७३ ॥ शैलेशोऽथ मृषावादमवादीत् चित्तभेदनम्। कुरु त्वं नरसुन्दर्या भलिष्यामि ततः परम् ॥ १७४ ॥ मृषावादस्ततः

---

१ ०कारं ता०।

प्राङ् नोत्साहोऽहं भवादृशा । मया विहितमेवास्याः पश्य चित्तस्य भेदनम् ॥ १७५ ॥ तदेवं मद्वियोगार्थमेतौ विहितनिश्चयौ । शैलराजमृषावादौ पर्यालोच्य व्यवस्थितौ ॥ १७६ ॥ अहं तु तां समासाद्य प्रेयसीं नरसुन्दरीम् । चिन्तयाम्यहमेवैको धन्यो यस्येदृशी प्रिया ॥ १७७ ॥ ततः पश्यामि नो देवान्न बन्धून् न गुरूनहम् । न भृत्यवर्गं नो लोकं न विश्वं सचराचरम् ॥ १७८ ॥ तद् दुष्टवृत्तं मे वीक्ष्याथाभूत्पूण्योदयः कृशः । सोपहासं मिथः प्राहुर्जनाश्चैवं विरागिणः ॥ १७९ ॥ पश्यताहो ! विधेः कीदृगस्थानविनियोजनम् । स्त्रीरत्नमीदृशं येन मूर्खेणानेन योजितम् ॥ १८० ॥ दर्पान्धोऽभूत्पुराप्येष प्राप्येमां तु विशेषतः । एकं कपिः परं दष्टोऽलिनेति तदभून्नयः ॥ १८१ ॥ इयं च नोचितामुष्य सद्भार्या नरसुन्दरी । मराली वायसस्येव खरस्येव च हस्तिनीम् ॥ १८२ ॥ इतश्चान्येद्युरेकान्ते सा प्रिया नरसुन्दरी । स्नेहभावपरीक्षार्थं मामूचे सरलाशया ॥ १८३ ॥ तवार्यपुत्र ! कीदृक्षं सभामध्ये तदाभवत् । शरीरापाटवं येन न वक्तुमपि पारितम् ॥ १८४ ॥ लब्धच्छलेन तेनाथ मृषावादेन संश्रितः । लक्षितं तु त्वया कीदृगिति तामहमभ्यधाम् ॥ १८५ ॥ प्रत्यचोचत साप्येवं न किञ्चिल्लक्षितं तदा । आर्यपुत्र ! मया सम्यक् किन्त्विदं शङ्कितं पुनः ॥ १८६ ॥ सत्यमेवार्यपुत्रस्य जातं वपुरपाटवम् ? । किं वा कलानामज्ञानस्येदं हन्त विजृम्भितम् ? ॥ १८७ ॥ मयाथोच्यत नैकापि शङ्का कार्या त्वया प्रिये ! । यतः सर्वा अपि कलास्तरन्ति हृदये मम ॥ १८८ ॥ शरीरापाटवमपि न किञ्चिदभवत्तदा । किन्तु मोहात्पितृभ्यां स चक्रे कलकलो

१ वृश्चिकेन । २ तदाऽलक्ष(०क्षि)त्व० ता०, त [०दाऽल]क्षि त्व क० घ०, लक्षि तन्वि ! त्व० गं० ।

मुधा ॥१८९॥ ततोऽहं मौनमालम्ब्य स्थैर्यादस्थां प्रिये ! तदा। तच्छ्रुत्वा ज्ञातमद्भावा सा दध्यौ बुद्धिमत्यदः ॥१९०॥ अहो ! अस्याभिमानित्वमहो ! वितथवादिता । अहो ! अत्यन्तधृष्टत्वमिति ध्यात्वाभिधत्त सा ॥ १९१ ॥ यद्येव-मार्यपुत्रेण कीर्त्यमानाः कला मम । श्रोतुं कौतुकमत्यन्तं ताः कीर्त्तय ततः प्रिय ! ॥१९२॥ तदा चावसरं ज्ञात्वा शैलराजो [1]व्यजृम्भत । मदीयहृदयं स्तब्धचित्तेन विलिलेप च ॥१९३॥ अथाध्यायमहं चित्ते नूनं पण्डितमानिनी । मां पापोपहसत्येषा ततः किमनया मम ॥१९४॥ ध्यात्वेत्यूचे मया पापे ! तूर्णं निर्गच्छ मद्गृहात् । मूर्खेण मादृशा स्थातुं विदुष्यास्ते न युज्यते ॥ १९५ ॥ साप्याटोपं समालोक्य तमकाण्डभवं मम । पद्मिनीव हिमप्लुष्टा जज्ञे म्लानमुखाम्बुजा ॥१९६॥ ततोऽपि वेपमानाङ्गी [2]नीरङ्गीपिहितानना । जगामाम्बागृहे बाला सा निर्गत्य मदोकसः ॥ १९७ ॥ ममाप्यथ मनाक् शुष्के स्तब्धचित्तविलेपने । पश्चात्तापोऽभवद् बाढं तदीयस्नेहमोहतः ॥ १९८ ॥ संभूतारतिरत्यन्तमुल्लसन्मन्मथव्यथः । न्यषीदमथ पल्यङ्के निस्सहस्रस्तविग्रहः ॥ १९९ ॥ चिन्तयन्निःश्वसन्वेल्लन् यावत्तत्रास्म्यहं क्षणम् । विवर्णास्यागमत् तावदम्बा विमलमालती ॥ २०० ॥ आदाय स्वयमेवाथ विष्टरं निषसाद सा । कृत्वा[3]वहित्थं शय्यास्थ एव तस्थावहं पुनः ॥ २०१ ॥ अथ साभिदधे वत्स ! न साधु विदधे त्वया । तिरस्कृता वराकीयं यत्तथा नरसुन्दरी ॥ २०२ ॥ इतो गताया यत्तस्याः संपन्नं वत्स ! तच्छ्रुणु । कथयेति मया प्रोक्ते पुनरम्बा ब्रवीदिति ॥ २०३ ॥ वत्स ! तावदितो याता कपोललुलितालका । रुदती दीनवक्त्रा

१ विजृम्भितः ख० । २ शिरोवस्त्रम् । ३ आकारगोपनम् ।

सा पपात पदयोर्मम ॥ २०४ ॥ भद्रे ! किमेतदिति सा मया पृष्टाभ्यधादथ । अम्ब ! दाहज्वरोऽत्यन्तं शरीरं बाधते मम ॥ २०५ ॥ सप्रवातप्रदेशेऽथ खट्वा प्रक्षेपिता मया । आसयित्वा च तां तत्र निषण्णाहं तदन्तिके ॥ २०६ ॥ मुद्गरैर्हन्यमानेव प्लुष्यमाणेव वह्निना । बहूपचर्यमाणापि न लेभे तत्र सा रतिम् ॥ २०७ ॥ दाहज्वरोऽयं किंहेतुस्तवेति गदिता मया । दीर्घदीर्घं निरश्वासीदूचे सा न तु किञ्चन ॥ २०८ ॥ ध्रुवमस्या मनःपीडा तेनाऽऽख्याति ममापि न । ध्यात्वेति साग्रहं पृष्टा मया साऽऽख्यद् यथातथम् ॥ २०९ ॥ मयोचे साथ यद्येवं तर्हि धीरा भवानघे ! । मा विषीद करिष्यामि प्रसन्नं स्वसुतं त्वयि ॥ २१० ॥ किन्त्विदं त्वं न किं वेत्सि ? यदयं तनयो मम । मानी कस्याप्यधिक्षेपं क्षमते न मृगेन्द्रवत् ॥ २११ ॥ ततोऽधुना स्वरूपेऽस्य ज्ञाते न प्रतिकूलनम् । कार्यं किन्तु परात्मेवाऽऽराध्योऽयं सर्वदा त्वया ॥ २१२ ॥ ततश्च वत्स ! तच्छ्रुत्वा मद्वचः सा तपस्विनी । प्राप पीयूषसिक्तेव प्राप्तराज्येव वा मुदम् ॥ २१३ ॥ समुत्थाय पतित्वा च क्रमयोर्मम साऽवदत् । अम्बया मेऽल्पभाग्याया विदधेऽनुग्रहो महान् ॥ २१४ ॥ तद्गत्वा शीघ्रमेवाम्बानुकूलं विदधातु मे । आर्यपुत्रमेकवारं करिष्ये नेदृशं पुनः ॥ २१५ ॥ ततः कदलीकां दासीं विमुच्याहं तदन्तिके । वत्सस्याभ्यर्णमायाता परमार्थोऽयमत्र तत् ॥ २१६ ॥ भवतो रोषनाम्नापि म्रियते सा वराकिका । तोषनाम्ना पुनः प्राप्तजीवातुरिव जीवति ॥२१७॥ अतो यन्मुग्धया किञ्चिदपराद्धं तया तव । अज्ञानात् प्रणयाद्वापि तद् वत्सः क्षन्तुमर्हति ॥२१८॥

श्रुत्वा चैवं प्रियाप्रेमप्रह्वो[1] यावद्भवाम्यहम्। तावन्मे शैलराजेन दत्तं हृदि विलेपनम् ॥ २१९ ॥ ततोऽहं दयितामन्तुं तं स्मृत्वा[2]ऽम्बामवादिषम्। तयापमानकारिण्या न कार्यं पापया मम ॥ २२० ॥ अथाम्बाऽभिदधे वत्स ! मैवं वादीरयं मम। तदीयमन्तुः क्षन्तव्य इत्युक्त्वा मेऽपतत् पदोः ॥ २२१ ॥ मयोचेऽत्रस्तु-निर्बन्धपरेऽपसर दूरतः। त्वयापि हि न मे कार्यं [3]सपापाप्याद्दता यया ॥ २२२ ॥ उक्त्वेत्यम्बा मया पद्भ्यां क्षिप्ता[4] साथ मदाशयम्। विज्ञाय नरसुन्दर्यै गत्वाऽऽख्यत् तद् यथातथम् ॥ २२३ ॥ दुःश्रवं तदथ श्रुत्वा नरकेशरिनन्दिनी। वज्रदण्डहतेवाशु पपात भुवि मूर्च्छया ॥ २२४ ॥ वायुदानादिना लब्धचेतनां रुदतीं च ताम्। ऊचेऽम्बा त्वत्पतिस्वान्तं वत्से ! वज्रेण निर्मितम् ॥ २२५ ॥ तथापि पुत्रि ! मा रोदीर्विषादं मुञ्च सर्वथा। तावदेकं कुरूपायं त्वमवष्टभ्य साहसम् ॥ २२६ ॥ गत्वा स्वयं त्वमेवैकवारं तमनुकूलय। एवं यदि पुनस्तस्य कथञ्चिद् वलते मनः ॥ २२७ ॥ अथैवं विहितेऽप्यस्य मनश्चेन्न वलिष्यते। पश्चात्तापस्ततश्चित्ते नैव वत्से ! भविष्यति ॥ २२८ ॥ तद्वचः प्रतिपद्याथ मत्पार्श्वं नरसुन्दरी। आययौ पृष्ठतस्त्वेत्य द्वार्यम्बा निभृतं स्थिता ॥ २२९ ॥ नरसुन्दर्यथो भद्रे ! पतित्वा पदयोर्मम। जगादाश्रान्तमश्रूणि श्रवन्ती गद्गदस्वरम् ॥ २३० ॥ नाथ ! कान्त ! प्रिय ! स्वामिन् ! जीवितेश्वर ! वल्लभ !। प्रसीद मन्दभाग्यायां मम प्रणतवत्सल ! ॥ २३१ ॥ न पुनस्ते मनोदुःखं करिष्यामि कदाचन। त्वां विना शरणं नाथ ! न ममास्ति जगत्यपि ॥ २३२ ॥ तां वीक्ष्य

१ ०नम्रः। २ ०त्वा ताम० ग०। ३ सा पापा० ग०। ४ प्रेरिता।

तादृशीं मेऽभून्मनः कमलकोमलम्। शैलराजं बहूकृत्य मयाऽभर्त्सि तथापि सा ॥ २३३ ॥ आः पापे! गच्छ गच्छाशु वागाडम्बरमायया। न प्रतारयितुं शक्यस्त्वयायं रिपुदारणः ॥ २३४ ॥ कुशलापि कलासूच्चैरन्येपामेव वञ्चनम्। कर्तुं शक्तासि नो जातु मूर्खाणामपि मादृशाम् ॥ २३५ ॥ यदाहं हसनस्थानं संजातस्त्वादृशामपि। तदा किं ते प्रलापेन? कीदृशी नाथता च मे? ॥ २३६ ॥ इत्युक्त्वा मयि तूष्णीके स्थिते बाला क्षणं तदा। विधेयविधुरा साऽभूद् भ्रष्टविद्येव खेचरी ॥ २३७ ॥ प्रियापमानिताया मे किं प्राणैरिति निश्चयात्। मुमूर्षुः सा ममावासान्निर्जगाम शनैस्ततः ॥ २३८ ॥ किमेषा विदधातीति चिन्तयन्नहमप्यथ। निभृतं शैलराजेन सार्द्धं तामनुजग्मिवान् ॥२३९॥ दुर्वृत्तानि मदीयानि तानि तानि विलोकयन्। निर्विण्ण इव मार्त्तण्डस्तदा देशान्तरं ययौ ॥२४०॥ अथान्धकाररुद्धेषु जनशून्येषु वर्त्मसु। जगामैकत्र सा शून्यमन्दिरे नरसुन्दरी ॥ २४१ ॥ अहं तु पश्यंस्तामेव जाते किञ्चिद् विधूदये। तस्थौ निलीय तद्द्वारप्रदेशे [1]परमोषिवत् ॥ २४२ ॥ साथ तत्र दिशो वीक्ष्य समारुह्येष्टिकास्थलम्। मध्यमे वलके(लये)ऽबध्नात् पाशं ग्रीवां ततोऽक्षिपत् ॥ २४३ ॥ ततश्चोवाच भो! लोकपालाः! शृणुत मद्वचः। यद्वा प्रत्यक्षमेवेदं भवतां दिव्यचक्षुषाम् ॥ २४४ ॥ कलासु प्रणयेनैवार्यपुत्रोऽभिदधे मया। पराभवधिया नैवाप्रियमस्य तथाप्यभूत् ॥ २४५ ॥ अचिन्तयं तदा चाहमनया खलु मुग्धया। तदुक्तं प्रणयेनैव पराभवधिया न तु ॥ २४६ ॥ स्वभावं विवृणोत्येषा यदेवमधुना किल। तस्मान्निवारयाम्येनां

१ चौरवत्। २ °न्तयंस्तदा ता०।

छित्त्वा पाशमितो मृतेः ॥ २४७ ॥ ध्यात्वेति तत्तथाकर्तुमहं यावत्प्रचक्रमे । तावद्भूयोऽपि सावादीदिति लोक-पतीन्प्रति ॥ २४८ ॥ तत्प्रतीच्छत[1] भो! लोकपालाः! प्राणान् ममाधुना । मा चैवंविधवृत्तान्तो भूयात् जन्मान्त-रेऽपि मे ॥ २४९ ॥ शैलेशः प्राह मामेषा न त्वत्संबन्धमिच्छति । जन्मान्तरेऽप्यथ मया ध्यातं सत्यमिदं ध्रुवम् ॥ २५० ॥ यतः प्रस्तुतवृत्तान्ताभावमेषा समीहते । वृत्तान्तः प्रस्तुतश्चात्र मम तत् म्रियतामसौ ॥ २५१ ॥ ध्यात्वेति शैलराजीयविलेपनवशान्मया । उपेक्षिता विमुच्यं[2] स्वं विपेदे नरसुन्दरी ॥ २५२ ॥ इतश्च भवनादम्बा निर्यान्तीं नरसुन्दरीम् । दृष्ट्वा तदनुगं मां च चिन्तयामास चेतसि ॥ २५३ ॥ मन्येऽपमानिता रुष्टा यात्येषा मे क्वचिद् वधूः । प्रसादयितुमेनां च पृष्ठलग्नो ममाङ्गजः ॥ २५४ ॥ ध्यात्वेति दूरं गतयोरावयोरनुवर्त्मना । आगच्छ-न्त्यागता शून्यगृहे तत्र जनन्यपि ॥ २५५ ॥ तां च तत्र तथोद्वीक्ष्य दध्यावम्बा हतास्मि हा! । नूनं मत्पुत्रकस्यापि समभूदीदृशी गतिः ॥ २५६ ॥ एवंस्थितायामेतस्यामुदास्ते सोऽन्यथा कथम् ? । आभ्यां विरहितायाश्च जीवितेन ममापि किम् ? ॥ २५७ ॥ ततश्च शैलराजीया(य)लेपदोषादुपेक्षिता । अम्बाप्यात्मानमुल्लम्ब्य मृता पश्यत एव मे ॥ २५८ ॥ अथ साध्वससंतापादीषत्तस्मिन् विलेपने । शुष्के बभूव मे बाढं पश्चात्तापोऽतिदुःखदः ॥ २५९ ॥ ततः स्वाभाविकस्नेहविह्वलीभूतमानसः । शोकाक्रान्तः क्षणं चक्रे प्रलापमहमुच्चकैः ॥२६०॥ कथं मनुष्यः स्त्रीनाशे रोदितीति विचिन्तयन् । शैलराजस्य माहात्म्यात् ततोऽहं मौनमाश्रितः ॥ २६१ ॥ इतः किमिति नायाति स्वामिनीति

१ तावत् प्रतीच्छत लोक० ग० । २ ०च्याऽसून् वि० ख० ।

विचिन्तया । तां तत्रान्वेपयन्त्यागाद्दासी कदलिकापि सा ॥ २६२ ॥ दृष्ट्वाम्बानरसुन्दर्यौ लम्बमाने तथाथ सा । चक्रे पूत्कारममिलत् सतातं नगरं ततः ॥ २६३ ॥ किमेतदिति तेनोक्ता दास्याख्यन्मूलतोऽखिलम् । चन्द्रालोके स्फुटे ते च लोकेनालोकिते स्वयम् ॥ २६४ ॥ स्वकर्मत्रासतो भग्नगतिर्भाषितुमक्षमः । तत्राहमपि लोकेन लीनः स्तेन इवेक्षितः ॥ २६५ ॥ संजातप्रत्ययेनोच्चैस्तेनाहं धिक्कृतस्ततः । तातोऽम्बानरसुन्दर्योर्मृतकार्यमकारयत् ॥ २६६ ॥ ततस्तत्तादृशं वीक्ष्य मदीयं कर्म्म दारुणम् । तातः शोकभराक्रान्तस्तदानीमित्यचिन्तयत् ॥ २६७ ॥ अहो ! सर्वापदां मूलमहो ! मत्कुलदूषणः । अहो ! सर्वजघन्योऽयं दुरात्मा रिपुदारणः ॥ २६८ ॥ न कार्यं मे ततोऽनेन पुत्ररूपेण वैरिणा । निजाङ्गजोऽपि किं लोकैर्न परित्यज्यते मलः ? ॥ २६९ ॥ ध्यात्वेति तेनावज्ञातः सदनाच्च बहिष्कृतः । भ्रष्टश्रीकः पुरे तत्र श्वेवाऽथ विचराम्यहम् ॥ २७० ॥ ततो मां तादृशं दृष्ट्वा बालकैरपि धर्षितम् । पदे पदे निनिन्दैवं जनः सर्वो विरागवान् ॥ २७१ ॥ सोऽयं पापो दुराचारः स्वकीयकुलकण्टकः । जङ्गमो विषपुञ्जश्च दुरात्मा रिपुदारणः ॥ २७२ ॥ मानावलेपतो येन कलाचार्योऽपकर्णितः । मूर्खचूडामणित्वेऽपि पाण्डित्यं च प्रकाशितम् ॥ २७३ ॥ माता च प्रियभार्या च मारिता येन मानतः । अद्रष्टव्यमुखस्तस्मादयं पापमलीमसः ॥ २७४ ॥ उक्तं चेदं पुराऽस्माभिर्नोचितास्य दुरात्मनः । सा कलाकौशलादीनामाकरो नरसुन्दरी ॥ २७५ ॥ वियुक्तस्तत्तया पापो यदयं तद्धि सुन्दरम् । किन्तु सा पद्मपत्राक्षी यन्मृता तन्न बन्धुरम् ॥२७६॥ एवं लोककृतां निन्दां शृण्वन्नपि मुहुर्मुहुः । अहं पुनस्तदाप्येवं चिन्तयामास मूढधीः ॥२७७॥ संत्यक्तस्यापि

तातेन गर्हितस्यापि दुर्जनैः। शैलराजमृषावादौ बान्धवावेव मे परौ ॥ २७८ ॥ अनयोर्हि प्रसादेन भुक्तं पूर्वं मया फलम्। भोक्ष्ये च कालमासाद्य पुनर्नास्त्यत्र संशयः ॥ २७९ ॥ चिन्तयन्निति तैर्लोकैर्निन्द्यमानश्च सर्वदा। दुःखाम्भोनिधिनिर्मग्नः स्थितोऽहं वत्सरान् बहून् ॥ २८० ॥ अत्यन्तदुर्बलीभूतः सकोपो मयि निस्फुरः। स तु पुण्योदयो भद्रे! स्थितोऽकिञ्चित्करस्तदा ॥ २८१ ॥ अपरेद्यवि तातोऽथ राजवृन्दसमन्वितः। वाह्याल्यां वाहवाहाय जगाम नगराद्बहिः ॥२८२॥ वाहयित्वा चिरं वाहांस्तत्र चासौ श्रमाकुलः। उद्याने ललिताभिख्ये जगामासन्नवर्त्तिनि ॥२८३॥ स विश्रम्य क्षणं तत्र तस्यैव श्रियमद्भुताम्। यावद्विलोकयन्नास्ते लीलया हृष्टमानसः ॥२८४॥ तदन्तस्तावदेकत्र रक्ताशोकतरोरधः। विचक्षणाभिधं सूरिं ददर्श यतिसंयुतम् ॥ २८५ ॥ मुनीन्द्रं तं च संवीक्ष्य नयनोत्सवकारणम्। संजाताभ्यधिकानन्दस्तातश्चेतस्यचिन्तयत् ॥ २८६ ॥ अहो! रूपमहो! कान्तिरहो! यौवनमद्भुतम्। एतस्य मुनिराजस्य समग्रगुणधारिणः ॥ २८७ ॥ ततः किमस्य वैराग्यकारणं समभूद् यतः। आदाद्दीक्षामयं गत्वा प्रश्नयाम्यमुमेव वा ॥ २८८ ॥ चिन्तयित्वेति गत्वा च स सूरिं तमवन्दत। प्राप्ताशीः सपरिवारस्तत्पुरो निषसाद च ॥ २८९ ॥ लोकोऽन्योऽपि समागत्य नमस्कृत्य च तं गुरुम्। यथास्थानमुपाविक्षदक्षीणामन्दसंमदः ॥ २९० ॥ समेत्य तत्राहमपि कौतुकात्समुपाविशम्। न तु प्राणंसिषं तस्मै शैलराजवशंवदः ॥ २९१ ॥ अथासौ विदधे सूरिर्गिरा गर्जिगरिष्ठया। श्रोतृश्रोत्रसुधावृष्टिदेशीयां धर्म्मदेशनाम्

॥ २९२ ॥ निशम्य देशनां तां च संसारार्णवभञ्जिनीम् । अङ्गिनो लघुकर्माणः प्रत्यबुध्यन्त भूरिशः ॥ २९३ ॥ अथावसरमासाद्य तातो विरचिताञ्जलिः । पूर्वचिन्तितमप्राक्षीत्तं तपोनिधिपुङ्गवम् ॥ २९४ ॥ जगाद सोऽपि भगवान्सतां यद्यपि नोचितम् । स्वपरस्तुतिनिन्दाद्यमाख्यातुं चरितं निजम् ॥ २९५ ॥ तथापि तव निर्बन्धा-त्परीणामसुन्दरम् । कथयामि महीनाथ ! सावधानमनाः शृणु ॥ २९६ ॥ इहास्ति भूतलं नाम नानावृत्तान्त-सङ्कुलम् । भुवनत्रयविख्यातमनादिनिधनं पुरम् ॥ २९७ ॥ तत्रास्ति भूपतिर्विश्वविदितो मलसंचयः । तस्य चास्ति महादेवी तत्पक्तिर्नाम विश्रुता ॥ २९८ ॥ तयोरेकः प्रशस्योऽभूत्सुतो नाम्ना शुभोदयः । अशुभोदय-नामा च द्वितीयस्तद्विलक्षणः ॥ २९९ ॥ शुभोदयस्यानुरूपा प्रियाऽभून्निजचारुता । स्वयोग्यताभिधान्यस्य पुनरत्यन्तदारुणा ॥ ३०० ॥ शुभोदयस्याथ निजचारुताकुक्षिसंभवः । अभूद् विचक्षणः सूनुरनूनगुणभाजनम् ॥ ३०१ ॥ स्वयोग्यताकुक्षिजन्मा द्वितीयस्यापि नन्दनः । दोषदस्युप्रदोषोऽभूद् जडो नाम दुराशयः ॥ ३०२ ॥ क्रमेण वर्द्धमानौ च विचक्षणजडाविमौ । उभावपि भ्रातरौ तौ यौवनं प्रापतुर्नवम् ॥ ३०३ ॥ इतो निर्म्मलचित्ताख्ये नगरे विश्वविश्रुते । राजा मलक्षयो नाम बभूव जनताहितः ॥ ३०४ ॥ तस्य सुन्दरतादेवीकुक्षिजा समजायत । बुद्धिर्नाम गुणैराढ्या कन्यका कुलकेतनं ॥ ३०५ ॥ उद्यौवनां च संवीक्ष्य तत्पिता तां स्वयंवराम् । विचक्षणाय संप्रैषीदनुरूपाय संमदात् ॥ ३०६ ॥ महेन महता तां च परिणिन्ये विचक्षणः । बभूव च तयोः

१ ०नावाम् । २ सोऽथ भ० ख० । ३ ०धानास्य ग० । ४ ०नम् ता० ख० ।

प्रेम कालेन विरहासहम् ॥ ३०७ ॥ तस्याश्च बुद्धेरन्येद्युर्वार्तान्वेषणहेतवे । विमर्शाख्यं निजं पुत्रं प्रैपीद् राजा मलक्षयः ॥ ३०८ ॥ समाजगाम सोऽप्याशु बुद्धेः स्वस्वसुरन्तिके । अवतस्थे च तत्रैव जामिस्नेह—नियन्त्रितः ॥ ३०९ ॥ अपरेद्युश्च सुषुवे सा विचक्षणवल्लभा । पुत्रं प्रकर्षनामानं रत्नमाकरभूरिव ॥ ३१० ॥ जातः प्रवर्द्धमानोऽथ प्रकर्षो बुद्धिनन्दनः । विचक्षणगुणैस्तुल्यो विमर्शस्यातिवल्लभः ॥ ३११ ॥ अथाऽन्यदा मनोहारि नाम्ना वदनकोटरम् । विचक्षणजडौ तौ स्वं वनं जग्मतुरीक्षितुम् ॥ ३१२ ॥ तत्र खादनपानेन ललन्तौ तौ यथेच्छया । संतुष्टमानसौ यावत्किञ्चिदग्रे समीयतुः ॥ ३१३ ॥ तावत्कुन्दोपमानानां दशनाह्वमहीरुहाम् । वीथिकायुगलं दीर्घमभिराममपश्यताम् ॥ ३१४ ॥ तदन्तरपि यावत्तौ कौतुकात्समुपेयतुः । अलब्धान्तं निरीक्षाते तावदेकं महाबिलम् ॥३१५॥ अथ सीमन्तिनी काचिद् रक्तकोमलविग्रहा । तस्मादपि विनिर्याता समं दासिकयैकया ॥ ३१६ ॥ जातानुरागस्तां दृष्ट्वा दध्याविति जडो हृदि । अहो ! रूपमहो ! कान्तिरस्याः सौभाग्यसेवधेः ॥ ३१७॥ तत्किमेषाप्सराः कापि पातालललनाथवा । उत विद्याधरी नैव मानुषी भवतीदृशी ॥ ३१८ ॥ किञ्चैषा पुरुषाभावान्मदर्थं वेधसा कृता । लक्ष्यते मयि रक्ता च तदेनां स्वीकरोम्यहम् ॥ ३१९ ॥ विचक्षणोऽपि तां वीक्ष्य मृगाक्षीमित्यचिन्तयत् । नारीयं परकीया मे न द्रष्टुमपि युज्यते ॥ ३२० ॥ यतः सन्मार्गरक्तानां व्रतमेतन्महात्मनाम् । परस्त्रियं पुरो दृष्ट्वा यान्त्यधोमुखदृष्टयः ॥ ३२१ ॥ ध्यात्वेति पाणिनाऽऽकृष्यानिच्छन्त-

---

१ ऽथ तां ग० ।

मपि तं जडम् । गन्तुं प्रववृतेऽन्यत्र यावदेष विचक्षणः ॥ ३२२ ॥ नाथास्त्रायध्वं त्रायध्वमिति पूत्कुर्वतीतराम् । तावत्सानुचरी तस्या दधावे पृष्ठतस्तयोः ॥ ३२३ ॥ तत्संमुखं वलित्वाथ तां जगाद जडो जवात् । मा भैषीः सुभ्रु ! मा भैषीः कथ्यतां ते कुतो भयम् ? ॥ ३२४ ॥ साप्यूचे मे यदुत्सृज्य स्वामिनीं चलितौ युवाम् । तेन संजातमूर्च्छेयमत्राणा म्रियतेऽधुना ॥ ३२५ ॥ ततो युवाभ्यामेतस्याः पार्श्वमागम्यतां क्षणम् । येन स्वस्थीभवत्येषा युष्मत्सान्निध्यतो मनाक् ॥ ३२६ ॥ ततोऽहं कथयिष्यामि स्वामिनौ ! युवयोः पुरः । एतत्स्वरूपमव्यग्रा समग्रमपि मूलतः ॥ ३२७ ॥ जडस्ततोऽवदद् बन्धुं को दोषस्तत्र गम्यते । स्वस्थीभवतु सैषा च समाख्यातु विवक्षितम् ॥ ३२८ ॥ ततो विचक्षणो दध्यौ न तत्र गमनं शुभम् । वञ्चयिष्यत्यसावस्मांश्चेटीयं चटुला यतः ॥ ३२९ ॥ तथापि तावत्पृच्छामि किमेषा तत्र भाषते । न चाहमनया शक्यो विप्रतारयितुं ध्रुवम् ॥ ३३० ॥ विमृश्येति तदुक्तं च प्रतिपद्य विचक्षणः । सार्द्धं जडेन दास्या च तत्समीपमुपागमत् ॥ ३३१ ॥ स्वस्थीबभूव सापि स्त्री दृष्ट्वा जडविचक्षणौ । जगाद दासचेटी तु तौ प्रणम्य कृताञ्जलिः ॥ ३३२ ॥ नाथौ ! महाप्रसादोऽयं युवाभ्यां विदधे मयि । जीवितव्यं प्रदत्तं यन्मत्स्वामिन्या ममापि च ॥ ३३३ ॥ तव स्वामिन्यसौ भद्रे ! किमाख्येति जडोदिता । सा जगाद पुनर्देव ! देवीयं रसनोच्यते ॥ ३३४ ॥ भद्रे ! त्वामपि किंनाम्नीं जानामीति जडेरिता । सा दासी पुनरप्यूचे नाटयन्ती गुरुत्रपाम् ॥ ३३५ ॥ लोलतेति प्रसिद्धापि चिरं परिचिताप्यहम् । मन्दभाग्या कथङ्कारं नाथ ! विस्मारिता त्वया ॥ ३३६ ॥ चिरं परिचिता मे त्वं कथमित्थं जडोदिते । सा भूयोऽप्यभ्यधादेवं विज्ञप्यमिदमेव

वाम् ॥ ३३७ ॥ अस्ति तावत्पुरं कर्म्मपरिणाममहीपतेः । असंव्यवहारं तत्र स्थितौ पूर्वं युवां चिरम् ॥ ३३८ ॥ ततः कर्म्मपरीणामाज्ञयैकाक्षनिवासके । पुरे ततोऽपि विकलाक्षनिवासे गतौ युवाम् ॥ ३३९ ॥ विद्यन्ते पाटकास्तत्र त्रयस्तत्रापि पाटके । प्रथमे द्विहृषीकाख्या वसन्ति कुलपुत्रकाः ॥ ३४० ॥ तदन्तर्वर्त्तमानाभ्यां युवाभ्यां स महा-नृपः । यथानिर्देशकारित्वादत्यन्तं तुष्टमानसः ॥ ३४१ ॥ भटभुक्त्या ददावेतद् वनं वदनकोटरम् । स्वाभाविक-मिदं चात्र सदास्त्येव महाविलम् ॥ ३४२ ॥ युग्मम् ॥ ततश्च स विधिर्दध्यौ गृहिणीरहिताविमौ । वराकौ न सुखेन स्तस्ततस्तां विदधेऽनयोः ॥ ३४३ ॥ ध्यात्वेति कृपया धात्रा वाला युष्मत्कृते कृता । तेन मत्स्वामिनी भार्या तदीया चानुचर्यहम् ॥३४४॥ जडेन चिन्तितमये ! मया सत्यं विकल्पितम् । यदसदर्थमेवेयं रसना वेधसा कृता ॥३४५॥ दध्यौ विचक्षणोऽप्येवं को नामायं विधिः पुनः । हुं ज्ञातं स ध्रुवं कर्म्मपरिणामो भविष्यति ॥३४६॥ जडः प्राह ततो भद्रे ! लोलतोचे तदाद्यपि । मत्स्वामिनी मया युक्ता युवाभ्यां सह सर्वदा ॥३४७॥ खादन्ती च पिवन्ती च खाद्यपेयानि भूरिशः । ललन्ती विकलाक्षस्य पाटकत्रितयेऽपि हि ॥ ३४८ ॥ पञ्चाक्षनिवासपुरे मनुजगतिपुर्यपि । स्थाने तादृशि चान्यत्र भूयांसं कालमत्यगात् ॥ ३४९ ॥ विशेषकम् ॥ अतश्च क्षणमप्येषा न युष्मद्विरहं क्षमा । सोढुं तदेवं युवयोरहं परिचिता चिरम् ॥ ३५० ॥ तच्छ्रुत्वाह जडस्तुष्टो यद्येवं तर्हि सुन्दरि ! । पुरान्तरेत्य प्रासादं रम्यमेकं पुनात्वसौ ॥३५१॥ तत्राग्रेतननीत्यैव सुखेन स्थीयते यथा । तच्छ्रुत्वा लोलताप्याह देवो माऽऽज्ञापयत्विदम्॥३५२॥

---

१ ०याऽत्रैव विले यु० ता० क० ख० घ० । २ मे स्वा० ख० ।

यदेषा निर्गता नैव वनादस्मात्पुराप्यसौ । युवाभ्यां लालितात्रैवाधुनाप्यत्रैव लाल्यताम् ॥ ३५३ ॥ जडोऽप्युचे त्वमेवात्र प्रमाणं सर्वथापि हि । कथ्यं स्वस्वामिनीष्टं च त्वयाहं विदधे यथा ॥ ३५४ ॥ लोलतोचे प्रसादोऽयं किमत्रापरमुच्यते ?। रसनालालनाद्भूयाद्भवतोरक्षयं सुखम् ॥ ३५५ ॥ ततः प्रभृति यत्नेन स्थितां वदनकोटरे । भक्तव्यञ्जनपक्वान्नदुग्धदध्यामिषादिभिः ॥ ३५६ ॥ मत्स्यण्डीशर्कराद्राक्षाखर्जूरेक्षुफलादिभिः । गुडमाक्षिकताम्बूलानन्तकायपुरस्सरैः ॥ ३५७ ॥ मदिरापानकाद्यैश्च वस्तुभिस्तां दिवानिशम् । रसनां लालयामास लोलताकथनैर्जडः ॥ ३५८ ॥ विशेषकम् ॥ स तथा रसनासक्तो निन्द्यमानोऽप्यलं जनैः । क्लेशराशिनिमग्नोऽपि मोहान्मेने महत्सुखम् ॥ ३५९ ॥ इतो विचक्षणो दध्यौ श्रुत्वा तल्लोलतावचः । अस्ति तावदियं भार्या ममापि रसना ध्रुवम् ॥ ३६० ॥ आस्माके दृश्यते येन वने वदनकोटरे । पाल्येयं तन्मया कार्यश्चेटीप्रोक्ते त्वनादरः ॥ ३६१ ॥ ध्यात्वेत्यनिन्दिताहारै रसनां सोऽथ पालयन् । लोलताविमुखः कर्तुमारेभे कालयापनाम् ॥ ३६२ ॥ ततस्त्रिवर्गसंपन्नः स्तूयमानोऽखिलैर्जनैः । अशेषक्लेशमुक्तश्च निर्व्याजं सुखमाप सः ॥ ३६३ ॥ अथान्येद्युर्जडो हृष्टः प्रस्तावं प्राप्य मूलतः । पितृभ्यां कथयामास रसनालाभमात्मनः ॥ ३६४ ॥ ताभ्यामप्यधिकोद्भूतहर्षाभ्यां जगदे जडः । वत्सानुरूपा ते भार्या साध्वसौ समपद्यत ॥ ३६५ ॥ सुन्दरं च त्वयारब्धमेतस्याः परिपालनम् । इयं हि सुखहेतुस्ते भार्या पाल्यैव सर्वदा ॥ ३६६ ॥ पितृभ्यामेवमुक्तोऽथ विशेषात्स जडः कुधीः । प्रवृत्तो रसनापोषे तदेकध्यानमानसः ॥ ३६७ ॥ विचक्षणोऽप्यथैकत्रासीनेभ्यो रसनाकथाम् । पितृप्रकर्षविमर्शबुद्धिभ्योऽन्येद्युराख्यत

॥ ३६८ ॥ ततः शुभोदयोऽवादीद् वत्स ! किं तव कथ्यते ? । यतः सर्वमपि ज्ञेयं वेत्सि त्वं स्वयमेव हि ॥३६९॥ तथापि ते प्रकृत्यैव यन्ममोपरि गौरवम् । तेन प्रणोदितो वत्स ! तवाहमुपदेशने ॥ ३७० ॥ वत्स ! तावत्समस्तापि नारी वीचीव चञ्चला । निम्नगेव निम्नगतिर्विषवल्लीव मृत्युदा ॥ ३७१ ॥ कुटिला शशिलेखेव सन्ध्येव क्षणरागिणी । ऐन्द्रजालिकविद्येव दृष्टिव्यामोहकारिणी ॥ ३७२ ॥ किं वा वत्स ! बहूक्तेनाहीनामिव करण्डिका । सर्वेषामपि दोषाणामाधारः प्रमदा स्मृता ॥ ३७३ ॥ युग्मम् ॥ तस्मात्तस्याः सदा वत्स ! विश्रम्भो नैव सर्वथा । पुंसा हितैषिणा कार्यस्तेनेदमभिधीयते ॥ ३७४ ॥ येयं ते रसना भार्या संपन्ना लोलतायुता । न सुन्दरैषा मे भाति को वा योगस्तवानया ॥ ३७५ ॥ यतो न ज्ञायतेऽद्यापि कुतस्त्येयं ततस्त्वया । संग्रहं कुर्वताऽमुष्या मूलशुद्धिर्विधाप्यताम् ॥ ३७६ ॥ अज्ञातकुलशीलानामप्रमत्तोऽप्यलं पुमान् । स्त्रीणामर्पितसद्भावः प्रयाति निधनं यतः ॥ ३७७ ॥ जननीविमर्शबुद्धिप्रकर्षा अपि तद्वचः । पुनरुक्तं विदधिरे प्रशंसन्तः पृथक् पृथक् ॥ ३७८ ॥ विचक्षणोऽप्यथो दध्यावमीभिः साधु भाषितम् । अज्ञातकुलशीला स्त्री न संग्राह्यैव कोविदैः ॥ ३७९ ॥ ततोऽस्त्येव रसनायाः सामान्याद् विदितं मया । लोलतोक्त्या स्वबुद्ध्या च कुलं शीलं च यद्यपि ॥ ३८० ॥ विशेषतस्तथाप्यस्यास्तातादेशेन युज्यते । मूलशुद्धिः कारयितुं करिष्येऽथ यथोचितम् ॥ ३८१ ॥ चिन्तयित्वेति स प्राह तातेनाऽज्ञापि सुन्दरम् । किन्तु को रसनामूलशुद्धौ प्रस्थापनोचितः ? ॥ ३८२ ॥ शुभोदयोऽवदद् वत्स ! कार्यभारेऽत्र धुर्यताम् । धत्ते विमर्श एवायं सर्वार्थपरमार्थवित् ॥ ३८३ ॥ वत्स ! त्वमेव धन्यश्च यस्यायं ते सखाऽभवत् । एष एव नियो-

क्तव्यस्तत्त्वयात्र प्रयोजने ॥ ३८४ ॥ विचक्षणोऽथ वैमर्शं तदर्थे मुखमैक्षत । सोऽप्यूचेऽनुग्रहोऽयं मे ततः प्रोचे विचक्षणः ॥ ३८५ ॥ यद्येवं क्रियतां तातादेशः शीघ्रमथाह सः । सज्ञोऽस्म्येष परं पृथ्वी पृथ्वी राज्यान्तराकुला ॥ ३८६ ॥ ततो यदि भवेत् कालक्षेपो मेऽत्र कथञ्चन । युष्माभिरनिर्वृत्तिर्मे[1] कर्त्तव्या नैव तत्तदा ॥३८७॥ विचक्षणेन तस्याथ दत्ते संवत्सरेऽवधौ । महाप्रसाद इत्युक्त्वा नत्वा च प्रचचाल सः ॥ ३८८ ॥ तदा शुभोदयं नत्वाभिवन्द्य निजचारुताम् । प्रणम्य मातापितरौ प्रकर्षः प्राह भक्तिभाक् ॥३८९॥ स्थातुं यद्यप्यलं तात ! न युष्मद्विरहेऽप्यहम् । तथापि सहचारित्वान्मामो मेऽत्यन्तवल्लभः ॥ ३९० ॥ ततोऽनेन वियुक्तोऽहं[2] न स्थातुं क्षणमप्यलम् । अतो मामनुजानीत मामं येनानुयाम्यहम् ॥ ३९१ ॥ विचक्षणोऽपि तच्छ्रुत्वा ब्रुवाणः साधु साध्विति । क्रोडे निवेश्य तं स्नेहादाशिश्लेष चुचुम्ब च ॥ ३९२ ॥ विनयस्तनयस्यास्य तात ! दृष्टोऽयमद्भुतः । इत्थं विचक्षणेनोक्तः प्राह हृष्टः शुभोदयः ॥ ३९३ ॥ किमत्र कौतुकं जात ! यत ईदृशमेव हि । त्वत्तो बुद्धेश्च जातस्य युज्यतेऽमुष्य चेष्टितम् ॥ ३९४ ॥ किञ्च धन्यस्त्वमेवासि वत्स ! यस्याभवत्तव । इयं प्रणयिनी बुद्धिः प्रकर्षश्चायमात्मजः ॥ ३९५ ॥ अत एव वयं भीता रसनालाभतस्तव । मा भूदियं विघाताय बुद्धेस्तत्तनयस्य च ॥ ३९६ ॥ किं वात्रान्येन जल्पेन प्रकर्षो याति यद्यसौ । मामेन सार्द्धं तद् यातु जातं चारुतरं ह्यदः ॥ ३९७ ॥ प्रमाणं मम तातात्रेत्युवाचाथ विचक्षणः । तौ विमर्शप्रकर्षौ च तेभ्यो नत्वा प्रचेलतुः ॥ ३९८ ॥ पद्माक्षीहाससंकाशकाशा सि(शि)ञ्ज्ञान-

१ ०निर्वृतिर्मे ता० । २ विमुक्तो ता० ।

हंसका। चन्द्राननावदाताङ्गी तदा च शरदा बभौ ॥ ३९९ ॥ पक्वशालिमुखा व्योम्नि तता दध्रे शुकावलिः। यत्रातीतेऽपि मेघर्तौ क्षणं शक्रधनुःश्रियम् ॥४००॥ यत्रागस्त्योदये जाते प्रापुरापः प्रसन्नताम्। मुनीनामुदयः कस्य न स्याद् वा शुद्धिकारणम् ॥ ४०१ ॥ अत्यन्तविमलं व्योम तारकैस्तारकान्तिभिः। यत्र रेजे सरः स्मेरैः कैरवैरिव सर्वतः ॥ ४०२ ॥ यत्र सुत्रामदीपालीमुख्योत्सवपरम्परा। जनानां नयनप्रीत्यै प्रियेव समजायत ॥ ४०३ ॥ ततश्च शरदीदृश्यां पश्यन्तौ विविधानि तौ। सरःपुरवनादीनि बाह्यदेशान् विचेरतुः ॥ ४०४ ॥ स्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं तावुपायशतान्यपि। प्रयुञ्जानौ न तु क्वापि रसनाशुद्धिमापतुः ॥ ४०५ ॥ अथानयोस्तथा बाह्यदेशेष्वेव विहारिणोः। समाजगाम हेमन्तो युगान्तो विप्रयोगिणाम् ॥ ४०६ ॥ भृशं निशीथिनी यत्र क्षुधा सार्द्धमवर्द्धत। पिपासया पुनः साकमपाचीयत वासरः ॥ ४०७ ॥ यत्र कुङ्कुमलिप्ताङ्गा गर्भागारकृतास्पदाः। न युवानः प्रियाश्लेषं श्लथीचक्रुर्मनागपि ॥ ४०८ ॥ यत्र प्रसूनबाणेषु दग्धेष्वपि हिमाग्निना। चित्रमिक्षुधनुर्यष्ट्यैकयापि विजयी स्मरः ॥ ४०९ ॥ यत्र कुन्दावली रेजे श्वेतपुष्पाऽशितिच्छदा। प्रशस्तिपङ्क्तिर्कैवोच्चैः पञ्चेषोर्जयशंसिनी ॥ ४१० ॥ यवानां भुवनानिष्टापीष्टा यत्र हिमान्यभूत्। क्षुद्राणामथवा प्रीतिः स्याल्लोकप्रतिपन्थिनि ॥ ४११ ॥ ततश्चेदृशि हेमन्ते रसनामूलशुद्धये। तौ बाह्यनीवृतस्त्यक्त्वान्तरदेशेष्वविक्षताम् ॥ ४१२ ॥

१ विस्तीर्णा। २ अगस्तिनामकतारकोदये। ३ वियोगिनाम्। ४ ०कैवो० ता०। ५ कामदेवस्य। ६ बाह्यदेशान्।

पर्यटन्तौ च तत्रापि [1]स्थानेषु विविधेषु तौ। पुरं राजसचित्ताख्यमपरेद्युरपश्यताम् ॥ ४१३ ॥ अल्पाल्पजन-संचारमपि सश्रीकमुच्चकैः। विलोक्य नगरं तच्च प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥ ४१४ ॥ स्तोकलोकान्वितमपि श्रितमद्भुतया श्रिया। कथमेतत्पुरं माम ! दृश्यते पुरतः स्थितम् ॥ ४१५ ॥ विमर्शोऽप्याह येनेदं समृद्धं सुस्थितालयम्। वीक्ष्यते नगरं तावत् तेनैतन्निरुपद्रवम् ॥४१६॥ कार्यनिर्यातराजत्वादल्पलोकमिदं पुनः। सश्रीकं तु प्रभावाढ्यपुरुषाधिष्ठितेर्ध्रुवम् ॥ ४१७ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं तत्प्रविश्यैतदीक्ष्यते। विमर्शोऽपि हि तन्मध्ये तेन सार्द्धं ततोऽविशत् ॥ ४१८ ॥ प्राप्तावथ नृपावासेऽहङ्काराद्यल्पपुंवृतम्। मिथ्याभिमाननामानममात्यं तावपश्यताम् ॥ ४१९ ॥ विमर्शोऽथावदद्भद्र ! स एष पुरुषः खलु। सश्रीकत्वं पुरस्यास्य यत्प्रभावात्समुद्भवम् ॥ ४२० ॥ तदेनमुपसृत्याऽऽवां जल्पयावस्ततश्च तौ। तथा कृत्वा तमप्राष्टां किमित्यल्पजनं पुरम् ? ॥ ४२१ ॥ ऊचे मिथ्याभिमानोऽथ सर्वत्र विदिताप्यसौ। वार्त्ता युवाभ्यां न ज्ञाता विमर्शोऽथ जगाद तम् ॥ ४२२ ॥ भद्र ! कोपो न कार्योऽत्र त्वयाऽऽवां पथिकौ यतः। नैव जानीवहे मिथ्याभिमानोऽभिदधे ततः ॥ ४२३ ॥ यद्येवं श्रूयतां तर्हि पुरस्यैतस्य नायकः। विद्यते विश्वविख्यातः क्षितीशो रागकेशरी ॥ ४२४ ॥ सुगृहीतनामधेयो महामोहश्च तत्पिता। विषयाभिलाषाद्याश्च तयोर्मन्त्रिमहत्तमाः ॥ ४२५ ॥ तेषां च दण्डयात्रायै गतानां सर्वसेनया। कालोऽनन्तोऽभवत् तेन स्तोकलोकमिदं पुरम् ॥ ४२६ ॥ विमर्शोऽवोचदेतेषां सह केनेह विग्रहः ? । मिथ्याभिमानः

[1] स्थाने स्थाने पुरेषु तौ ता०।

प्रोवाच संतोषेण दुरात्मना ॥ ४२७ ॥ विमर्शः प्राह किं तेन सह विग्रहकारणम् ? । मिथ्याभिमानः प्रोचेऽत्र पुरा देवनिदेशतः ॥ ४२८ ॥ विषयाभिलाषो निजगृहमानुषपञ्चकम्[1] । जगज्जयाय संप्रैषीत् स्पर्शनरसनादिकम् ॥ ॥ ४२९ ॥ जगत्त्रितयमेतेन प्रायशश्च वशीकृतम् । तत् त्वतिक्रम्य[2] संतोषो निन्ये कानपि निर्वृतौ ॥ ४३० ॥ ॥ विशेषकम् ॥ तच्छ्रुत्वाथ क्रुधा सर्वबलेनास्योपरि स्वयम् । रागकेशर्य्यगच्छत्तदिदं विग्रहकारणम् ॥ ४३१ ॥ अथैवं चिन्तयामास विमर्शो निजचेतसि । मूलोत्थानं रसनायास्तावदज्ञायि नामतः ॥ ४३२ ॥ विषयाभिलाषं दृष्ट्वा ज्ञास्यामि गुणतः पुनः । यतो भवन्त्यपत्यानि प्रायः पित्रनुसारतः ॥ ४३३ ॥ विमृश्येति पुनर्मिथ्याभिमानं प्रत्युवाच सः । यद्येवं भवतामत्र किन्निमित्तमवस्थितिः ? ॥ ४३४ ॥ सोऽवोचदहमप्यासं सह संचलितस्तदा । किन्त्वग्रानीकतो भद्र ! देवेनाहं निवर्त्तितः ॥ ४३५ ॥ उक्तश्चैवं यदार्येदं न मोच्यं नगरं त्वया । यतः पश्चात् त्वमेवास्य निश्चितं रक्षणक्षमः ॥ ४३६ ॥ स्यादेतच्च विनाप्यस्मान्सश्रीकं निरुपद्रवम् । स्थिते त्वयि वयं चापि भवामस्तत्त्वतः स्थिताः ॥ ४३७ ॥ देवस्य प्रतिपद्याथ समादेशमिह स्थितः । अहं तदिदमस्माकमत्रावस्थानकारणम् ॥ ४३८ ॥ अयि ! प्रत्यागता क्षेमवार्त्ता देवसकाशतः । कापीत्युक्तो विमर्शेन जगाद पुनरप्यसौ ॥ ४३९ ॥ समायाता जितप्रायं देवसैन्येन वर्त्तते । किन्त्वसावपि संतोषः शक्यो जेतुं न सर्वथा ॥ ४४० ॥ प्राप्य छलमवस्कन्दान् दत्त्वा दत्त्वान्तरान्तरा । निर्वाहयति सोऽद्यापि वैष्टः[3] कश्चिज्जनं यतः ॥४४१॥ अत एव हि देवेऽपि

१ मानुषपञ्चकम् । २ चाति० ग० । ३ द्विष्टः ग० ।

रागकेशरिणि स्वयम्। लग्ने कालविलम्बोऽयमेतावान् भद्र ! वर्त्तते ॥ ४४२ ॥ सांप्रतं क भवद्देवो विमर्शेनेति-जल्पिते। स जातचरशङ्कः सन् न यथावृत्तमाख्यत ॥ ४४३ ॥ किन्त्वेतदाह नो विद्मः स्फुटमेतत् परं पुरम्। तामसचित्तमुद्दिश्य देवस्तावदितोऽगमत् ॥४४४॥ विमर्शः प्राह भद्रेण तावत्कौतुकमावयोः। पूरितं पृष्टवृत्तान्ताख्यानाद् यावोऽधुना पुनः ॥ ४४५ ॥ सिद्धिरस्त्विवति तेनोक्ते ततस्तौ विहितानती। चलितावथ जामेयं मातुलः समभाषत ॥ ४४६ ॥ अन्तर्विषयाभिलाषगृहमानुषपञ्चकम्। अनेन तावदाख्याता रसना वत्स ! नामतः ॥ ४४७ ॥ तत्तातं वीक्ष्य सा युक्ता निश्चेतुं गुणतोऽधुना। तद् यावो वत्स ! तत्रैव पुरे तामसचित्तके ॥ ४४८ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ तत्र तौ। गतौ ददृशतुस्तच्च धूमाभं साधुनिन्दितम् ॥ ४४९ ॥ तदप्यल्पजनं श्रीमद्वीक्ष्य बुद्धिसुतोऽवदत्। माम ! किं विद्यते कश्चिन्नगरेऽत्रापि नायकः ? ॥ ४५० ॥ विमर्शः प्राह मन्येऽत्र नास्ति भो ! मूलनायकः। केवलं नायकाकारः कश्चिदत्रास्ति पूरुषः ॥ ४५१ ॥ एवं च यावदाख्याति भागिनेयाय मातुलः। तत्रैव नगरे तावद्द्विविक्षुर्बहिरागतः ॥४५२॥ विलापाक्रन्ददैन्याद्यैः कैतिभिः पुरुषैर्वृतः। पुरस्ताद्दृशे ताभ्यां शोको नामाऽल्पनायकः ॥ ४५३ ॥ युग्मम् ॥ विधायोचितमालापं सोऽथ ताभ्यामपृच्छ्यत। भद्र ! कोऽत्र पुरे राजा ? सोऽपि साक्षेपमब्रवीत् ॥ ४५४ ॥ महामोहसमुद्भूतो रागकेशरिसोदरः। अरातिशैलदम्भोलिर्नगरस्यास्य नायकः ॥ ४५५ ॥ देवो द्वेषगजेन्द्राख्यः ख्यातोऽपि भुवनत्रये। कथं हि भवतोर्भद्रौ !

१ पुरान्तरम् ग०। २ प्रकर्षः। ३ यो मू० ता० ग०। ४ कतिचित्पु० क० ख० ग० घ०।

सोऽयं पृष्टव्यतां ययौ ॥ ४५६ ॥ युग्मम् ॥ आस्तां च यदि वा देवो देवस्यात्यन्तवल्लभा । ख्याता गुरुजने भक्ता स्वप्रभावहताहिता ॥ ४५७ ॥ किं न देव्यपि विज्ञाता युवाभ्यामविवेकिता । अनभिज्ञाविव युवां यदेवं किल पृच्छथः ॥ ४५८ ॥ विमर्शोऽत्रोचदत्रार्थे क्रुत् कार्या भद्र ! न त्वया । प्रसिद्धं हि जगत्येतत् सर्वः सर्वं न वेत्ति यत् ॥ ४५९ ॥ किन्त्वावां पथिकौ दूरदेशान्तरसमागतौ । विद्वः स्वरूपं नात्रत्यं तेनेदमपि पृच्छ्यते ॥ ४६० ॥ नगरे स किमत्रास्ति भूपतिर्भद्र ! संप्रति । किं वा विनिर्गतः क्वाप्यावां दिदृक्षू हि तं नृपम् ॥ ४६१ ॥ शोकेनोक्तं जगत्यत्र वृत्तान्तोऽयमपि स्फुटम् । प्रसिद्ध एव सर्वेषां विदुषां दत्तचेतसाम् ॥ ४६२ ॥ यथा देवो महामोहस्तत्पुत्रो रागकेशरी । तथा द्वेषगजेन्द्रश्च समस्तबलसंयुताः ॥ ४६३ ॥ संतोषहतकस्योच्चैर्वधाय कृतनिश्चयाः । विनिर्गता निजस्थानाद्भूयान् कालश्च लङ्घितः ॥ ४६४ ॥ युग्मम् ॥ किं साऽविवेकिता देवी समस्त्यत्राधुना न वा ? । इति पृष्टो विमर्शेन शोकः पुनरभाषत ॥ ४६५ ॥ नास्त्यत्र नगरे तावदधुना साऽविवेकिता । समीपे नापि देवस्य तत्राकर्णय कारणम् ॥ ४६६ ॥ यदात्र नगरे देवो रागकेशरिसंयुतः । समाययौ महामोहः संतोषोच्छेदनिश्चयी ॥ ४६७ ॥ तदा द्वेषगजेन्द्रेऽपि देवे ताभ्यां सहैव हि । प्रस्थिते प्रस्थिता प्रेम्णा सार्द्धं देवेन देव्यपि ॥ ४६८ ॥ अवादीदथ तां देवो देवि ! नेदं वपुस्तव । गर्भभारालसं स्कन्धावारसंचरणक्षमम् ॥ ४६९ ॥ तस्मादत्रैव तिष्ठ त्वमित्युक्ता साप्यभाषत । सर्वथा त्वां विना नाथ !

१ कोपः । २ यतः ता० ।

नात्र मे नगरे रतिः ॥ ४७० ॥ देवोऽप्युवाच भूयस्तामस्त्येवं देवि ! यद्यपि । तथापि नैव युक्तं ते स्कन्धावारे प्रवर्त्तनम् ॥ ४७१ ॥ रौद्रचित्ते पुरे किन्तु गत्वा दुष्टाभिसन्धिना । रक्षिता तिष्ठ निश्चिन्ता पदातिः स हि मेऽनघः ॥ ४७२ ॥ अथाविवेकिता प्रोचे किमिदानीं मयोच्यताम् ? । यदादिशति देवस्तत्प्रमाणं सर्वथाऽपि मे ॥ ४७३ ॥ देवोऽथ प्रययौ भद्र ! महामोहादिभिः सह । देवादेशेन देवी तु रौद्रचित्तपुरं ययौ ॥ ४७४ ॥ ततोऽपि बहिरङ्गेषु पुरेषु किल वर्त्तते । किञ्चित्कारणमाश्रित्य साऽधुना युक्तकारिणी ॥ ४७५ ॥ जातस्तस्यास्तदा पुत्रस्तथान्योऽप्यधुना किल । निजभर्तुः समायोगादेतदाकर्णितं मया ॥ ४७६ ॥ तदेवमस्ति सा नात्र न वा देवस्य सन्निधौ । तदाऽगृहीतसङ्केता प्रोचे प्रज्ञाविशालया ॥४७७॥ सखि ! वैश्वानरोत्पत्तिमाख्यातोक्तमनेन यत् । नन्दिवर्द्धनवक्तव्ये हिंसापाणिग्रहक्षणे ॥ ४७८ ॥ यदर्थं तामसचित्ताद् रौद्रचित्तेऽविवेकिता । आययौ यादृग् भर्त्तास्याः सा च तच्च पुरद्वयम् ॥४७९॥ निःशेषोऽपि स वृत्तान्त उत्तरत्र प्रवक्ष्यते । प्रोक्तं तदधुनानेन सा प्राह स्मारितं शुभम् ॥४८०॥ विशेषकम् ॥ प्रज्ञाविशाला संसारिजीवं प्रोचेऽथ सुन्दर ! । तदा किञ्चित् त्वयाऽज्ञायि विचक्षणगुरूदितम् ॥४८१॥ स प्राहाऽज्ञानतोऽभून्मे सर्वाप्यनर्थसंततिः । तदा जाने कथां काञ्चित्तातायाख्याति भिक्षुकः ॥ ४८२ ॥ जानेऽगृहीतसङ्केते ! तावद् भावं तु कं च न । प्राहाऽगृहीतसङ्केता भावोऽन्यः कश्चिदत्र किम् ? ॥४८३॥ स प्राह नास्ति मद्वृत्ते भावार्थविकलं वचः । न कथानकमात्रेण कार्यस्तोषस्ततस्त्वया ॥४८४॥ पृच्छेः प्रज्ञाविशालां च भावार्थं यत्र वेत्सि

---

१ ०चक्ष्य० क० ख० ग० ।

न । सा प्राहैवं करिष्यामि प्रस्तुतं कथयाधुना ॥४८५॥ ततोऽनुसंदधानेन विचक्षणगुरोर्वचः। संसारिजीवेनाख्या-
तुमारेभे प्रस्तुता कथा ॥ ४८६ ॥ किमत्रागमने भद्र! कारणं भवतोऽधुना । इति पृष्टो[1] विमर्शेन शोकोऽथ
पुनरभ्यधात् ॥४८७॥ देवेन पुररक्षायै पश्चान्मुक्तोऽत्र विद्यते । मतिमोहाभिधो मन्त्री वयस्यः परमो मम ॥४८८॥
तद्दर्शनार्थमायातस्ततोऽहं भद्र! सांप्रतम् । आवासितां महाटव्यां मुक्त्वा देवपताकिनीम् ॥ ४८९ ॥ विमर्शेन
विसृष्टोऽथ शोकस्तत्र पुरेऽविशत् । विमर्शस्तु ततो बुद्धिप्रभवं प्रत्यभापत ॥४९०॥ वत्स! या कटकाधारा प्रोक्ता-
नेन महाटवी । गत्वा तस्यां प्रपश्यावो रागकेशरिमन्त्रिणम् ॥४९१॥ तथेति प्रतिपेदाने बुद्धिजे[2] बुद्धिबान्धवः[3] । सार्द्धं
तेन जगामाशु तत्राटव्यां समीरवत् ॥ ४९२ ॥ दृत्तास्थानं[4] तदन्तश्च तौ महासिन्धुसैकते । महामण्डपमध्यस्थवेदि-
कायां प्रतिष्ठिते ॥ ४९३ ॥ सिंहासने समासीनं चतुरङ्गबलान्वितम् । सुताभ्यां संयुतं ताभ्यां महामोहमपश्यताम्
॥ ४९४ ॥ युग्मम् ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र! महामोहस्य दृश्यते । आस्थानं सर्वमावाभ्यां संस्थिताभ्यामिहैव हि
॥ ४९५ ॥ तन्नावयोः प्रवेशोऽत्र युक्तो मा भूदपूर्वयोः । आवयोर्दर्शनादेषां शङ्का कापि सभासदाम् ॥ ४९६ ॥
बुद्धिस्नुरथावोचदेवं भवतु केवलम् । अटवी तटिनी चेयं पुलिनं मण्डपस्तथा ॥ ४९७ ॥ वेदिका सिंहपीठं
च राजाऽयं तज्जना अपि । अदृष्टपूर्वं मे माम! वर्त्तते सर्वमप्यदः ॥ ४९८ ॥ युग्मम् ॥ ततः समस्तमप्ये-
तदभिधानैर्गुणैरपि । प्रकाश्यमानं मामेन श्रोतुमिच्छामि विस्तरात् ॥ ४९९ ॥ विमर्शोऽभिदधे वत्स! युक्त-

१ प्रकर्षम् । २ प्रकर्षे । ३ विमर्शः । ४ दत्त्वाऽऽस्थानं ग० ।

मेतत् परं त्वया । पृष्टं प्राज्यमिदं सम्यग् विचिन्त्य कथयाम्यतः ॥ ५०० ॥ एवमस्त्विति जामेयेनोक्ते ध्यान-विधानतः । तदशेपमटव्यादि मामः प्रैक्षत सर्वतः ॥ ५०१ ॥ तद्वीक्ष्य भावितमनाः सोऽथ धुन्वन् शिरोऽहसत् । प्रकर्षोऽभिदधे माम ! किमिदं ? सोऽप्यचीकथत् ॥५०२॥ सर्वं ज्ञातमिदं तेन हर्षोऽभूदधुना मम । प्रकर्षः प्राह मे माम ! तर्ह्यशेषं निवेद्यताम् ॥५०३॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र ! यद्येवं श्रूयतां ततः । चित्तवृत्त्यभिधा तावदटवीयं निगद्यते ॥५०४॥ अत्रान्तरे जनाः सर्वेऽसुन्दरा सुन्दरा अपि । कृत्वा ग्रामपुरादीनि निवसन्ति सदा किल ॥५०५॥ तेनेयमटवी वत्स ! बहिरङ्गशरीरिणाम् । कारणं परमं प्रोक्ता दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ५०६ ॥ निद्रातटा कपायाम्बुर्विषयोर्मिः सुरारसा । विकथास्रोतसां धाम सिन्धुस्त्वेषा प्रमत्तता ॥ ५०७ ॥ राजसतामसचित्तपुरद्वय-समुद्गता । अटव्यन्तर्वहन्त्येपा प्रयाति भववारिधौ ॥ ५०८ ॥ ततोऽत्र पतितो जन्तुः प्रयात्येव भवार्णवे । तस्माद् बिभ्यति ये केऽपि तस्यास्ते यान्ति दूरतः ॥ ५०९ ॥ इदं तु तद्विलसितं पुलिनं हास्यसैकतम् । स्नेहकाशं विलासादिसारसं मत्तलोकयुक् ॥५१०॥ अयं तु चित्तविक्षेपो नाम्ना मण्डप उच्यते । एषामान्तरलोकानां परप्रीति-निबन्धनम् ॥ ५११ ॥ बाह्याङ्गिनस्तु ये मूढा विशन्त्यत्राप्नुवन्ति ते । ध्रुवं विभ्रमसंतापचित्तोन्मादव्रतप्लवान् ॥ ५१२ ॥ एषा च वेदिका वत्स ! तृष्णाख्याऽऽख्यायते बुधैः । महामोहमहीभर्तुरेतस्यात्यन्तवल्लभा ॥ ५१३ ॥ अत एवैष भूपालः स्वकुटुम्बजनान्वितः । अत्रासीनोऽस्ति शेषास्तु बहिर्मुत्कलमण्डपे ॥ ५१४ ॥ एषापि

१ ०श्रोत० क० ख० ।

प्रीतयेऽस्यैव सकुटुम्बस्य भूभुजः । बहिरङ्गस्य लोकस्य पुनः क्लेशाय केवलम् ॥ ५१५ ॥ विपर्यासाख्यमेतच्च सिंहासनमुदीरितम् । यत्रासीनोऽयमुर्वीशो दुर्दर्शो भवति द्विषाम् ॥ ५१६ ॥ सत्यत्र देहिनां हि स्युः कुतः सुन्दरबुद्धयः ! । पूर्वोदितं च नद्यादिवीर्यमत्राखिलं स्थितम् ॥ ५१७ ॥ गात्रयष्टिमविद्याख्यां दधानो वसुधाधवः । अयं पुनर्महामोहः प्रसिद्धस्त्रिजगत्यपि ॥ ५१८ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मरूपे वपुरादिके। पौद्गलिके वैपरीत्यं लोकानां दर्शयत्ययम् ॥ ५१९ ॥ विक्रमाक्रान्तविश्वस्यैतस्याज्ञां जगतीपतेः । किङ्करा इव कुर्वन्ति सुरासुरनरेश्वराः ॥ ५२० ॥ तदयं तव कल्याण ! कथितः पृथिवीपतिः । अधुना परिवारोऽस्य वर्ण्यमानो निशम्यताम् ॥ ५२१ ॥ किन्त्वाख्यात्यपि मय्येवं न त्वं पृच्छसि किञ्चन । हुङ्कारमपि नो दत्से कुतोऽप्याकूतदोषतः ॥ ५२२ ॥ वीक्षसे मन्मुखं वत्स ! केवलं निश्चलेक्षणः । तदहं नैव जानामि बुध्यमानोऽस्यदो न वा ॥ ५२३ ॥ बुध्यमानोऽस्म्यदः सर्वं माम ! त्वदनुभावतः । इति प्रोक्तः प्रकर्षेण प्रोवाच पुनरप्ययम् ॥ ५२४ ॥ कोपः कार्योऽत्र नो वत्स ! हास्यमेतत्कृतं मया । न हास्यमपि दोषाय स्नेहेन विहितं खलु ॥ ५२५ ॥ किञ्चात्र श्रुतमात्रेऽपि तात ! प्रस्तुतवस्तुनि । न तोष्यं परमार्थोऽपि विचार्योऽस्य त्वयादरात् ॥ ५२६ ॥ परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्त्तनात् । जन्तुः स्यात् क्लेशभागेव भौताचार्यविनेयवत् ॥ ५२७ ॥ तथाह्यभूत्पुरे क्वापि भौताचार्यः सदाशिवः । आजन्मबधिरोऽत्यन्तं जराजर्जरविग्रहः ॥ ५२८ ॥ सोऽन्यदा-

भिदधे हास्याद् बटुनैकेन संज्ञया। भट्टारक! किलैवं हि नीतिशास्त्रेषु पठ्यते ॥ ५२९ ॥ विषं गोष्ठी दरिद्रस्य जन्तोः पापरतिर्विषम्। विषं परे[2] रता भार्या विषं व्याधिरुपेक्षितः ॥ ५३० ॥ बाधिर्यस्य करोत्वस्य तत्तूर्णं किञ्चिदौषधम्। भट्टारको न खल्वेष युक्तो व्याधिरुपेक्षितुम् ॥ ५३१ ॥ कदाग्रहेण तेनैव संजातेनाथ मूढधीः। स शान्तिशिवनामानं विनेयं निजमभ्यधात् ॥ ५३२ ॥ वत्स! वैद्यगृहे गच्छ ज्ञात्वा बाधिर्यभेषजम्। लात्वा चैहि जवान्मा भूद् व्याधिवृद्धिर्विलम्बतः ॥ ५३३ ॥ प्रतिपद्य तदादेशं ययौ शान्तिशिवो जवात्। अगदङ्कारसदने तत्रालोकितवांश्च तम् ॥ ५३४ ॥ तदा च बृहतीं वेलां रन्त्वाऽऽयातं बहिर्निजम्। सुतं वीक्ष्य रुषा रज्जुं वैद्यो बालमयीं ललौ ॥ ५३५ ॥ तयाऽतिगाढया गाढमारटन्तं निबध्य च। स्तम्भे तं ताडयामास निर्दयं लगुडेन सः ॥ ५३६ ॥ किमेवं ताडयस्येनमिति शान्तिशिवेन सः। पृष्टः प्रोवाच नो पापः शृणोति कथमप्यसौ ॥ ५३७ ॥ अत्रान्तरे च कुर्वाणा महाहाहारवं जवात्। आगत्य भार्या वैद्यस्य वारणायालगत् करे ॥५३८॥ वैद्योऽप्युवाच तां क्रोधात् मार्यः पापो मया ह्यसौ। मम यः कुर्वतोऽप्येवं न शृणोति कथञ्चन ॥ ५३९ ॥ अपसरापसर त्वमन्यथा तेऽप्यसौ गतिः। इति प्रोक्तेऽप्यत्यजन्तीं वैद्यस्तामप्यताडयत् ॥५४०॥ तदा शान्तिशिवो दध्यौ तावदेतन्मयौषधम्। भट्टारकस्य हुं ज्ञातं किं पृष्टेनाधुना ततः ॥५४१॥ सोऽथ माहेश्वरावासे[3] गत्वा रज्जुमयाचत। साऽर्पिता तैः सणमयी ततः शान्तिशिवोऽवदत् ॥ ५४२ ॥ पर्याप्तमनया

१ बालकेन। २ पररता ग०। ३ ०वासं ग० ग०।

किन्तु वालमध्यातिगाढया । रज्ज्वा कार्यं ततो माहेश्वरैः सापि समर्पिता ॥ ५४३ ॥ किं कार्यमनया रज्ज्वेत्यनुयुक्तोऽथ तैरयम् । अब्रवीदौषधं कार्यं सदाशिवगुरोर्ननु ॥ ५४४ ॥ अथ तां रज्जुमादाय सत्वरं स मठे ययौ । सदाशिवं च वीक्ष्याभूद् भृकुटीभीषणाननः ॥ ५४५ ॥ सोऽथ मध्यमठं स्तम्भे तं नियम्य निजं गुरुम् । बृहता लगुडेनोच्चैरारटन्तमताडयत् ॥ ५४६ ॥ इतो माहेश्वरा दध्युः सदाशिवगुरोर्वयम् । क्रियायां क्रियमाणायां भवामः सविधे स्वयम् ॥ ५४७ ॥ ध्यात्वेति यावदीयुस्ते तावत्तत्रामुना क्रुधा । अद्राक्षुर्मूटं(त)कमिव कुट्यमानं सदाशिवम् ॥५४८॥ किमेवं ताडयस्येनमिति शान्तिशिवोऽथ तैः । पृष्टः प्रोवाच नो पापः शृणोति कथमप्ययम् ॥५४९॥ तदारार्टीं गुरुः प्रोच्चैर्म्रियमाणोऽमुचत् ततः । हाहारवमुखा वारणार्थं शिष्यस्य तेऽलगन् ॥ ५५० ॥ अथ शान्तिशिवः प्राह मार्यः पापो मया ह्यसौ । मम यः कुर्वतोऽप्येवं न शृणोति कथञ्चन ॥ ५५१ ॥ यात यात द्रुतं यूयमन्यथा वोऽप्यसौ गतिः । इति प्रोक्तेऽप्यत्यजतः शिष्यस्तानप्यताडयत् ॥ ५५२ ॥ ततो रे ! लात लातेति ब्रुवाणैर्लगुडः करात् । जगृहे तस्य संभूय बलात्तैः शिवदैवतैः ॥ ५५३ ॥ नूनं ग्रहगृहीतोऽयमिति ध्यात्वा स तैस्ततः । प्रपात्य लगुडाघातैश्चौरबन्धमबध्यत ॥ ५५४ ॥ सदाशिवस्तु तैः कृत्तबन्धनः कृतसत्क्रियः । कथञ्चित् चेतनां प्राप जिजीव च विधेर्वशात् ॥ ५५५ ॥ किमिदं कर्तुमारब्धमासीत् भगवतस्त्वया । इति पृष्टोऽथ तैर्माहेश्वरैः शान्तिशिवोऽवदत् ॥ ५५६ ॥ ननु वैद्योपदेशेन बधिरत्वस्य भेषजम् । तन्मां मुञ्चत मा व्याधिमुपेक्षध्वमिमं गुरोः ॥ ५५७ ॥

---

१ भ्रकु० क० ख० ग० । २ ०ढक० ख० (०मूतकमिव=बद्धवन्दिवत्) । ३ ऽवदत् ग० ।

अहो ! दुराग्रहोऽस्येति विमृशन्तोऽथ ते पुनः । तमूचुस्त्वां विमुञ्चामो यद्येवं विदधासि न ॥ ५५८ ॥ साटोपं सोऽपि तानाह किमहं भवतामरे ! । वचसा न करिष्यामि स्वगुरोरपि भेषजम् ? ॥ ५५९ ॥ अहं तस्यैव वैद्यस्य वाचा तिष्ठामि चेत्परम् । ततस्ते वैद्यमाहूय तं वृत्तान्तं न्यवेदयन् ॥ ५६० ॥ प्रोचे शान्तिशिवं सोऽपि हसन्नन्तर्मुखं भिषग् । भट्टारक ! मदीयोऽसौ बधिरस्तनयो नहि ॥ ५६१ ॥ किन्तु वैद्यकशास्त्राणि क्लेशेन महता मया । अध्यापितोऽयं स त्वेष नित्यं मयि रटत्यपि ॥ ५६२ ॥ क्रीडाशीलतयात्यन्तं तेषामर्थं शृणोति न । ततोऽयं ताडितो रोषान्मया तन्नेदमौषधम् ॥ ५६३ ॥ युग्मम् ॥ किञ्चायमधुना कल्य[1]स्त्वत्प्रभावादभूद् गुरुः । औषधेनामुनैवातः कार्यं नास्येदमौषधम् ॥ ५६४ ॥ सोऽप्युवाच भवत्वेवं कल्यैरेव प्रयोजनम् । गुरुभिर्मे ततः शैवा मुक्त्वा शान्तिशिवं ययुः ॥ ५६५ ॥ परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्त्तनात् । तदेवं क्लेशभागी स्याद् विज्ञेयो वत्स ! सोऽप्यतः ॥ ५६६ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं विज्ञातेयं ततो मया । महाटवी सभावार्था नद्यादीनि न वेद्मि तु ॥ ५६७ ॥ बाह्यान्तरजनानर्थतोषहेतुतया यतः । समान्येतानि तन्नाम्ना भिद्यन्तेऽर्थेन नो पुनः ॥ ५६८ ॥ अर्थभेदोऽस्ति चेन्मामस्तमाख्यात्वथ सोऽब्रवीत् । स मया प्रोक्त एवैषां प्रत्येकं गुणवर्णने ॥ ५६९ ॥ पृच्छन् भूयोऽपि भावार्थं विमर्शेनाथ जामिभूः । विचक्षणसूरिणा तु बोधितो नरवाहनः ॥ ५७० ॥ संसारिजीवस्त्वाख्याति स्पष्टबोधनिबन्धनम् । अगृहीतसङ्केतायै वेल्लहलकथामिति ॥ ५७१ ॥ अनादिर्नाम भूपालः पुरेऽस्ति भुवनोदरे । देव्यस्य

---

[1] नीरोगः ।

संस्थितिः पुत्रस्तयोर्वेल्लहलाभिधः ॥ ५७२ ॥ स चाहारप्रियोऽत्यन्तभोज्याजीर्णात्ततोऽस्य च । अभूदन्तर्ज्वरो भोक्तुमिच्छा बाढं तथापि हि ॥ ५७३ ॥ अन्यदोद्यानिकेच्छास्य जाता सोऽथ व्यधापयत् । भूरिभक्ष्याणि लौल्येन स्तोकं भुक्त्वा गतो वनम् ॥ ५७४ ॥ पुरः परिजनेनास्याहारा विस्तारितास्ततः । तल्लेशभक्षणाच्चास्य वृद्धिं प्राप ज्वरोऽधिकम् ॥ ५७५ ॥ समयज्ञाख्यवैद्येन तज्ज्ञात्वा लङ्घनादिका । तस्य प्रतिक्रियाऽऽख्याता स गृद्धस्तां व्यधान्न तु ॥ ५७६ ॥ गलके प्रत्युतागच्छन्नप्याहारः कियानपि । भूयोऽपि बुभुजे तेनाजीर्णाद् वान्तिरभूत्ततः ॥ ५७७ ॥ वारयत्यपि वैद्येऽथ क्षुधितोऽस्म्यनिलाच्च मे । वान्तिरित्याऽऽद तन्मिश्रं सन्निपातस्ततोऽभवत् ॥ ५७८ ॥ तस्मिन्नेव ततो वान्तिकर्दमे स लुठन् स्थितः । भूयांसं कालमित्युक्तो दृष्टान्तोऽयं तवानघे ! ॥ ५७९ ॥ प्राहागृहीतसङ्केता भावार्थकथनं विना । संसारिजीव ! न चायं दृष्टान्तो बुध्यते मया ॥ ५८० ॥ ततः संसारिजीवेन प्रेरिता प्रस्तुते विधौ । प्रज्ञाविशाला प्रोवाच श्रूयतां सखि ! सादरम् ॥ ५८१ ॥ योऽयं वेल्लहलः सैष ज्ञेयो जीवः सकर्मकः । अनादिसंस्थितिसुतः स यतो भुवनोदरे ॥ ५८२ ॥ तस्यैव चित्तवृत्तिर्या सा विज्ञेया महाटवी । आहारप्रियता चास्य ज्ञेया विषयलोलता ॥ ५८३ ॥ पापाज्ञानात्मकं कर्माजीर्णमन्तर्ज्वरः पुनः । रागादितापो मद्यादिपञ्चके या पुनर्मतिः ॥ ५८४ ॥ सा भोक्तुमिच्छा विज्ञेया नदी सेयं प्रमत्तता । ज्ञेया तूद्यानिकाकाङ्क्षा चित्तं द्रव्यार्जनादिषु ॥ ५८५ ॥ द्रव्यात् नार्यादिभोगस्तु सर्वान्नांशाशनं मतम् । उद्यानगमनं मद्यद्यूतादिषु च वर्त्तनम् ॥ ५८६ ॥ कर्म्माणि परिवारश्च भोज्य-

विस्तारणं पुनः। प्रमादाचरणं ज्ञेयं तत्तद्विलसितं तटम् ॥ ५८७ ॥ ज्ञेयान्नात् ज्वरवृद्धिस्तु कर्म्मवृद्धिः प्रमादतः। समयज्ञाभिधो वैद्यो ज्ञेयो धर्मगुरुः पुनः ॥ ५८८ ॥ लङ्घनादिक्रिया प्रायश्चित्तादिकथनं मतम्। अनादरोऽरुचिः सैष चित्तविक्षेपमण्डपः ॥ ५८९ ॥ भोजनं गलकेऽगच्छदपि भुक्तं तु विद्धि तत्। जराऽकिञ्चित्करत्वेऽपि विरत्यङ्गीकृतिर्न यत् ॥ ५९० ॥ चौरराजादिभिर्द्रव्यापहारो वान्तिरिष्यते। सैषा सखि! विशेषज्ञैस्तृष्णाख्या वेदिकोच्यते ॥ ५९१ ॥ यच्च वातवशाद्भ्रान्तिस्तदयत्नात् गते धने। पुनरप्यर्जनाकाङ्क्षा तद्विपर्यासविष्टरम् ॥ ५९२ ॥ वारयत्यपि यद्वैद्ये वान्तिसन्मिश्रभोजनम्। भुक्तोच्छिष्टेषु भोगेषु तद्गुरौ वारयत्यपि ॥ ५९३ ॥ प्रवृत्तिः सा गात्रयष्टिरविद्याख्या निगद्यते। सन्निपातोऽतिघोरस्तु महामोहोऽत्र कथ्यते ॥ ५९४ ॥ महामोहवशो ह्येष जीवः पूयादिपूरिते। निर्बोलं निपतत्येव नरके वान्तिपिच्छले ॥ ५९५ ॥ तदेवं राजपुत्रीयो दृष्टान्तोऽनेन सुन्दरि!। महानद्यादिवस्तूनां दर्शितो भेदसिद्धये ॥ ५९६ ॥ अथाद्यापि न संजाता प्रतीतिस्ते परिस्फुटा। भूयोऽपीदं समासेन प्रस्पष्टं कथयाम्यहम् ॥ ५९७ ॥ विषयोन्मुखता जन्तोर्या सा ज्ञेया प्रमत्तता। तत्तद्विलसितं विद्धि यद्भोगेषु प्रवर्त्तनम् ॥ ५९८ ॥ प्रवृत्तौ लौल्यदोषेण शून्यत्वं यत्तु चेतसः। ज्ञेयः स चित्तविक्षेपो जीवस्यास्य वरानने! ॥५९९॥ तृप्तेरभावो भुक्तेषु यो भोगेषु बहुष्वपि। योत्तरोत्तरवाञ्छा च सा तृष्णा गदिता बुधैः ॥ ६०० ॥ पापात् भोगेष्वजातेषु जातनष्टेषु वा पुनः। बाह्योपायेषु यो यत्नो विपर्यास स उच्यते ॥ ६०१ ॥ अनित्याशुचिदुःखेषु गाढं भिन्नेषु जीवतः। विपरीता

मतिस्तेषु या साऽविद्या प्रकीर्त्तिता ॥ ६०२ ॥ एतेषामेव वस्तूनां सर्वेषां यः प्रवर्त्तकः । एतैरेव च यो जन्यो महामोहः स गीयते ॥ ६०३ ॥ ततो भिन्नानि नद्यादिवस्तून्येतानि सुन्दरि ! । प्राहागृहीतसङ्केता भावार्थोऽवगतो मया ॥ ६०४ ॥ संसारिजीव एवातः परमाख्यात्वसौ सखि ! । ततः प्रस्तुतमाख्यातुमारेभे सोऽप्यपश्रमः ॥६०५॥ अथ प्रोक्तं विमर्शेन भद्र ! ज्ञातो यदि त्वया । महानद्यादिभावार्थस्ततोऽन्यत् किं निवेद्यताम् ? ॥६०६॥ प्रकर्षः प्राह मे माम ! नामतो गुणतोऽधुना । महामोहनरेन्द्रस्य परिवारं निवेदय ॥ ६०७ ॥ विमर्शोऽथ जगादैवं यद्येवं वत्स ! तच्छृणु । येयं नृपासनार्द्धस्था स्थूलाङ्गी दृश्यतेऽङ्गना ॥ ६०८ ॥ सा महामूढता नाम्ना भूपतेरस्य वल्लभा । गुणैस्तु स्वपतेरेव समाना सूरिभिः स्मृता ॥ ६०९ ॥ यस्त्वयं नृपपार्श्वस्थः श्यामवर्णोऽतिभीषणः । राजकं सर्वमप्येतद्वीक्ष्यते वक्रचक्षुषा ॥ ६१० ॥ स मिथ्यादर्शनो नाम महामात्योऽस्य भूभुजः । बलसंपादकोऽमीषां राज्ञां राज्यस्य चिन्तकः ॥ ६११ ॥ देवबुद्धिमदेवेऽपि गुर्वाशामगुरावपि । अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिं च करोत्येष शरीरिणाम् ॥६१२॥ एवं च तेऽमुनात्यन्तं विपर्यासितबुद्धयः । यल्लभन्ते भवे दुःखं तन्नाख्यातुमपीश्यते ॥ ६१३ ॥ या त्वेषार्द्धासनेऽस्यैव निविष्टास्ति नितम्बिनी । सास्यैव मन्त्रिणो भार्या कुदृष्टिर्नाम विश्रुता ॥६१४॥ परमार्थमजानाना नानाभिप्रायसंस्थिताः । विवदन्ते बलादस्याः सर्वे पाखण्डिनो मिथः ॥ ६१५ ॥ भूपतेर्दक्षिणे पार्श्वे निविष्टस्तुङ्गविष्टरे । यस्त्वेष वीक्ष्यते वत्स ! स राजा रागकेशरी ॥ ६१६ ॥ अस्मिन्नात्मसुते

---

१ ०ध्यते ग०।

राज्यभरं न्यस्य भरक्षमे । महामोहो जरन्नेष निश्चिन्तो वर्त्ततेऽधुना ॥६१७॥ रागकेशर्यपि प्राप्ताधिपत्योऽपि न क्वचित् । स्वपितुः खण्डयत्याज्ञां विनीतैकधुरन्धरः ॥ ६१८ ॥ यावच्च प्रतपत्येष नरेन्द्रो रागकेशरी । कं कं क्लेशं जना बाह्यास्तावदासादयन्ति न ॥ ६१९ ॥ किञ्चास्यैव महीभर्तुर्य एते तटवर्त्तिनः । सुस्निग्धारुणवर्ष्माणो वीक्ष्यन्ते पुरुषास्त्रयः ॥ ६२० ॥ भद्र ! तेऽस्यैव भूभर्तुः सुहृदोऽत्यन्तवल्लभाः । दृष्टिरागस्नेहरागकामरागा इति स्मृताः ॥ ६२१ ॥ प्रथमस्तत्र तीर्थ्यानामात्मीयात्मीयदर्शने । करोति चेतसोऽत्यन्तमाबन्धमनिवर्त्तकम् ॥ ६२२ ॥ द्वितीयस्तु करोति स्वस्वजनापत्यसंहतौ । मूर्च्छातिरेकतो बाढमाबन्धं सर्वजन्मिनाम् ॥ ६२३ ॥ तृतीयः पुनरत्यन्तं सर्वदा सर्वदेहिनाम् । शब्दादिविषयग्रामे लौल्यमुत्पादयत्यलम् ॥ ६२४ ॥ वयस्यत्रितयस्यास्य सामर्थ्यादेष भूपतिः । वशीकरोति निःशेषं भुवनं रागकेशरी ॥ ६२५ ॥ सन्मार्गमत्तमातङ्गकुम्भनिर्भेदनक्षमः । स्ववीर्याक्रान्तभुवनः सत्योऽयं रागकेशरी ॥ ६२६ ॥ या त्वेषाऽर्द्धासनेऽमुष्याऽऽसीना सास्यैव वल्लभा । मूढता नाम विज्ञेया गुणैः स्वपतिसन्निभा ॥ ६२७ ॥ वामेयोऽयं पुनः पार्श्वे निविष्टो मूलभूपतेः । भद्र ! द्वेषगजेन्द्रोऽयं नरेन्द्रो विश्वविश्रुतः ॥ ६२८ ॥ सानुग्रहो महामोहः सुतेऽमुष्मिन् विशेषतः । इतीव दृष्टमात्रेऽत्र कम्पन्ते बाह्यदेहिनः ॥ ६२९ ॥ महाटव्यां चलत्यस्मिन् दुःखं नानाविधं च ते । आप्नुवन्तीहलोकेऽपि परलोके तु का कथा ? ॥ ६३० ॥ भद्र ! द्वेषगजेन्द्रोऽयं यथार्थो नात्र संशयः । यद्गन्धेनापि भज्यन्ते विवेकाः कलभा

१ घन० । २ ०यम् ता० ।

इव ॥६३१॥ या त्वस्य भार्या तद्वार्त्ता शोकेनैव निवेदिता । अत एव न पार्श्वस्था दृश्यते साऽविवेकिता ॥६३२॥ प्रकर्षः प्राह यो माम ! पृष्ठतोऽस्यैव भूपतेः । निविष्टो विष्टरे तुङ्गे वयस्यत्रयसंयुतः ॥ ६३३ ॥ पृष्ठापीडिततूणीरः सचापः पञ्चसायकः । रक्तवर्णोऽतिलोलाक्षो विलासोल्लासलालसः ॥६३४॥ अङ्कारोपितसद्रूपप्रेयसीको झषध्वजः । दृश्यते भृशमोजस्वी कतमः स महीपतिः ? ॥ ६३५ ॥ विशेषकम् ॥ विमर्शोऽभिदधे वत्स ! न ज्ञातोऽयमपि त्वया । नन्वेष विश्वविख्यातपौरुषो मकरध्वजः ॥६३६॥ जगत्त्रयैकवीरस्य शिरसा यस्य शासनम् । बिभ्रते माल्यवन्नित्यं देवदानवमानवाः ॥ ६३७ ॥ एतस्य शासनं तात ! को वा लङ्घयितुं प्रभुः ? । आत्मभूतं महावीर्यं यस्येदं पुरुषत्रयम् ॥ ६३८ ॥ पुंवेदो नाम तत्राद्यः प्रभावात् यस्य पूरुषाः । पारदार्ये प्रवर्तन्ते विलङ्घ्य स्वकुलक्रमम् ॥ ६३९ ॥ स्त्रीवेदाख्यो द्वितीयस्तु तेजसा यस्य योषितः । निस्त्रपास्त्यक्तमर्यादा रज्यन्ते परपूरुषे ॥ ६४० ॥ तृतीयः षण्ढवेदाख्यः शक्त्या यस्य नपुंसकाः । स्त्रीपुंसेषु विगुप्यन्ते[1] कुर्वन्तः कर्म गर्हितम् ॥ ६४१ ॥ पुरुषत्रितयस्यास्य साहाय्यादेष भूपतिः । दासेरमिव निःशेषं मन्यते भुवनत्रयम् ॥ ६४२ ॥ या त्वस्याङ्कासनासीना चारुरूपा नितम्बिनी । एषास्यैव रतिर्नाम प्रिया प्रेमैकमन्दिरम् ॥ ६४३ ॥ अनया निर्जिता वत्स ! निस्त्रपाः सुरतार्थिनः । पुरुषा अपि नारीणां यान्ति किङ्करतां मुदा ॥ ६४४ ॥ तदयं यस्त्वया पृष्टो लेशोद्देशादसौ मया । परिवारयुतो भद्र ! वर्णितो मकरध्वजः ॥ ६४५ ॥ यस्त्वस्यैव समीपस्थः श्वेतकान्तिर्विलोक्यते । स हासो नाम

१ ०गुप्यन्ति कु० ता० ।

सुभटः शत्रूणामुपहासकृत् ॥६४६॥ हेतौ वा हेत्वभावे वा स्ववीर्यं तनुते जने । अयं वैरलघुत्वादिदोषराशिनिबन्धनम् ॥ ६४७॥ या त्वस्यार्द्धासनस्थेयं तुच्छताख्यास्य वल्लभा । निर्निमित्तं लघुजने हासोल्लासविधायिनी ॥ ६४८ ॥ या त्वेषा कृष्णबीभत्सा नारीयमरतिर्मता । बहिर्जने मनोदुःखं जृम्भमाणा करोति या ॥ ६४९ ॥ यस्त्वेष दृश्यते भद्र ! सप्तमानुषसंयुतः । कम्पमानसमस्ताङ्गः स भयो नाम पूरुषः ॥ ६५० ॥ अस्यादेशेन दीनास्या जनास्तरललोचनाः । पलायनारिनत्यादिकर्म्म किं किं न कुर्वते ? ॥ ६५१ ॥ निविष्टा विष्टरेऽमुष्य या त्वेषा योषिदीक्ष्यते । सा हीनसत्त्वतास्यैव भार्या स्वपतिवत्सला ॥ ६५२ ॥ भयस्यादूरदेशस्थो यस्त्वयं श्यामलच्छविः । वत्स ! शोकाभिधयोधस्तवापि ज्ञात एव सः ॥ ६५३ ॥ तदाऽऽख्यायाऽऽवयोर्वार्त्तां मिलित्वा सुहृदोऽपि च । अयं ह्यत्रायायौ तूर्णं पुरात् तामसचित्ततः ॥ ६५४ ॥ जीवाः प्रियवियोगादौ दुःखे जातेऽस्य शासनात् । स्वघाताक्रन्दनादीनि कुर्वते मूढबुद्धयः ॥ ६५५ ॥ अस्यार्द्धविष्टरासीना या त्वसौ दृश्यतेऽङ्गना । सा भार्यास्य भवास्थाख्या मूढानां भ्रमकारिणी ॥ ६५६ ॥ वक्रनक्रा शिंतिर्या तु सा जुगुप्सेति कीर्त्यते । कुर्वन्त्याघ्राय दुर्गन्धं थूत्कृताद्यमुतो जडाः ॥ ६५७ ॥ यान्येतानि पुनर्वत्स ! क्रीडादिषु महीभुजाम् । क्रीडन्ति डिम्भरूपाणि रक्तकृष्णानि षोडश ॥ ६५८ ॥ तानि सामान्यतस्तावत्समस्तान्यपि सुन्दर ! । कषायाख्याणि विद्वद्भिः कीर्त्तितानीह विष्टपे ॥६५९ ॥ विशेषतस्तु रौद्राणि यानि स्थूलतमानि च । तान्यनन्तानुबन्धीनि चत्वारि

१ नरोऽयं ख० । २ दुःखेनैतस्य ख० । ३ कृष्णा ।

ब्रुवते बुधाः ॥ ६६० ॥ यावदेतानि वल्गन्ति मिथ्यादर्शनगौरवात् । संसारिणां कुतस्तावत् तत्त्वमार्गस्य दर्शनम् ? ॥ ६६१ ॥ एतेभ्यो लघुरूपाणि यानि चत्वारि सुन्दर ! । अप्रत्याख्याननामानि तानि गीतानि पण्डितैः ॥ ६६२ ॥ स्फुरन्ति यावदेतानि विरतिं देशतोऽपि हि । प्रपद्यन्ते न वीक्ष्यापि तावत् तत्त्वपथं जनाः ॥ ६६३ ॥ यान्येतानि तु चत्वारि लघीयांसि ततोऽपि हि । प्रत्याख्यानावारकाणि बुधास्तानि प्रचक्षते ॥ ६६४ ॥ यावदेतानि वर्त्तन्ते तावज्जीवैः प्रपद्यते । प्राप्यापि देशविरतिं सर्वतो विरतिः कुतः ? ॥ ६६५ ॥ लघीयांसि तु चत्वारि यान्येतानि ततोऽपि च । तानि संज्वलनाख्यानि समाख्यातानि कोविदैः ॥ ६६६ ॥ एतान्यपि विजृम्भन्ते यावत्तावत् कुतोऽङ्गिभिः । प्राप्यते वीतरागत्वं सर्वतो विरतैरपि ॥ ६६७ ॥ एषां च मध्ये यान्यष्टौ रागकेसरिणोऽग्रतः । अस्यैव तान्यपत्यानि मूढताकुक्षिजान्यहो ! ॥ ६६८ ॥ अष्टौ द्वेषगजेन्द्रस्य पुरः क्रीडन्ति यानि तु । एष एव पिता तेषां जननी चाविवेकिता ॥ ६६९ ॥ ततश्चैवं महामोहपौत्राणां महिमाद्भुतम् । को भाषितुमलम्भूष्णुः पराक्रमगरीयसाम् ? ॥६७०॥ तदिदं ते समासेन मया तात ! निवेदितम् । महामोहनरेन्द्रस्य स्वाङ्गभूतं कुटुम्बकम् ॥ ६७१ ॥ ये त्वमी वेदिकाभ्यर्णे वर्त्तन्ते पृथिवीभुजः । ते महामोहराजस्य स्वाङ्गभूताः पदातयः ॥ ६७२ ॥ तत्र च प्रेक्ष्यते योऽयं रागकेशरिणोऽग्रतः । पश्चापि विषयानाप्य मन्वानो मुष्टिगं जगत् ॥ ६७३ ॥ राज्ञोऽस्यैव स एवैष महामात्यो महाबलः । विषयाभिलाषोऽत्रावामायातौ यद्दिदृक्षया ॥ ६७४ ॥

१ ०षां म० क० ख० ग० घ० ।

(युग्मम्) ॥ तावद् विवेकजीमूतश्चित्तव्योमनि जन्मिनाम् । गर्जति प्रसरत्येष यावन्नोद्दण्डमारुतः[1] ॥ ६७५ ॥ अस्यैव तान्यपत्यानि स्पर्शनादीनि पञ्च च । यानि मिथ्याभिमानेन कथितानि पुराऽऽवयोः ॥६७६॥ स्पर्शनप्रमुखैस्तैश्च जिता विपयलम्पटाः । किमकृत्यं न कुर्वन्ति जना एष जडो यथा ॥ ६७७ ॥ तेषां चासह्यशक्तीनां बलादेष महत्तमः । किङ्करं मन्यते स्वस्य निःशेषमपि विष्टपम् ॥६७८॥ रसनाजनको वत्स ! तदसावेव निश्चितम् । रसनामूलशुद्ध्याप्त्या तन्नः सिद्धं समीहितम् ॥६७९॥ प्रकर्षः प्राह दृष्टोऽथ मामैतदपि कथ्यताम् । केयमर्द्धासनासीना मन्त्रिणोऽस्य मृगेक्षणा ॥६८०॥ बुद्धिबन्धुरभाषिष्ट भोगतृष्णाभिधानघ ! । प्रेयसी मन्त्रिणोऽस्येयं स्वभर्तुः सदृशी गुणैः ॥ ६८१ ॥ ये त्वेते पुरतः केचित् पार्श्वतः पृष्ठतोऽपरे । दृश्यन्ते भूभुजो भद्र ! मन्त्रिणोऽस्य नताननाः ॥६८२॥ दुष्टाभिसन्धिप्रमुखास्तेऽमीषामेव पत्तयः । महामोहादिभूपानां स्वाङ्गभूता बुधैर्मताः ॥६८३॥ (युग्मम्)॥ अनेन मन्त्रिणादिष्टा राज्यकार्येषु सर्वदा । एते भद्र ! प्रवर्त्तन्ते प्ररूढप्रौढपौरुषाः ॥ ६८४ ॥ नरा नार्यश्च ये केचिदन्येऽप्येवंविधा जनाः । आन्तरा बाह्यलोकानां वर्त्तन्ते क्लेशकारिणः ॥६८५॥ अमीषां मध्यगास्तात ! ज्ञेयास्ते निखिला अपि । संख्यातीताः कथं ते हि कथ्यन्ते नामभिर्मया ? ॥ ६८६ ॥ (युग्मम्) ॥ प्रकर्षः प्राह ये त्वेते वेदिकादूरवर्त्तिनः । निविष्टा भूभुजः सप्त माम ! मुत्कलमण्डपे ॥६८७॥ युक्ताः स्वपरिवारेण नानारूपविराजिनः । एते किन्नामका ज्ञेयाः ? किङ्गुणा वा महीभुजः ? ॥ ६८८ ॥ विमर्शोऽप्यभ्यधादेवं[2] सप्ताप्येते नरेश्वराः । महा-

१ प्रचण्डवायुः । २ विमर्शः ।

मोहनृपस्यैव बहिर्भूताः पदातयः ॥ ६८९ ॥ तत्रैष वीक्ष्यते भद्र ! युक्तो यः पञ्चभिर्नरैः । ज्ञानसंवरणो नाम प्रसिद्धः स महीपतिः ॥ ६९० ॥ स्वपञ्चनरवीर्येण धौरेयः क्रूरकर्मणाम् । हत्वा ज्ञानदृगालोकं जगदन्धं करोत्ययम् ॥ ६९१ ॥ यस्त्वेष नवभियुक्तो मानुषैः प्रविलोक्यते । दर्शनावरणो नाम विख्यातः स नरेश्वरः ॥ ६९२ ॥ परिवारेऽस्य याः पञ्च नार्यस्तासां बलादसौ । विदधाति जगत्सर्वं घूर्णमानं गतक्रियम् ॥६९३॥ ये त्वमी पुरुषास्तात ! चत्वारः सारसाहसाः । एतत्सामर्थ्यतो विश्वं विश्वमन्धीकरोत्यसौ ॥६९४॥ दृश्यते यः पुनरयं नरद्वयसमन्वितः । वेदनीयाभिधानः स प्रसिद्धः पृथिवीपतिः ॥ ६९५ ॥ सातनामा नरोऽस्याऽऽद्यो जगदानन्ददायकः । द्वितीयोऽसातनामा तु विश्वसंतापकारकः ॥ ६९६ ॥ दीर्घह्रस्वैः समायुक्तश्चतुर्भिर्डिम्भरूपकैः । वीक्ष्यते नृपतिर्योऽयं स आयुर्नाम विश्रुतः ॥ ६९७ ॥ चतुर्डिम्भौजसा गुप्तिष्विवायं चतसृष्वपि । गतिषु प्रसभं धत्ते नियतं कालमङ्गिनः ॥ ६९८ ॥ द्विचत्वारिंशता युक्तो मानुषैर्यस्तु दृश्यते । नामनामा नृपः सोऽयं विश्वत्रयविडम्बकः ॥६९९॥ तथाहि गतिजात्यादिभेदैर्नानातनुस्थिताः । नानाङ्गोपाङ्गसंबद्धाः संघातकरणोद्यताः ॥ ७०० ॥ भिन्नसंहननाः सत्त्वा नानासंस्थानधारिणः । वर्णगन्धरसस्पर्शभेदेन विविधास्तथा ॥७०१॥ गौरवेतरहीनाश्च स्वोपघातपरायणाः । पराघातपराः केचिदिष्टजन्मानुपूर्विणः ॥ ७०२ ॥ सदुच्छ्वासातपोद्योता विहायोगतिगामिनः । त्रसस्थावरभेदाश्च सूक्ष्मबादररूपिणः ॥ ७०३ ॥ पर्याप्तकेतराः केचिदन्ये प्रत्येकचारिणः । साधारणाः स्थिराः

१ प्रसिद्धः स महीपतिः घ० । २ कारागारेषु । ३ ०तवि० ख० ।

केचित्तथान्येऽस्थिररूपिणः ॥ ७०४ ॥ शुभाशुभत्वं बिभ्राणाः सुभगा दुर्भगास्तथा । सुस्वरा दुःस्वरा लोके ये चाऽऽदेयेतरा जनाः ॥ ७०५ ॥ यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तियुता निर्मितिशालिनः । ये च तीर्थकरा लोके भवन्ति भवभेदिनः ॥ ७०६ ॥ निजमानुपवीर्येण सर्वमेष नराधिपः । तदिदं जृम्भते वत्स ! नामनामा महाबलः ॥ ७०७ ॥ यस्तूच्चनीचपुरुषद्वयोपेतो निरीक्ष्यते । गोत्राभिधानो विख्यातः स एव वसुधाधवः ॥ ७०८ ॥ पुरुषद्वितयस्यास्य बलादेष महाबलः । सुन्दरासुन्दरं गोत्रं विदधाति तनूभृताम् ॥ ७०९ ॥ चक्षुर्गोचरतां याति नरपञ्चकसंयुतः । यः पुनर्मेदिनीपालः सोऽन्तराय इतीरितः ॥७१०॥ स्थाम्ना नृपञ्चकस्यास्य करोत्येष महाभुजः । दानभोगोपभोगाप्तिवीर्यविघ्नं वपुष्मताम् ॥ ७११ ॥ तदेते नामभिस्तुभ्यं गुणैश्च कथिता नृपाः । समासाद् व्याख्याने तु याति मेऽत्रैव जीवितम् ॥७१२॥ प्रकर्षोऽथ मुदा प्राह बोधितो माम ! साध्वहम् । केवलं विसयोऽद्यापि ममायं वर्त्तते हृदि ॥ ७१३ ॥ यदामून्मण्डपान्तःस्थान्निरीक्षे नायकानहम् । परिवारं न पश्यामि तदामीषां निजं निजम् ॥ ७१४ ॥ यदा विलोकयाम्येषां परिवारं विशेषतः । तदा विस्फारिताक्षोऽपि नैवेक्षे नायकान् पुनः ॥७१५॥ भवता तु परीवारा नायकाश्च पृथक् पृथक् । नामतो गुणतश्चैव कीर्त्तिता माम ! तत्कथम् ? ॥ ७१६ ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र ! कार्यो नैवात्र विस्मयः । एकदोभयवेत्तात्र सर्वज्ञोऽपि न विद्यते ॥ ७१७ ॥ नायका ह्यत्र सामान्यं विशेषास्तु परिच्छदाः । सामान्यस्य विशेषाणां चानन्यत्वं[1] परस्परम् ॥ ७१८ ॥ तेन

१ चान्यत्वं न परस्परम् ख० ।

विस्फारिताक्षोऽपि स्मेरपद्माक्ष ! नेक्षते । नायकान् परिवारांश्च तुल्यकालं भवानमून् ॥ ७१९ ॥ देशकालादि-
भेदेन भेदोऽप्येषां प्रतीयते। तेन वत्स ! मयाऽऽख्यातास्तुभ्यमेते पृथक् पृथक् ॥७२०॥ तदेवं सर्ववस्तूनां भेदाभेदे
व्यवस्थिते । अत्रान्यत्र च कर्त्तव्यो विस्मयस्तात ! न त्वया ॥ ७२१ ॥ प्रकर्षः प्राह मे माम ! नष्टोऽसौ विस्मयो-
ऽधुना । केवलं किञ्चिदद्यापि मामं पृच्छामि संशयम् ॥ ७२२ ॥ तावदेते त्वयाऽऽख्याता यथाष्टौ मुख्यभूभुजः ।
तथा संभावयाम्येतदहं माम ! स्वचेतसि ॥ ७२३ ॥ वेद्यायुर्नामगोत्राख्याश्चत्वारोऽपि ह्यमी नृपाः । शुभं कुर्वन्ति
केषाञ्चित् केषाञ्चिदशुभं पुनः ॥ ७२४ ॥ ज्ञानदर्शनावरणमहामोहान्तरायकाः । कुर्वन्त्येते तु चत्वारोऽशुभमेव हि
देहिनाम् ॥७२५॥ एवं स्थिते च किं माम ! विद्यन्ते केऽपि देहिनः । येऽमीभिरशुभैर्भूपैश्चतुर्भिर्न विडम्बिताः ॥७२६॥
तत्प्रश्नमुदितस्वान्तः प्रत्यभाषत मातुलः । वत्स ! सन्त्येव ते किन्तु विरला जात्यरत्नवत् ॥७२७॥ तेषां हि शुद्ध-
सिद्धान्ताभ्यासलालसचेतसाम् । अप्रमादभृतां तत्तद्भावनाभावितात्मनाम् ॥ ७२८ ॥ निःस्पृहाणां च कल्याणं
किमकल्याणमीश्वराः । कर्त्तुमेते धराधीशाश्चत्वारोऽपि महात्मनाम् ॥७२९॥ युग्मम् ॥ वेद्यायुर्नामगोत्राश्च येऽप्येते
जगतीभुजः। शुभक्रियाणां तेऽप्येषां शुभमेव हि कुर्वते ॥७३०॥ प्रकर्षः प्राह ते माम ! कुत्र तिष्ठन्ति देहिनः । यैरी-
दृशोऽपि निर्जिग्ये शत्रुवर्गो महात्मभिः ॥७३१॥ बुद्धिबन्धुरथोवाच समाकर्णय सुन्दर !। एतदाप्तजनाभ्यासे श्रुत-
मासीत्पुरा मया ॥७३२॥ अस्त्यदृष्टादिपर्यन्तं विविधाद्भुतसंगतम् । विचित्रलोकसंकीर्णं भवचक्राभिधं पुरम् ॥७३३॥
ततोऽहमिति मन्येऽमुं शत्रुवर्गं जिगीषवः । भवचक्रे पुरे तत्र विद्यन्ते ते महाशयाः ॥ ७३४ ॥ किं बाह्यमन्तरङ्गं

वा नगरं तदितीरितः । प्रकर्षेणाथ स प्राह द्विरूपमपि तत्पुरम् ॥ ७३५ ॥ यथाहि तत्राऽऽसाद्यन्ते बहिरङ्गाः पुरे जनाः । अन्तरङ्गा अपि सदा सर्वेऽप्येते तथैव हि ॥७३६॥ रिपुश्चैषां स संतोषस्तत्रैवास्ति पुरे ततः । द्विरूपजनसेव्यत्वात् द्विरूपं तदपि स्मृतम् ॥७३७॥ भवेयुर्माम ! तत्रैते[1] कथमत्र व्यवस्थिताः । इति पृष्टः प्रकर्षेण विमर्शः पुनरभ्यधात् ॥ ७३८ ॥ आविर्भावतिरोभावबाहुरूप्यादिशक्तिभिः । अन्तरङ्गा जनाः सर्वे योगिनस्तात ! खल्वमी ॥ ७३९ ॥ ततश्चाचिन्त्यमाहात्म्या विश्वविस्मयकारिणः । न भवेयुरमी वत्स ! कुत्र कुत्रान्तरा जनाः ? ॥ ७४० ॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम ! द्विषामेषामगोचराः । विद्यन्ते ते महात्मानः स संतोषश्च तत्र चेत् ॥ ७४१ ॥ द्रष्टव्यं तत्पुरं तर्हि कौतुकैकनिकेतनम् । तस्मादनुग्रहं कृत्वा तन्मे मामेन[3] दर्श्यताम् ॥ ७४२ ॥ (युग्मम्) ॥ मातुलोऽप्यवदत् वत्स ! सिद्धं नस्तावदीप्सितम् । रसनामूलशुद्ध्याप्त्या यावः स्वस्थानमेव तत् ॥७४३॥ स्वस्रीयः पुनरप्याह माम ! कीर्त्तयता त्वया । भवचक्रं ममाकारि तद्दर्शनकुतूहलम् ॥ ७४४ ॥ तस्माद्दर्शिते तस्मिन् न मामो गन्तुमर्हति । दत्तश्च कालतो वर्षं तातेनावधिरावयोः ॥ ७४५ ॥ स्थानाच्च नौ निर्गतयोः शरद्धेमन्तलक्षणम् । अगाद्दतुद्वयीमात्रं शिशिरोऽस्ति यतोऽधुना ॥७४६॥ अवश्यायविषोन्मिश्रा यस्मिन्नेते प्रवासिनाम् । हृदयानि स्मरशरा इव भिन्दन्ति वायवः ॥ ७४७ ॥ कम्पमानविरूक्षाङ्गाः स्फुटद्रक्तविपादिकाः । वादयन्त्यधना यत्र दन्तवीणां हिमार्दिताः ॥ ७४८ ॥ शिशिरस्याप्यवश्यायजलजाड्येन यत्र च । स्फुटन्ति कुन्दसन्दोहापदेशाद्दशना

१ ०के क० ता० । २ तर्हि तद् द्रष्टुं कौ० ख० । ३ माम ! प्रदर्श्यताम् क० ख० ग० ।

इव ॥ ७४९ ॥ शीतार्त्तानां प्रियो यत्र दहनोऽपि हि जायते । अनिष्टोऽपि भवेदिष्टः समये ह्युपकारकः ॥ ७५० ॥ निष्पत्राः प्रोषितच्छायास्त्यक्तसन्निधयो जनैः । आसादयन्ति निःस्वानां यत्र वृक्षाः सदृक्षताम् ॥ ७५१ ॥ सांप्रतं च गतप्रायो वर्त्तते शिशिरोऽप्यसौ । ततः षण्मासमात्रेऽपि किमु त्रस्यति मातुलः ? ॥७५२ ॥ गम्यतां भवचक्रेऽतो ममानुग्रहकाम्यया । मामेन परतो यत्ते रोचते तत्करिष्यते ॥ ७५३ ॥ अथानिवर्त्तकं भावं ज्ञात्वा बुद्ध्यङ्गजन्मनः । गमनं मानयामास विमर्शो भवचक्रके ॥७५४॥ ततो मिथ्याभिनिवेशादिस्यन्दनमनोरमम् । ममत्वादिमहादन्तिवृन्दबृंहितबन्धुरम् ॥७५५॥ अज्ञानादिमहाश्वीयहेषारवमनोहरम् । दैन्यचापललौल्यादिपादातपरिपूरितम् ॥७५६॥ महामोहमहीभर्तुश्चतुरङ्गं[1] महाबलम् । पश्यन्तो भवचक्रे तौ चेलतुर्निश्चिताध्वना ॥ ७५७ ॥ विशेषकम् ॥ मार्गे च गच्छता मार्गनिर्गमायाऽपरिश्रमात् । बुद्ध्यात्मजन्मना बुद्धिबन्धुरित्यभ्यधीयत[2] ॥ ७५८ ॥ माम ! यः श्रूयते कर्मपरिणामो महीपतिः । महामोहस्तदादेशं किमसौ कुरुते न वा ? ॥७५९॥ विमर्शः प्राह स ज्येष्ठो बन्धुर्लघुरयं पुनः । तन्न भेदोऽनयोर्भूपाश्चैते तस्यापि पत्तयः ॥ ७६० ॥ ज्येष्ठः प्रकृत्या कार्याणि भव्याभव्यानि देहिनाम् । करोत्यसुन्दराण्येव लघुरेष नृपः पुनः ॥ ७६१ ॥ किञ्चैष विक्रमी भूपः स तु नाट्यप्रियो नृपः । एते नृपा निषेवन्ते महामोहमतः सदा ॥ ७६२ ॥ तस्यापि पुरतो गत्वा नाट्यं कुर्वन्ति तेऽन्वहम् । सभार्यो नाटकं पश्यन्नृपः सोऽस्ति सदा यतः[3] ॥ ७६३ ॥ किञ्चैषामपरेषामप्यन्तरङ्गमहीभुजाम् । स स्वाम्ययं तु तस्यैकदेशो

१ ०ङ्गम० क० ख० ग० । २ ०मिधीयते क० घ० ग० । ३ यकः क० ख० घ० ।

निर्देशकृत्तथा ॥ ७६४ ॥ समग्रनगराधीशः स चैकां निर्वृतिं विना । अयं पुनस्तदादेशान्नृपाणामियतां प्रभुः ॥ ७६५ ॥ अयं निजार्जितं सर्वं ज्येष्ठायार्पयते धनम् । स नियोजयते तत्तु सुन्दरेतरवस्तुषु ॥ ७६६ ॥ तदेवमेष तस्याज्ञां विधत्तेऽतो मुदास्य सः । राजसतामसचित्ते भटभुक्त्या ददौ पुरे ॥ ७६७ ॥ अतः पुरद्वये तत्र सैन्यमस्य सभुक्तिके । तथाटव्यां च निःशेषमास्ते विग्रहतत्परम् ॥ ७६८ ॥ ततस्तत्त्वमिदं कर्म्मपरिणामो महीपतिः । उपविष्टो महामोहस्तूर्द्धस्तत्र भिदाऽनयोः ॥ ७६९ ॥ जामेयः प्राह मामैतदनयोः किं क्रमागतम् । राज्यं ? किं वान्यसंबन्धि जगृहे बलवत्तया ॥ ७७० ॥ मातुलोऽभिदधे राज्यमनयोर्न क्रमागतम् । परकीयमिदं किन्तु हठादाभ्यामगृह्यत ॥ ७७१ ॥ यतः संसारिजीवो हि चित्तवृत्त्यटवीप्रभुः । आभ्यां तं च बहिष्कृत्य स्वीकृता स्वबलेन सा ॥७७२॥ प्रकर्षः प्राह कालोऽभूद् गृहीतायाः कियान्पुनः ? । विमर्शः प्राह नैवादिं जानेऽहमपि तत्त्वतः ॥ ७७३ ॥ स्वस्रीयः प्राह मे माम ! क्षीणोऽयमपि संशयः । अथवा त्वयि पार्श्वस्थे कुतः संशयसंभवः ? ॥ ७७४ ॥ तदेवं विविधालापकल्पनापगतश्रमौ । जङ्गालौ तौ दिनैः कैश्चिद्भवचक्रमुपेयतुः ॥ ७७५ ॥ तस्मिन्नप्यतिविस्तीर्णे विद्यतेऽवान्तरं पुरम् । नामतो मानवावासमनेकाश्चर्यसंकुलम् ॥ ७७६ ॥ तदन्तर्ललिताख्ये तावयान्तरपुरे गतौ । तदा च जनतोन्मादी वसन्तर्तुरुपाययौ ॥ ७७७ ॥ प्रियाध्यानेन्धनैर्यत्र दक्षिणानिलफूत्कृतः । कामिनां स्वान्तकुण्डेषु मदनज्वलनोऽज्वलत् ॥७७८॥ चम्पकाशोकबकुलचूताद्या यत्र शाखिनः ।

---

१ ०ध्यानैन्ध० क० ख० ।

तूणीरा इव पुंष्पेषोर्बभुः कुसुमसंभृताः ॥ ७७९ ॥ यत्र चूतनवाङ्कुरस्वादस्वादुस्वनाः पिकाः । वसन्तऋतुराजस्य रेजिरे मागधा इव ॥ ७८० ॥ भ्रान्तिश्रान्ता मुहुर्यत्र छायारम्यासु वल्लिषु । मधुव्रता मधु पपुः पयः पान्थाः प्रपास्विव ॥ ७८१ ॥ परागैः परितो यत्र संच्छन्नोद्यानभूर्बभौ । खल्लूरिकेव कन्दर्पभूपतेर्वालुकाकुला ॥ ७८२ ॥ स्थितः परिसरे तस्य नगरस्याथ मातुलः । वसन्तोत्सवमालोक्य मुदा जामेयमभ्यधात् ॥ ७८३ ॥ समये भवचक्रस्य दिदृक्षा तात ! तेऽभवत् । वसन्तेऽत्रास्य सौन्दर्यं विशेषेण यतो भवेत् ॥ ७८४ ॥ तथाहि पश्य पश्यास्य ! विश्वग्जाताधिकश्रियः । कस्यैते काननाभोगाश्चित्तं न रमयन्त्यलम् ॥ ७८५ ॥ पौराश्चैतेषु चित्राभिः क्रीडाभिः प्रेयसीसखाः । क्रीडन्त एते नो कस्यातुच्छं यच्छन्ति संमदम् ॥ ७८६ ॥ प्रकर्षोऽथ मुदा प्राह साधु मामेन भाषितम् । वसन्ते हि भवत्येव सौन्दर्यं जगतोऽधिकम् ॥ ७८७ ॥ एवं च यावदाख्याति बुद्धिभूर्बुद्धिबन्धवे । तावत्तन्नगराधीशश्चतुरङ्गचमूवृतः ॥ ७८८ ॥ सिन्धुरस्कन्धमारूढो मधूत्सवदिदृक्षया । लोलाक्षो नाम भूपालः पुरादुद्यानमाययौ ॥ ७८९ ॥ युग्मम् ॥ तस्मिंस्तत्र च संप्राप्ते विशेषोद्भूतया मुदा । जनाः किं किं न कुर्वन्ति महामोहादिनाटिताः ? ॥ ७९० ॥ तादृशांस्तानथालोक्य नानाव्यापारनिर्भरान् । तद्व्यापारेक्षणप्रह्वं प्रकर्षं प्राह मातुलः ॥ ७९१ ॥ त एते देहिनो बाह्यास्तात ! यद्विषयो मया । प्रतापो वर्णितः पूर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥ ७९२ ॥ प्रकर्षः प्राह केनाऽऽर्य ! वृत्तान्तेनेह कस्य वा । नृपस्यैते प्रतापेन विचेष्टन्ते जना इति

१ कामदेवस्य । २ शस्त्राभ्यासस्थानमिव । ३ भवचक्रस्य । ४ लोकस्या० ग० ।

॥७९३॥ विमर्शोऽपि विनिश्चित्य निश्चलेनान्तरात्मना । परमार्थमथ प्रोचे समाकर्णय सुन्दर ! ॥७९४॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां महामोहस्य पर्षदि । निविष्टो विष्टरे दृष्टो यस्त्वया मकरध्वजः ॥ ७९५ ॥ तस्य प्रियवयस्योऽयं वसन्तः शिशिरे गते । गतो बभूव तन्मूले सुखं तेन सह स्थितः ॥ ७९६ ॥ देव्याः कालपरिणतेर्वसन्तोऽनुचरो ह्ययम् । ततः स्वप्रियमित्रं तमित्यूचे मकरध्वजम् ॥ ७९७ ॥ स्वस्वामिन्या निदेशेन प्रियमित्र ! मयाधुना । नगरे मानवावासे भवचक्रान्तरस्थिते ॥७९८॥ प्रयातव्यमतो हेतोर्भवतो दर्शनेच्छया । इहागममहं भाविवियोगातङ्ककातरः ॥७९९॥ युग्मम् ॥ ततः प्रमुदितस्वान्तो जगाद मकरध्वजः । सखे ! वसन्त ! नन्वेतद्विस्मृतं भवतः किमु ? ॥८००॥ वीतवर्षे सहाऽऽवाभ्यां यत्तत्र क्रीडितं पुरे । येनैवं खिद्यसे भाविविरहव्यथिताशयः ॥ ८०१ ॥ (युग्मम्) ॥ यतो यदा यदा यत्र पुरे यानाय तेऽभवत् । देव्यादेशो महामोहमहीपालस्तदा तदा ॥ ८०२ ॥ मह्यमप्येष तत्रैव पुरे राज्यं वितीर्णवान् । तदियं विरहाशङ्का तवास्थानेऽभवत्कथम् ? ॥ ८०३ ॥ युग्मम् ॥ वसन्तः प्राह साध्वस्मि वचसाश्वासितोऽमुना । नूनं विस्मृत एवासीद् वृत्तान्तोऽयं ममान्यथा ॥८०४॥ तदिदं सुन्दरं जातं सांप्रतं तु व्रजाम्यहम् । भवद्भिस्तूर्णमागम्यमित्युक्त्वा प्रचचाल सः ॥ ८०५ ॥ विजयोऽस्त्विति मित्रेणोदितः सोऽत्राययौ पुरे । वसन्तोऽदर्शयच्चैवं वनादौ स्फूर्जितं निजम् ॥८०६॥ मकरध्वजोऽपि विषयाभिलाषाद् व्यजिज्ञपत् । रागकेशरिणं तस्माच्च महामोहभूपतिम् ॥८०७॥ विधायानुग्रहं देव ! पाल्यतां सा चिरन्तनी । स्थितिर्मे मानवावासराज्यदानेन साम्प्रतम् ॥ ८०८ ॥ वसन्तयानावसरे देवपादैर्यतो मम । कृतपूर्वोऽस्ति तद्राज्यप्रसादः प्रतिवत्सरम् ॥ ८०९ ॥

ततो जातु न लोप्यैव भृत्यानां विहिता स्थितिः । प्रभुभिः प्रतिपन्नैकप्रतिपालनतत्परैः ॥ ८१० ॥ राजापि प्रतिपन्नं तत्संस्मृत्याऽचलजल्पितः । निजास्थानस्थितान्सर्वानुर्वीशानब्रवीदिति ॥ ८११ ॥ भो ! भो ! निशम्यतां भूपाः ! राज्यं देयं मयाधुना । मकरध्वजायामुष्मै मानवावासपत्तने ॥ ८१२ ॥ अस्य राज्याभिषेकाय युष्माभिरखिलैरपि । आगन्तव्यं ततस्तत्र विधेया चास्य पत्तिता ॥८१३॥ राज्यकार्याणि कार्याणि यथार्हं च स्वचिन्तया । महत्तमत्वमेतस्य राज्ये कार्यं मयापि हि ।'८१४ ॥ तथेत्यङ्गीकृते तत्र शासने शिरसाथ तैः । प्रसन्नः पृथिवीनाथः प्रोवाच मकरध्वजम् ॥ ८१५ ॥ भद्र ! त्वयापि नो राज्यस्थितेनैश्वर्यदर्पतः । हार्यं यथार्हमाभाव्यं तत्रामीषां महीभुजाम् ॥ ८१६ ॥ दृश्याः सर्वेऽप्यमी पूर्वगौरवेणाथ सोऽवदत् । यदादिशति देवोऽथ सर्वेऽप्यत्रायायुः पुरे ॥८१७॥ अभ्यषिच्यत तैश्चात्र राज्येऽसौ मकरध्वजः । यथार्हं प्रतिपन्नश्च तन्नियोगः परैरपि ॥ ८१८ ॥ मकरध्वजराजोऽथ प्रतापाक्रान्तशात्रवः । बाह्यमेनं महीपालं लोलाक्षं सपरिच्छदम् ॥ ८१९ ॥ जित्वैवं स्वौजसोद्याने नगरान्निरवासयत् । वराको लक्षयत्येष न तु स्वं तेन निर्जितम् ॥ ८२० ॥ युग्मम् ॥ वृत्तान्तेन ततोऽनेन विचेष्टन्ते जना अमी । महामोहादियुक्तस्य प्रतापादस्य भूभुजः ॥ ८२१ ॥ जामेयः प्राह कुत्रास्ति सांप्रतं मकरध्वजः । मातुलः प्राह पार्श्वस्थ एवायं नाटयत्यमून् ॥ ८२२ ॥ स कस्मान्नेक्ष्यते तर्हि प्रकर्षेणेति भाषितः । विमर्शोऽवोचदाख्यातमेव पूर्वं मया तव ॥ ८२३ ॥ यथान्तरजनाः कर्तुमन्तर्द्धानं विदन्ति ते । परदेहप्रवेशं च सदा कुर्वन्ति योगिवत् ॥ ८२४ ॥ ततोऽमीषां जनानां ते शरीरेषु कृताश्रयाः । इदं प्रेक्षणकं भद्र ! प्रेक्ष्य(क्ष)न्ते जितकाशिनः ॥८२५॥

प्रकर्षः प्राह मामस्तान्कथं पश्यत्यथाह सः। पश्यामि विमलालोकयोगाञ्जनबलादहम् ॥ ८२६ ॥ जामेयोऽथ जगादैवं ममाप्यार्य ! विधीयताम्। प्रसादस्तत्प्रदानेन वीक्षेऽहमपि येन तान् ॥ ८२७ ॥ तेनाञ्जित्वाऽञ्जनेनाथ विमर्शस्तद्विलोचने। विलोकयाधुना लोकहृदयानीत्युवाच तम् ॥ ८२८ ॥ तान्यालोक्य प्रकर्षोऽपि सहर्षः प्राह दृश्यते। राज्यं कुर्वन्मयाप्येष सांप्रतं मकरध्वजः ॥८२९॥ तथाह्येष जनानेतान् भित्त्वा भित्त्वा शिलीमुखैः। हसत्युच्चैरयं माम ! सह रत्या प्रमोदभाक् ॥ ८३० ॥ महामोहादयोऽप्येते व्यापारं स्वं पृथक् पृथक्। प्रयुञ्जाना जनेष्वेषु मोदन्ते सुतरामिह ॥ ८३१ ॥ तदहं कृतकृत्योऽस्मि जगदाश्चर्यदर्शकः। यस्य त्वं माम ! संपन्नः पृच्छाश्यद्यापि किन्त्वदः ॥ ८३२ ॥ ते महामोहहासाद्या दृश्यन्तेऽस्यान्तिकस्थिताः। ननु द्वेषगजेन्द्राद्यास्तत्ते किमिह नागताः ? ॥ ८३३ ॥ विमर्शः प्राह तेऽप्यत्रागताः किन्तु पुरापि ते। आख्यातमन्तरङ्गास्ते यज्जनाः कामरूपिणः ॥ ८३४ ॥ ततो द्वेषगजेन्द्राद्यास्तिरोभूयात्र ते स्थिताः। सेवावसरमीक्षन्ते मकरध्वजभूभुजः ॥ ८३५ ॥ महामोहादयस्त्वेते प्राप्तसंसेवनक्षणाः। आविर्भूता नृपास्थाने स्वं नियोगं प्रकुर्वते ॥८३६॥ जामेयः प्राह यद्येवं चित्तवृत्तौ ततोऽधुना। शून्यीबभूव किं माम ! स महामोहमण्डपः ? ॥ ८३७ ॥ व्याजहार विमर्शोऽथ नैतदेवं गुणालय !। सर्वेऽप्याभ्यन्तरा लोकाः किन्त्वमी कामरूपिणः ॥ ८३८ ॥ ततः समागताः सर्वेऽप्यमी राज्येऽत्र यद्यपि। तथापि तन्महामोहास्थानमास्ते तथैव हि ८३९ ॥ किञ्च नित्यं जगद्व्यापि तन्महामोहभूभुजः। राज्यमस्य त्विहैवेदं

१ स्वनि० क० ख०, ग० घ०।

कतिचिद्दिनभावि च ॥८४०॥ महामोहो यतः पूर्वस्थितिपालनकौतुकी । अत्रैवं मधु (?) दत्तेऽस्य स्वपत्तेरपि वैभवम् ॥ ८४१ ॥ ततोऽचलं तदास्थानं तत्रस्था एव खल्वमी । दृश्यन्तेऽत्र प्रकर्षोऽथ प्राह मे संशयोऽनशत् ॥ ८४२ ॥ अत्रान्तरे च लोलाक्षः स राजोत्तीर्य कुञ्जरात् । वनान्तश्चण्डिकागारे जगाम जनसंयुतः ॥ ८४३ ॥ तां मद्यादिभिरभ्यर्च्य तस्याः परिसरे पुरः । निषसाद च [2]मैरेयपानाय सपरिच्छदः ॥ ८४४ ॥ तत्राथ मद्यभाण्डेषु समानीतेषु ते जनाः । सुवर्णचषकैर्मद्यं सर्वेऽपि मुदिताः पपुः ॥ ८४५ ॥ स्वेच्छं तस्मिन्निपीते च मदापहृतचेतसः । गाननर्त्तनदानादि लोकाः किं किं न कुर्वते ? ॥ ८४६ ॥ इतश्च तस्य लोलाक्षनृपतेर्लघुसोदरः । रिपुकम्पननामास्ति युवराजो महाभुजः ॥ ८४७ ॥ तेनाथ मदमूढेन कार्याकार्यमजानता । स्वप्रिया रतिललिता नृत्य नृत्येत्यभाष्यत ॥ ८४८ ॥ गुरूणां लज्जमानापि भर्तुरादेशमक्षमा । अतिलङ्घयितुं साथ प्रवृत्ता नर्तितुं पुरः ॥ ८४९ ॥ नृत्यन्तीं तां च लोलाक्षः पश्यन्नाक्षिप्तमानसः । मकरध्वजराजेन निहतो निशितैः शरैः ॥ ८५० ॥ इतश्चापानके लोकाः पीतभूरि[3]परिश्रु(स्रु)तः । नष्टचेष्टा महीपृष्ठे लुलुठुर्ग्रहिला इव ॥ ८५१ ॥ प्रवृत्तच्छर्दिसंजाताशुचिकर्दमपिच्छले । तत्रोपेत्य मुखान्येषां लिलिहुः काककुकुराः ॥ ८५२ ॥ मदातिशयतः सुप्ते कनीयस्यथ तत्प्रियाम् । लोलाक्षोऽचलदाश्लेष्टुं महामोहादिनोदितः ॥ ८५३ ॥ प्रसारितभुजादण्डमापतन्तं विलोक्य तम् । तद्भावं लक्षयामास युवराजप्रियापि सा ॥ ८५४ ॥ संजातसाध्वसा साथ विलीनमदिरा-

१ ०वाम० क० ख० ग० घ० । २ मदिरापानार्थम् । ३ ०मदिराः ।

मदा । नंष्टुं प्रवृत्ता लोलाक्षस्तां जग्राह हठादपि ॥ ८५५ ॥ स्वं विमोच्य प्रयान्ती सा तेनाऽऽत्ता पुनरेव सा । विमोच्य चण्डिकापृष्ठे तस्थौ गत्वा तदौकसि ॥ ८५६ ॥ तदा चाविरभूद् द्वेषगजेन्द्रो राजशासनात् । सहाऽपत्यैस्तं च वीक्ष्य प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥ ८५७ ॥ स एष वीक्ष्यते द्वेषगजेन्द्रो माम ! सोऽवदत् । जातोऽस्यावसरः पश्य ! स्फूर्तिमस्य ततोऽधुना ॥ ८५८ ॥ ततो द्वेषगजेन्द्रेण लोलाक्षोऽभाजि सोऽप्यथ । दध्यौ यन्मारयाम्येनां पापामिच्छति या न माम् ॥ ८५९ ॥ ध्यात्वेति खड्गमाकृष्य गत्वा चाऽऽयतनान्तरं । चण्डिकां दारयामास मदान्धस्तद्भ्रमेण सः ॥ ८६० ॥ नंष्ट्वा बहिः समागत्य युवराजप्रिया तु सा । रक्ष रक्षार्यपुत्रेति पूच्चकार भयातुरा ॥ ८६१ ॥ पूत्कारं च तमाकर्ण्य प्रबुद्धो रिपुकम्पनः । प्रिये ! तव कुतो भीतिरिति पप्रच्छ संभ्रमात् ॥ ८६२ ॥ कथिते च यथावृत्ते तया लोलाक्षचेष्टिते । सोऽपि द्वेषगजेन्द्रेण तत्क्षणं समधिष्ठितः ॥ ८६३ ॥ सतिरस्कारमाहूते ज्येष्ठे तेन रणाय च । उदस्त्रशस्त्राः[1] सुभटाः सर्वतः प्रदधाविरे ॥ ८६४ ॥ आकर्ण्य क्षुभिताशेषलोककोलाहलं ततः । चतुरङ्गं तयोः सैन्यं संनह्य द्रुतमाययौ ॥ ८६५ ॥ ततश्चाज्ञातवृत्तान्ता रोषारुणविलोचनाः । मिथो युयुधिरे योधाः सैन्ययोरुभयोरपि ॥ ८६६ ॥ संजातेऽनेकलोकानां प्रलयेऽथ सहोदरौ । युयुधाते मदान्धौ तावुभावपि मिथः स्वयम् ॥ ८६७ ॥ सुचिरं करवालेन युद्ध्वाथ रिपुकम्पनः । गाढामर्षान्महौजस्वी लोलाक्षं निजघान तम् ॥ ८६८ ॥ जाते च विप्लवे घोरे तौ जामिसुतमातुलौ । नगरान्तरनिराबाधस्थाने गत्वा च तस्थतुः ॥ ८६९ ॥ विमर्शः प्राह

[1] उदस्तश० क० ख० ।

माहात्म्यं दृष्टं द्वेषगजेन्द्रजम् ?। प्रकर्षोऽभिदधे सुष्ठु दृष्टं यच्चावतामभूत् ॥ ८७० ॥ विलासानामीदृशोऽन्तस्ततः प्रोवाच मातुलः। इदृगेव भवेद्भद्र ! पर्यन्तो मद्यपायिनाम् ॥ ८७१ ॥ युग्मम् ॥ मद्यं यस्मान्मतिध्वंसि मद्यं कलिनिबन्धनम्। मद्यं सर्वापदां मूलं मद्यं दुर्गतिकारणम् ॥ ८७२ ॥ किञ्च पापधियो मद्ये पारदार्ये च ये रताः। तेषामेवंविधानर्था भवन्त्याश्चर्यमत्र किम् ? ॥ ८७३ ॥ एवमेतदिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ मातुलः। तेन सार्द्धं पुरे तत्र निनायाऽहानि कत्यपि ॥ ८७४ ॥ अन्यदा नगरे तत्र भूपालभवनान्तिके। पुमांसमेकमालोक्य प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥८७५॥ स एष दृश्यते मिथ्याभिमानो माम ! यः किल। राजसचित्तनगरे पुरावाभ्यां विलोकितः ॥८७६॥ मातुलोऽभिदधे भद्र ! सोऽयं तत्र स्थितोऽपि हि। कामरूपितया राजादेशादत्राप्युपाययौ ॥ ८७७ ॥ क्व सांप्रतमयं माम ! यातीति स्वसृजन्मना। पृष्टः पुनरभाषिष्ट विमर्शः शृणु सुन्दर ! ॥ ८७८ ॥ कानने यस्त्वया तत्र ददृशे रिपुकम्पनः। हते तस्मिन्स लोलाक्षेऽधुना राज्येऽभ्यषिच्यत ॥ ८७९ ॥ तस्य चैतत्पुरः सौधमतो हेतोः कुतोऽपि हि। अस्मिन्मिथ्याभिमानोऽयं विविक्षुरिव लक्ष्यते ॥ ८८० ॥ ममापि दर्श्यतामेतन्नृपधामेति भावितः। प्रकर्षेण विमर्शोऽथ ययौ तत्र सहामुना ॥ ८८१ ॥ इतश्च तस्मिन्समये रिपुकम्पनभूपतेः। देवी मतिकलिताख्या द्वितीया सुषुवे सुतम् ॥ ८८२ ॥ जाते च दारके तस्मिन्नुपयाचितकोटिभिः। प्रातः पद्ममिवात्यन्तं विरेजे राजमन्दिरम् ॥८८३॥ हर्षावेशत्वरायानकम्पमानपयोधरा। गत्वा राज्ञेऽथ चेट्येका पुत्रजन्म न्यवेदयत् ॥८८४॥ प्रविश्यात्रान्तरे मिथ्याभिमानो नृपसद्मनि। रिपुकम्पनभूभर्तुः शरीरं द्रागशिश्रियत् ॥८८५॥ अमन्दानन्दसंभूतपुलकोद्भेददन्तुरः।

ततः स चिन्तयामास भूपतिर्निजचेतसि ॥ ८८६ ॥ अहो ! कृतार्थो जातोऽहमहो ! मम कुलोन्नतिः । अहो ! मे भाग्यसंपत्तिरहो कल्याणसंहतिः ॥८८७॥ अहो ! राज्यमहो ! सौख्यमहो ! सिद्धं समीहितम् । यदपुत्रस्य मेऽद्याभूत्पुत्रोऽयं कुलनन्दनः ॥८८८॥ युग्मम् ॥ एवं स चिन्तयंश्चित्ते विपर्यासितमानसः । न माति देहे न गेहे न पुरे न जगत्यपि ॥८८९॥ निवेदिकायै दत्त्वाथ स तस्यै पारितोषिकम् । नगरे कारयामास सुतजन्ममहोत्सवम् ॥८९०॥ तस्मिन्महोत्सवे वाद्यमाने वर्द्धनके मुदा । स्वयमूर्द्ध्वभुजोऽनृत्यन्नृपतिः सपरिच्छदः ॥ ८९१ ॥ दृष्ट्वा वर्द्धनकं तच्च नृत्यन्तं तं च भूपतिम् । जामेयो मातुलं प्रोचे कौतुकोत्तानलोचनः ॥ ८९२ ॥ नरा नार्यश्च मामैते मृत्तिकाभारमालिनः । किमेवं खेदयन्ति स्वं रटनोच्छलनादिभिः ॥ ८९३ ॥ अयं च पार्थिवः किं वा बालानामपि हास्यकृत् । सोल्लासमुल्ललन्नेवं करोत्यात्मविडम्बनम् ? ॥ ८९४ ॥ विमर्शः प्राह यो मिथ्याभिमानो नृपमन्दिरे । पश्यतस्ते प्रविष्टोऽत्र तस्यैतत्तात ! जृम्भितम् ॥ ८९५ ॥ पिशाचेनेव तेनाऽमी समधिष्ठितविग्रहाः । यतो विडम्बयन्त्येवमात्मानं भ्रान्तचेतसः ॥८९६॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽस्य नृपतेरयम् । मिथ्याभिमानो वैरी यः सलोकं नाटयत्यमुम् ॥८९७॥ ततश्चेत्थमनेनोच्चैः पराभूतस्य वैरिणा । रिपुकम्पनता कीदृगेतस्य जगतीपतेः ? ॥८९८॥ विमर्शोऽप्यभ्यधादेष न भावरिपुकम्पनः । बहिर्वैरिषु शूरत्वादयं किन्तु तथोच्यते ॥८९९॥ बहिर्वैरिषु शूरोऽपि जगत्यत्र न कश्चन । विना ज्ञानमलम्भूष्णुर्जेतुमान्तरवैरिणः[1] ॥ ९०० ॥ अयं तु भूपतिर्ज्ञानलेशेनापि विवर्जितः । इत्थं

१ °देष किन्तु क० ख० ग० घ० ।

मिथ्याभिमानेनातुच्छं वत्स ! विडम्ब्यते ॥ ९०१ ॥ एवं च यावदाख्याति विमर्शो बुद्धिजन्मने । तावद्राजकुलद्वारे[1] नरौ द्वौ समुपेयतुः ॥९०२॥ तौ वीक्ष्य प्राह जामेयः काविमौ माम ! पूरुषौ ? । स प्राह मतिमोहेन युक्तः शोकोऽयमागतः ॥ ९०३ ॥ अत्रान्तरे च करुणपूत्काराराबदुःश्रवः । समुल्ललास सहसा तुमुलः सूतिकागृहे ॥ ९०४ ॥ तं निशम्य क्षितीशोऽथ निषिद्धनिखिलोत्सवः । यावत्तिष्ठति संभ्रान्तः किमेतदिति चिन्तयन् ॥९०५॥ [2]हाहारवं प्रकुर्वाणाः सम्भ्रमोद्भ्रान्तलोचनाः । चेट्यः सत्वरमागत्य तावत्तस्मै न्यवेदयत् ॥९०६॥ युग्मम्॥ त्रायस्व देव ! त्रायस्व कुमारो भग्नलोचनः । जज्ञे कण्ठगतप्राणस्ततो धावत धावत ॥ ९०७ ॥ ततो वज्राहत इवाभवद्राजा तथाप्यसौ । सत्त्वमालम्ब्य सपरिच्छदोऽगात्सूतिकागृहे ॥ ९०८ ॥ स्वाङ्गतेजोदुरालोकं सर्वलक्षणलक्षितम् । तत्र कण्ठगतप्राणं दारकं तं ददर्श च ॥ ९०९ ॥ ततो वैद्यान्समाहूय नृपः पप्रच्छ किन्त्विति । तेऽप्याख्यन्देव ! जज्ञे स कुमारस्य महागदः ॥ ९१० ॥ येन नो मन्दभाग्यानां पश्यतामेव सत्वरम् । कुमारो ह्रियते लग्नः प्रदीप इव वायुना ॥ ९११ ॥ नृपः प्रोचेऽथ भो लोकाः ! यो जीवयति मत्सुतम् । तस्मै राज्यं प्रयच्छामि पदातिश्च भवाम्यहम् ॥ ९१२ ॥ तच्छ्रुत्वा भेषजाद्येषु जनैः सर्वादरेण तैः । प्रयुक्तेष्वपि पञ्चत्वं प्राप भूपसुतः क्षणात् ॥९१३॥ अत्रान्तरे समागत्य सपरिच्छदयोस्तयोः । राजराज्योर्मतिमोहशोकाभ्यां शिश्रिये वपुः ॥ ९१४ ॥ ततो हा जात! हा जात ! हताः स्म इति भाषिणौ । तौ मूर्च्छामापतुर्दुःखात्प्राणैर्भूपस्त्वमुच्यत ॥ ९१५ ॥ ततो हाहारवारा-

१ द्वारं नरौ ग० । २ एतत्पद्यं क० ख० ग० घ० प्रतिषु नास्ति ।

टिशीर्षोरस्ताडभैरवः । महाक्रन्दरवो जज्ञे नृणां स्त्रीणां च सर्वतः ॥९१६॥ आक्रन्दन्त्यो लुलत्केशाः स्वाघातैर्भग्न-कङ्कणाः । लुलुठुश्च महीपीठे रिपुकम्पनयोषितः ॥९१७॥ दृष्ट्वेदृग् बुद्धिजः प्राह किमेतैः पूर्वनर्त्तनम् । हित्वा लोकैः क्षणान्माम ! प्रारेभे नर्त्तनान्तरम् ॥ ९१८ ॥ विमर्शः प्राह यौ शोकमतिमोहौ त्वयाऽनघ ! । दृष्टौ विशन्तौ सौधेऽत्र तयोरेतद्विजृम्भितम् ॥९१९॥ आख्यातं च मया तुभ्यं यदेते बाह्यदेहिनः । स्वतन्त्रा नैव कुर्वन्ति कर्म्म किञ्चन जातुचित् ॥९२०॥ किन्त्वान्तरजना एते कारयन्ति यथा यथा । सुन्दरासुन्दरं कर्म्म कुर्वन्त्येते तथा तथा ॥९२१॥ ततो मिथ्याभिमानेन तथैते नाटिताः पुरा । इत्थमाभ्यां पुनः संप्रत्यज्ञानान्धास्तपस्विनः ॥ ९२२ ॥ प्रकर्षः प्राह किं माम ! विरुद्धमिदमीदृशम् । अत्रैव मन्दिरे राज्ञः किञ्चान्यत्रापि विद्यते ? ॥ ९२३ ॥ विमर्शः प्राह निःशेषं भवचक्रमिदं पुरम् । अमुक्तमीदृशैः प्रायो विरुद्धैः संविधानकैः ॥ ९२४ ॥ ततश्च सांप्रतं वत्स ! विषमाहत-डिण्डिमम् । स्वजनस्कन्धमारूढं करुणाक्रन्दभीषणम् ॥ ९२५ ॥ न निर्गच्छत्यदो यावन्मृतकं नृपमन्दिरात् । तावदन्यत्र गच्छावो न युक्तं द्रष्टुमीदृशम् ॥ ९२६ ॥ युग्मम् ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ मातुलः । सार्द्धं तेनाऽऽपणश्रेण्यां ययौ निर्गत्य सौधतः ॥ ९२७ ॥ अत्रान्तरे विदित्वेव पराशुं(०सुं)रिपुकम्पनम् । स्नानार्थं पश्चिमाम्भोधौ निस्तेजाः प्रययौ रविः ॥ ९२८ ॥ अथान्धकारसंहारिदीप्रदीपमनोरमे । प्रदोषे प्रसृते कश्चिन्निविष्टो लीलयाऽऽपणे ॥ ९२९ ॥ पुरस्थरत्नराशीनामुद्योतैर्द्योतिताऽऽपणः । सेव्यमानो वणिक्पुत्रैरिभ्यस्ताभ्यामदृश्यत ॥ ९३० ॥ युग्मम् ॥ तं वीक्ष्य स्वसृभूः प्राह किमसौ माम ! वाणिजः । दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्वरत्नानि हृष्टः स्तब्धश्च

१ ०न्धः प्रजायते ग० ।

जायते ? ॥ ९३१ ॥ किं वा निर्मलनेत्रोऽपि मन्दमुन्क्षूर्विलोक्यते । किं वा बाधिर्यहीनोऽपि न शृणोत्यर्थिनां वचः ॥९३२॥ विमर्शोऽभिदधे मिथ्याभिमानस्य वयस्यकः । धनगर्वोऽस्ति तेनाधिष्ठितोऽयमिति चेष्टते ॥९३३॥ प्रकर्षो व्याहरन् माम ! दृष्टो यः पञ्चमः[1] पुरा । रागकेशरिडिम्भेषु सविधेऽस्य स दृश्यते ॥ ९३४ ॥ विमर्शोऽभिदधे सत्यमेतदेष स एव हि । तदा चाभ्यर्णमिभ्यस्य पुरुषः कश्चिदाययौ ॥ ९३५ ॥ याचिताऽऽसादितैकान्तस्ततस्तस्येश्वरस्य सः । अनर्घ्यरत्नघटितं मुकुटं समदर्शयत् ॥९३६॥ तद् दृष्ट्वा पुरुषं तं चोपलक्ष्यैष व्यचिन्तयत् । अयं हेमपुराधीशबिभीशणमहीपतेः ॥९३७॥ पदातिर्दुष्टशीलश्चानेनेदं तद् ध्रुवं हृतम् । तदा चास्य प्रविष्टोऽङ्गे रागकेशरिनन्दनः ॥ ९३८ ॥ युग्मम् ॥ तत्प्रभावाच्च भूयोऽपि महेभ्यः स व्यचिन्तयत् । हृतं भवतु नामैतन्मया ग्राह्यं तथापि हि ॥ ९३९ ॥ ध्यात्वेत्यस्योचितं मूल्यं दत्त्वेभ्यो मौलिमग्रहीत् । नष्टेऽस्मिन्नागमत् तत्र विभीषणबलं ततः ॥ ९४० ॥ कुतश्चिद्विक्रयोदन्तं प्राप्याथ बलपूरुषैः । स सलोप्त्रो वणिग्दध्रे लूपितौ च गृहाऽऽपणौ ॥ ९४१ ॥ ते च सर्वे वणिक्पुत्राः स्वजनाश्चापरेऽपि हि । नेशुर्दिशोदिशं भीताः को वा स्यादापदि स्थिरः ? ॥९४२॥ वाणिजः स पुनर्बद्ध्वा खरारूढः सलोप्त्रकः । स्वपुराभिमुखं निन्ये दीनस्तैर्नृपपूरुषैः ॥ ९४३ ॥ नीयमानं तथा तं च विलोक्य प्राह बुद्धिभूः । किमिदं सहसा माम ! बभूवाद्भुतमीदृशम् ? ॥९४४॥ यदेतस्य क्षणादेव वाणिजस्य न तद्धनम् । न ते लोका न सा लीला न स गर्वो न तन्महः ॥ ९४५ ॥ विमर्शोऽवददीदृश्यो भवन्त्येवापदोऽङ्गिनाम् । धनगर्वेण

१ अनन्तानुबन्धिलोभः ।

लोभेन चात्यन्तं विजितात्मनाम् ॥ ९४६ ॥ किञ्चास्य वणिजस्तात ! तावद् दुर्नयदोषतः । इदमित्थं हृतं वित्तमेतैर्नृपतिपूरुषैः ॥ ९४७ ॥ इहान्येषां पुनः सौम्य ! वित्तं न्यायवतामपि । यात्येव राजदायादस्तेनाम्भःपावकादिभिः ॥ ९४८ ॥ अत एवोष्णसंतप्तविहङ्गगलचञ्चले । गर्वं लोभं च न द्रव्ये कुर्वन्ति स्वच्छबुद्धयः ॥ ९४९ ॥ वपन्ति किन्तु सत्पात्रक्षेत्रेष्वेते निरन्तरम् । वित्तबीजं नयोपात्तं निःश्रेयसफलार्थिनः ॥ ९५० ॥ वित्तस्यास्य यतो वत्स ! दानमेवोत्तमा गतिः । भोगस्तु मध्यमा प्रोक्ता नाशः सर्वाधमा पुनः ॥ ९५१ ॥ अत्रान्तरे नरः कश्चिद् युवा जर्जरचीवरः । दुर्बलो मलिनस्ताभ्यां दृष्टो विपणिवर्त्मनि ॥ ९५२ ॥ आपणे रूपकैः कैश्चित्सोऽथ जग्राह मोदकान् । गन्धान् पुष्पाणि ताम्बूलं वरवस्त्रयुगं तथा ॥ ९५३ ॥ आसन्नायां ततो वाप्यां स्नात्वा भुक्त्वा स मोदकान् । वासयित्वा वपुर्गन्धैर्न्यधात् पुष्पाणि मूर्द्धनि ॥ ९५४ ॥ ततस्ताम्बूलमादाय परिधाय च वाससी । प्रतस्थे लीलया क्वापि पश्यन्नङ्गं पुनः पुनः ॥ ९५५ ॥ तं विलोक्याथ जामेयः प्रोचे माम ! युवैष कः ? । इत्थं विकारबहुलः सांप्रतं प्रस्थितः क्व वा ? ॥ ९५६ ॥ विमर्शोऽथावदत् वत्स ! वास्तव्योऽत्रैव पत्तने । समुद्रदत्तस्येभ्यस्य सुतोऽयं रमणाभिधः ॥ ९५७ ॥ इतश्चास्ति पुरेऽत्रैव वेश्या मदनमञ्जरी । तस्याश्च कुन्दकलिका दुहिता नवयौवना ॥ ९५८ ॥ तस्यामासक्तचित्तेनामुना जनकमन्दिरम् । रिक्तं चक्रे धनाधीशधामोपममपि द्रुतम् ॥ ९५९ ॥ ततो वित्तविहीनत्वात् वेश्ययाप्युज्झितस्तया । परकर्मकरो दीनः समभूदयमीदृशः ॥९६०॥ उपार्ज्य कथमप्यद्य कतिचिद्रूपकान्पुनः । अयमत्राधुना वत्स ! विपणि-

श्रेणिमाययौ ॥ ९६१ ॥ ततः परं यदेतेन चक्रे दृष्टं त्वयापि तत् । रन्तुं तां कुन्दकलिकां संप्रति प्रस्थितः पुनः ॥ ९६२ ॥ अत्रान्तरे सतूणीरमाकृष्टविशिखं नरम् । कश्चित्सानुचरं वीक्ष्य संभ्रान्तः प्राह बुद्धिजः ॥ ९६३ ॥ हा माम ! माम ! पश्येमं शरेण रमणं नरः । कश्चिदेष निहन्त्युच्चैस्तदेनं ननु वारय ॥ ९६४ ॥ विमर्शोऽभिदधे सौम्य ! स एष मकरध्वजः । सार्द्धं भयेन शर्वर्यां निर्यातो वीरचर्यया ॥ ९६५ ॥ अनेनैव वराकोऽयं नीयते तद्गृहं ततः । किं वारणेन ? यच्चैषोऽनुभवेत् तद् विलोकय ॥ ९६६ ॥ एवमस्त्विति तेनोक्ते तौ गतौ गणिकागृहे । निविष्टा कुन्दकलिका गृहद्वारे च वीक्षिता ॥ ९६७ ॥ तां विलोक्य विमर्शोऽथ विदधे मुखमोटनम् । निष्ठीवनं शिरःकम्पं नासिकाच्छादनं तथा ॥ ९६८ ॥ ततो हा ! हेति जल्पन्तमुद्विग्नं च विलोक्य तम् । प्रकर्षः प्राह किं माम ! त्वं जुगुप्ससि ? सोऽवदत् ॥ ९६९ ॥ वस्त्रालङ्कारसंच्छन्नां पश्यस्यशुचिकोष्ठिकाम् । किमिमां निकटे न त्वं येनैवं वत्स ! पृच्छसि ? ॥ ९७० ॥ निश्छिद्रापि भवेत् काचिदशुचेरपि कोष्ठिका । इयं तु नवभिश्छिद्रैः क्षरत्यविरतं मलम् ॥ ९७१ ॥ तदहं क्षणमप्येकं नात्रावस्थातुमुत्सहे । तुभ्यं शंपे[1] शिरोऽमुष्या गन्धेन मम दुष्यति ॥९७२॥ प्रकर्षो व्याहरन्माम ! सत्यमेतन्ममापि यत् । नासिकाव्यापिगन्धेनामुनाभूदरतिस्तथा ॥९७३॥ ततोऽपसृत्य तौ दूरदेशेऽस्थातामथागमत् । रमणस्तत्र तं चानु सभयो मकरध्वजः ॥ ९७४ ॥ प्रत्युज्जीवितवत् प्राप्तनिधिवत् लब्धराज्यवत् । दृष्ट्वाथ कुन्दकलिकामवाप रमणो मुदम् ॥९७५॥ ततो मदनमञ्जर्या तत्सकिञ्चनता-

---

१ वदामि ।

विदा। संज्ञिता कुन्दकलिका तमपश्यत् कृतस्मिता ॥ ९७६ ॥ तदा च लब्धावसरः शरेण मकरध्वजः। आकर्णं धनुराकृष्य ताडयामास तं हृदि ॥ ९७७ ॥ ततस्तां रमणः कण्ठे गृहीत्वाभ्यन्तरेऽविशत्। तेनार्पितं च सर्वस्व-मादान्मदनमञ्जरी ॥ ९७८ ॥ तमूचे च कृतं साधु त्वयाऽसि यदिहागतः। यत्सदा कुन्दकलिका वत्सा त्वयि समुत्सुका ॥ ९७९ ॥ किन्तु [1]भीममहीपालसुतश्चण्डाभिधोऽधुना। वर्त्ततेऽत्राजिगमिषुस्तत् त्वं लीनो भव क्षणम् ॥ ९८० ॥ [2]तदैव चागते द्वारि चण्डेऽभूत् तुमुलो महान्। तं चाकर्ण्य भयोऽत्यन्तं भेजे रमणविग्रहम् ॥ ९८१ ॥ सोऽथ चण्डः प्रविष्टोऽन्तः कम्पमानशरीरकम्। ददर्श रमणं रोषात् क्षुरिकामाचकर्ष च ॥ ९८२ ॥ तं वीक्ष्य रमण-स्तस्य न्यपतत् पदयोर्भिया। ब्रुवंश्च रक्ष रक्षेति मुखेऽक्षैप्सीत् कराङ्गुलीः ॥९८३॥ चण्डस्याप्यथ संजज्ञे तस्योपरि मनाक् कृपा। क्रोधावेशवशात् किन्तु तस्य धम्मिलमच्छिदत् ॥ ९८४ ॥ गण्डौष्ठनासिकाकर्णं छित्त्वाकृष्यैकमक्षि च। प्रपात्य पार्ष्णिघातैश्च दन्तांस्तं चाक्षिपद्बहिः ॥९८५॥ कुट्टिनीकुन्दकलिके प्रोच्चैरहसतां च ते। पेशलैर्वचनै-श्चण्डं रञ्जयामासतुश्च तम् ॥ ९८६ ॥ रमणोऽपि विनिर्गच्छन् कुट्टितश्चण्डपत्तिभिः। अनुभूय महद् दुःखं प्राप कृच्छ्रेण पञ्चताम् ॥ ९८७ ॥ प्रकर्षोऽथावददहो! मकरध्वजविक्रमः। अहो! भयविलसितमहो! वेश्याप्रतारणम् ॥ ९८८ ॥ साधूनां करुणास्थानमितरेषां तु हास्यकृत्। अहो! बभूव चरितं रमणस्यास्य कीदृशम् ॥ ९८९ ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र! गणिकासक्तचेतसाम्। भवन्त्येवंविधान्येव चरितानि शरीरिणाम् ॥ ९९० ॥ लोभैक-

१ भूमिम० क० ख० ग०। २ तथैव ता०।

तानता शाठ्यं दौःशील्यं चलचित्तता । गणिकानां हि पापानां दोषाः स्वाभाविका अमी ॥ ९९१ ॥ तस्मादेतासु वेश्यासु ये मूढाः सुखकाङ्क्षिणः । रज्यन्ते ते भवन्त्येव विविधानर्थभाजनम् ॥ ९९२ ॥ सत्यमेतदिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ तौ क्वचित् । रात्रिशेषं निराबाधे निन्यतुर्देवतागृहे ॥ ९९३ ॥ अथोदिते सहस्रांशौ विमर्शः प्राह बुद्धिजम् । कौतुकं ते महद्भद्र ! भवचक्रं च विस्तृतम् ॥ ९९४ ॥ स्तोकः कालावधेः शेषो दृश्यं च बहु तिष्ठति । ततो न शक्यते कर्तुमेकैकस्थानदर्शनम् ॥ ९९५ ॥ तदिदं वचनं तात ! मामकीनं समाचर । द्रागेव पूर्यते येन दिदृक्षाकौतुकं तव ॥ ९९६ ॥ य एष वीक्ष्यते तुङ्गः पुरः स्फटिकनिर्मलः । महाप्रभावो विस्तीर्णो विवेको नाम पर्वतः ॥ ९९७ ॥ आरूढैर्दृश्यते भद्र ! समस्तमिह पर्वते । इदं विविधवृत्तान्तं भवचक्रं महापुरम् ॥ ९९८ ॥ तदत्रारुह्यतां तात ! निपुणं च विलोक्यताम् । यच्च न ज्ञायते सम्यक् पृच्छ्यतामेष तज्जनः ॥ ९९९ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते भागिनेयेन तावथ । गिरौ प्रमुदितौ तत्र समारुरुहतुः क्षणात् ॥ १००० ॥ स्वस्रीयोऽथाब्रवीन्माम ! रुचिरोऽयं महागिरिः । दृश्यते सर्वतः सर्वं भवचक्रं मयाधुना ॥ १००१ ॥ किन्तु देवकुले दूरे नग्नश्चिन्तातुरः कृशः । वेष्टितः पुरुषैः क्रूरैः सेटिकाशुभ्रहस्तकः ॥ १००२ ॥ नंष्टुकामो दिगालोकी दीनो मुत्कलकुन्तलः । मान्त्रिकात्तपिशाचाभः कः पुमानेष वीक्ष्यते ? ॥ १००३ ॥ युग्मम् ॥ मातुलोऽभिदधे भद्र ! कुबेरधनिनोऽङ्गजः । धनेश्वराख्यः स्वगुणैस्त्वेष ख्यातः कपोतकः ॥ १००४ ॥ आबाल्यादमुना द्यूतव्यसनासक्तचेतसा । समग्रापि पितुर्लक्ष्मीः क्षयं निन्ये शनैः शनैः ॥ १००५ ॥ ततो द्यूतकृते स्तेयं कुर्वन् विनटितो मुहुः । केवलं मान्यपुत्रत्वाद्राज्ञाऽसौ न विनाशितः ॥ १००६ ॥

रात्रावद्य तु दुर्बुद्धिः परिधानेऽपि हारिते । धूर्त्तैरेभिरयं दीव्यन् विदधे मौलिना ग्लहम् ॥ १००७ ॥ ततोऽयं कितवैः पापैरेभिरादित्सुभिः शिरः । वराकः स्वेच्छया वत्स ! संप्रत्येवं विडम्ब्यते ॥ १००८ ॥ एवं च यावदाख्याति विमर्शो बुद्धिजन्मने । मस्तकं कितवैस्तस्य तावत् त्रोटितमेव तैः ॥ १००९ ॥ अथ जातकृपोत्कर्षः प्रकर्षः समभाषत । हा माम ! पश्य संजज्ञे वराकस्यास्य कीदृशम् ॥ १०१० ॥ जगाद मातुलस्तात ! द्यूतनिस्यूतचेतसाम् । भवत्येवाङ्गिनामीदृक् किमत्र ननु कौतुकम् ॥१०११॥ तावदेव यतः सत्यं साधुता गौरवं धनम् । जीवितं चापि यावन्नो जनो द्यूतेन दीव्यति ॥ १०१२ ॥ अत्रान्तरे हयारूढमुद्गीर्णनिशितायुधम् । क्षुधितं तृषितं श्रान्तमरण्ये वीक्ष्य कञ्चन ॥१०१३॥ प्रकर्षः प्राह को माम ! पापोऽयं जन्तुघातकः । जम्बुकं पुरतः कृत्वा प्रधावत्यथ सोऽब्रवत् ॥१०१४॥ युग्मम् ॥ अत्रैव मानवावासे विद्यतेऽवान्तरं पुरम् । ललितं नाम तस्यायं ललनो नाम पार्थिवः ॥१०१५॥ अयं च दुर्नयः क्रूरो मांसखादनलालसः । पापर्द्धिव्यसनासक्तः प्रकृत्यैवाभवत्सदा ॥१०१६॥ ततश्च राज्यकार्याणि त्यक्त्वाऽयमखिलान्यपि । निघ्नन् जन्तूनदन्मांसं वने तस्थौ दिवानिशम् ॥ १०१७॥ नाभाग्यो राज्ययोग्योऽयमिति ध्यात्वाथ मन्त्रिभिः । राज्यादेष बहिश्चक्रे तत्र संस्थाप्य तत्सुतम् ॥ १०१८ ॥ अयं तु भ्रष्टराज्योऽपि कुर्वाणो मृगयां वने । मांसाशनं च निःशूकस्तथैवास्ते निरन्तरम् ॥१०१९॥ इतस्तदा स ललनो धावमानोऽनुजम्बुकम् । पपातैकत्र गर्त्तायां न्यङ्मुखः सतुरङ्गमः ॥ १०२० ॥ चूर्णिताशेषदेहोऽथ क्षुद्यमानो हयेन च । अत्राणः स रटन्नुच्चैस्तत्रैव

१ पणम् ।

निधनं ययौ ॥ १०२१ ॥ बुद्धिभूरब्रवीदार्य ! संप्रत्येव दुरात्मना । ललनेनामुना प्राप्तं पापर्द्धिव्यसनात् फलम् ॥ १०२२॥ विमर्शः प्राह न फलं पुष्पं जानीहि किन्त्वदः । फलं तु नरके घोराः संप्राप्स्यत्येष वेदनाः ॥१०२३॥ अत्ति मांसं हि जन्तूनां हतानां यः परैरपि । सोऽप्यत्राप्तबहुक्लेशो नरके प्रेत्य गच्छति ॥ १०२४॥ स्फुरन्तं जन्तुसंघातं यस्तु पापः स्वपाणिना। हत्वा तन्मांसमश्नाति किं पुनस्तस्य वक्ष्यते ? ॥१०२५॥ अत्रान्तरे पाट्यमानः क्रूरैरेकत्र पूरुषैः। तप्तं ताम्रं नरः कश्चित्प्रकर्षेण निरैक्ष्यत ॥१०२६॥ हा! माम! किं पुमानेभिर्निर्घृणैरेष पीड्यते?। इति तेनाथ गदितः प्रोचे बुद्धिसहोदरः ॥१०२७॥ अयं तावत्पुमान् वत्स ! मानवावासमध्यगे । वास्तव्यश्चणकपुरे सार्थेशः सुमुखाभिधः ॥ १०२८॥ अयं च बाल्यादारभ्य वाक्पारुष्यव्यसन्यभूत् । ततो दुर्मुख इत्याख्या लोकेऽस्य प्रथिता गुणैः ॥ १०२९॥ इतश्च नगरस्यास्य स्वामी तीव्राभिधो नृपः । संनह्य प्रययौ क्वापि वैरिणां विजिगीषया ॥ १०३०॥ गते तस्मिंश्च भक्तस्त्रीदेशराजकथाप्रियः । प्रारेभे दुर्मुखो राजकथां राजसदस्यसौ ॥ १०३१ ॥ शक्तैस्तैः शत्रुभिर्नूनमेष राजा विजेष्यते । ततः समेत्य ते ह्येतल्लुण्टिष्यन्त्यखिलं पुरम् ॥ १०३२ ॥ ततो लोकाः! पलायध्वं तच्छ्रुत्वा ते तथा व्यधुः । नृपोऽथागाद् द्विपो जित्वाऽपश्यच्च पुरमुद्वसम् ॥१०३३॥ किमेतदिति पृष्टोऽथ भूभुजा कोऽप्यचीकथत् । तं[1] दुर्मुखव्यतिकरं तस्मै भूपोऽकुपत् ततः ॥१०३४॥ आवासिते च नगरे प्रख्याप्याऽऽगो जनेषु तत् । नरेन्द्रो दुर्मुखस्यास्य दण्डमेनमकारयत् ॥१०३५॥ जगाद बुद्धिजन्माऽथ पश्य माम ! तपस्व्यसौ ।

१ दुर्मुखस्य व्य० ख० ।

हा! दुर्भाषणमात्रेण कष्टं संप्राप कीदृशम् ॥ १०३६ ॥ मातुलोऽभिदधे भद्र! विकथासक्तचेतसाम् । अनियन्त्रित-तुण्डानां कियदेतद् दुरात्मनाम् ? ॥ १०३७ ॥ इयं हि मुत्कला वाणी जनसंतापकारिणी । अत्रामुत्र च जन्तूनां विधत्ते क्लेशसन्ततिम् ॥ १०३८ ॥ तत्तावद् दुर्मुखस्यास्य दुर्भाषाव्यसनात्फलम् । इदमीदृग् बभूवात्र परलोके च दुर्गतिः ॥१०३९॥ अत्रान्तरे समालोक्य कमप्येकं सितं नरम् । प्रकर्षो मातुलं प्रोचे क एष ननु वीक्ष्यते ? ॥१०४०॥ तेनोक्तं वत्स! हर्षोऽयं रागकेशरिसैनिकः । मानवावासवास्तव्यवासवाख्यवणिग्गृहे ॥ १०४१ ॥ अस्मिंश्च[1] धनदत्तस्यागमनेऽसौ प्रवेक्ष्यति । ततः प्रविष्टमात्रोऽपि पश्य किं[2] किं करिष्यति ? ॥१०४२॥ वीक्ष्यमाणे प्रकर्षेऽथ[3] धनदत्तेन वासवः । मिलितः संप्रविष्टश्च हर्षस्तद्देहदेहयोः ॥ १०४३ ॥ ततः स वासवस्तोषातिरेकेण निजौकसि । अकारयद् वर्द्धनकं समेतः स्वजनैर्निजैः ॥ १०४४ ॥ प्रकर्षोऽथावदन्माम! किमिदं हर्षवल्गितम् ? । विमर्शो व्याहरद् वत्स! साधु साधु विनिश्चितम् ॥ १०४५ ॥ तदा च वासवागारद्वारि वीक्ष्याऽसितं नरम् । प्रकर्षो मातुलं प्राह क एष पुरुषो ननु ? ॥१०४६॥ विमर्शः प्राह वत्सैष शोकमित्रं सुदारुणः । विषादाख्योऽध्वगेऽमुष्मिन् प्रविष्टेऽत्र प्रवेक्ष्यति[4] ॥ १०४७ ॥ सोऽथ पान्थः प्रविश्याशु किञ्चित्कर्णे न्यवेदयत् । वासवस्य ततोऽविक्षद् विषादस्तच्छरीरके ॥ १०४८ ॥ ततः स पतितो भूमौ तूर्णमेत्य तदाश्रितैः । वाय्वादिना कृतः स्वस्थो विलापमकरोदिति

१ एतस्मिन् ध० ख०, तन्मित्रध० ग० । २ यद्यत् क० ता०, यत्तत् क० ग० । ३ च ध० क० ख० ग० घ० ४ प्रविक्ष्य० ता० ।

॥१०४९॥ हा! वत्स! सुकुमाराङ्ग ! हा ! विनीतैकधूर्वह ! । कावस्था तव जातेयमीदृशी मे कुकर्म्मणा ? ॥१०५०॥ वारितोऽपि तदा दैवप्रेरितस्त्वं विनिर्गतः । एवं व्यवस्थिते वत्स ! हताशः किं करोम्यहम् ? ॥ १०५१ ॥ तस्मिंश्च विलपत्येवं विषादाश्लिष्टविग्रहाः । अन्येऽपि स्वजनाः सर्वे विलापं चक्रिरेतराम् ॥ १०५२ ॥ ततश्च क्षणमात्रेण विलीनाखिलसंमदम् । विलपत्स्वजनं दीनं जज्ञे वासववेश्म तत् ॥१०५३॥ तादृशं तच्च संवीक्ष्य प्रकर्षः प्राह मातुलम् । किमिदं माम ! संजज्ञे गृहेऽत्र प्रेक्षणान्तरम् ॥१०५४॥ विमर्शः प्राह ते वत्स ! पूर्वमेव मयो(यौ)च्यत । यदान्तरजनायत्ता बहिरङ्गा इमे जनाः ॥१०५५॥ ततश्चैतद्गृहं पूर्वं तथा हर्षेण नाटितम् । अधुना नाटयत्येवं विषादोऽयं दुराशयः ॥१०५६॥ प्रकर्षः प्राह किं माम ! कर्णाभ्यर्णे निवेदितम् । अनेन वासवस्यास्य पुरुषेणाथ सोऽवदत् ॥१०५७॥ अस्त्यस्य वणिजो वत्स ! वर्द्धनो नाम वल्लभः । एक एव सुतो रूपविनयादिगुणास्पदम् ॥ १०५८ ॥ पित्राथ वार्यमाणोऽपि द्रविणार्जनकाम्यया । स विधाय महासार्थं गतो देशान्तरे पुरा ॥ १०५९॥ तत्रोपार्ज्य धनं प्राज्यमागच्छन् स्वपुरेऽथ सः । कादम्बर्यां महाटव्यां जगृहे वत्स ! तस्करैः ॥ १०६० ॥ लूषित्वा सार्थसर्वस्वं बन्दीश्चादाय भूरिशः । वर्द्धनं तं च चौरास्ते पल्लीमथ निजां ययुः ॥ १०६१ ॥ सार्थेश इति कृत्वा तं वर्द्धनं धनवाञ्छया । क्रूरास्तत्राथ तेऽनेकयातनाभिरपीडयन् ॥ १०६२ ॥ यश्चायं पथिको वत्स ! सोऽयं लम्बनकाभिधः । पादप्रक्षालकस्तस्य गृहजो दासदारकः ॥ १०६३ ॥ अयं च स्वामिनं दृष्ट्वा तथा तस्करपीडितम् । नंष्ट्वा कथञ्चि-

१ जज्ञे सर्वं वा० ग० ।

द्वृत्तान्तमिममाख्यातुमाययौ ॥१०६४॥ समाख्याते च वृत्तान्ते यदसौ वासवो वणिक्। चकार सुन्दराकार! दृष्टमेव त्वयापि तत् ॥१०६५॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम! प्रलापाक्रन्दनादिभिः। किमेतैरसुखत्राणं वासवस्य कृतं कृतैः? ॥१०६६॥ विमर्शः प्राह नैवेदं भवेत्तात! कदापि हि। प्रत्युतैतानि कुर्वन्ति तद्दुःखमधिकाधिकम् ॥१०६७॥ तथाप्यनिष्टयोगेष्टवियोगादिनिबन्धनैः। विषादार्त्ता जना एते कुर्वन्त्येतानि बालिशाः ॥१०६८॥ कुर्वतेऽनिष्टविरहाभीष्टयोगादिकारणैः। स्मितवर्द्धनकादीनि हर्षादुत्पुलकाः पुनः ॥ १०६९ ॥ तदेवं वत्स! पीड्यन्ते सर्वदा सर्वदेहिनः। आभ्यां हर्षविषादाभ्यां भवचक्रनिवासिनः ॥ १०७० ॥ किञ्चात्र कथयिष्यन्ते नगरे पारवर्जिते। कियन्ति संविधानानि शृङ्गग्राहिकया मया? ॥ १०७१ ॥ तव त्वेतत्स्वरूपस्य विज्ञाने कौतुकं महत्। अतः समासतस्तुभ्यमेतदाख्यामि सुन्दर! ॥ १०७२ ॥ विवेकपर्वते तावत् त्वमारूढोऽत्र रूपतः। पश्यसीदं पुरं सर्वं गुणतः कथ्यते पुनः ॥ १०७३ ॥ भूरिभिः पूरितं तावदवान्तरपुरैः पुरम्। यद्यपीदं तथाप्यत्र मुख्यं पुरचतुष्टयम् ॥ १०७४ ॥ तत्राद्यं मानवावासं द्वितीयं विबुधालयम्। तृतीयं पशुसंस्थानं चतुर्थं पापिपञ्जरम् ॥ १०७५ ॥ तत्राद्ये मानवावासे ये वसन्ति शरीरिणः। ते बाध्यन्तेतरामेभिर्महामोहादिभिः सदा ॥ १०७६ ॥ अतश्चैतत्पुरं क्वापि पापिष्ठजनपूरितम्। क्वचिच्च धर्मबुद्ध्यापि विपरीतविचेष्टितम् ॥ १०७७ ॥ क्वचिदानन्दसंपूर्णं क्वचिच्छोकसमाकुलम्। क्वचिद्द्रविणसंतुष्टं क्वचिद्दारिद्र्यपीडितम् ॥ १०७८ ॥ क्वचित्कलहसंकीर्णं क्वचित् प्रेमभरालसम्। एवं विचित्रवृत्तान्तं वर्त्तते

१ कुर्वते तानि ग०।

वत्स ! सर्वदा ॥१०७९॥ विशेषकम् ॥ द्वितीयं तत्पुनर्भाति नगरं विबुधालयम् । दीप्राभिरामविस्तीर्णप्राज्यपाटक-संकुलम् ॥ १०८० ॥ विचित्रस्वर्णरत्नौघघटितानेकमन्दिरम् । भासुरालङ्कृताचिन्त्यमाहात्म्यजनसंभृतम् ॥ १०८१ ॥ नानावनसरोरम्यं विषयग्रामबन्धुरम् । जायते न मुदे कस्य सौन्दर्यैकनिकेतनम् ॥ १०८२ ॥ विशेषकम् ॥ तद्धि भुनक्ति साताख्यो वेद्याख्यनृपतेः पुमान् । तोषात् तस्मै यतः कर्मपरिणामेन तद्ददे ॥ १०८३ ॥ स्वस्रीयोऽथा-ब्रवीदार्य ! महामोहादिभूभुजाम् । किमत्र प्रसरो नास्ति ? येनैतदतिसुन्दरम् ॥१०८४॥ विमर्शोऽभिदधे मैवं [1]मंस्था-[2]स्त्वं हि कदाचन । प्रभवन्ति विशेषेण यतोऽत्रान्तरभूभुजः ॥ १०८५ ॥ ईर्ष्याशोकमदक्रोधलोभकामभयादिभिः । नित्यमाकुलितं वत्स ! पुरं हि विबुधालयम् ॥ १०८६ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽत्र ननु किं सुखम् ? । [3]किं वेदं हृष्टचित्तेन भवता माम ! वर्णितम् ? ॥ १०८७ ॥ विमर्शो व्याहरद् वत्स ! न सुखं परमार्थतः । नाप्यत्र सुन्दरं किञ्चिन्नगरे विबुधालये ॥ १०८८ ॥ केवलं मुग्धबुद्धीनां सत्त्वानां विषयैषिणाम् । अत्रास्था महती तात ! मयेदं तेन वर्णितम् ॥ १०८९ ॥ अन्यथा सपरीवारमहामोहमहीभुजः । क्व राज्यं ? क्व च लोकानां सुखवार्त्तेति दुर्घटम् ॥१०९०॥ नगरे पशुसंस्थाने तृतीयेऽपि हि ये जनाः । वसन्ति तेऽपि बाध्यन्ते महामोहादिभिर्भृशम् ॥१०९१॥ अत एव जना नित्यं तत्र ते शरणोज्झिताः । क्षुत्तृपावधबन्धोष्णशीतवृष्ट्यादिपीडिताः ॥१०९२॥ कृत्याकृत्यादि-विज्ञानविकलाः कलुषात्मकाः । वराकाः कथमप्यायुर्गमयन्ति निजं निजम् ॥ १०९३ ॥ युग्मम् ॥ चतुर्थं नगरं

१ ०र्वत्स ! न० कृ० ख० ग० घ० । २ मन्यथास्त्वं क० कृ० ख० ग० घ० । ३ किञ्चेदम् कृ० ख० ग० घ० ।

पापिपञ्जरं यत्तु कीर्तितम् । भुनक्ति तदसाताख्यः पुमान्वेद्याख्यभूपतेः ॥१०९४॥ यतस्तस्मै प्रसन्नेन महामोहेन तद्दे । अतस्तत्रत्यलोकानां दुःखान्तो नैव लभ्यते ॥ १०९५ ॥ ते ह्यसातसमादिष्टैः परमाधार्मिकासुरैः । नित्यं मुद्गरखड्गाद्यैर्हन्यन्ते शात्रवा इव ॥ १०९६ ॥ शूलाग्रभिन्ना भक्ष्यन्ते काकाद्यैस्तस्करा इव । पाय्यन्ते तप्तताम्राणि राजदुर्भापका इव ॥ १०९७ ॥ तन्दुला इव पच्यन्ते भृज्यन्ते चन(ण)का इव । दारूणीव विदार्यन्ते निष्पीड्यन्ते तिला इव ॥ १०९८ ॥ विशेषकम् ॥ यद्वा नास्त्येव तद्दुःखं यत्तेषां तत्र देहिनाम् । परमाधार्मिकाः क्रूरा न कुर्वन्ति दिवानिशम् ॥ १०९९ ॥ किञ्चात्र पाटकाः सप्त तत्राद्ये पाटकत्रये । परमाधार्मिकैरित्थं जन्यते दुःखपद्धतिः ॥११००॥ मिथश्च ते जना दुःखं कुर्वन्त्याषष्ठपाटकम् । भिद्यन्ते केवलैर्विष्वक् सप्तमे वज्रकण्टकैः ॥११०१॥ क्षुधापिपासाशीतोष्णभीत्यरत्यादि यत्पुनः । दुःखं तेषां पुरे तत्र कस्तद्वक्तुमपीश्वरः ? ॥११०२॥ तदिदं ते समाख्यातं भवचक्रमहापुरे । सर्वापरपुरव्यापि मुख्यं पुरचतुष्टयम् ॥ ११०३ ॥ तस्मादेतानि चत्वारि विज्ञातानि यदि त्वया । पुराणि विदितं तात! भवचक्रं ततोऽखिलम् ॥११०४॥ अत्रान्तरे प्रकर्षेण भ्रमन्त्यो भवचक्रके । राक्षस्य इव दुर्दर्शाः सप्ताऽदृश्यन्त योषितः ॥११०५॥ ताः समालोक्य का एताः ? किंस्वरूपाश्च योषितः ? । इति तेनानुयुक्तोऽथ प्रत्यभाषत मातुलः ॥११०६॥ श्रूयतां तावदेतासु प्रथमेयं जरोच्यते । नित्यं कालपरिणतिसमादेशविधायिनी ॥ ११०७ ॥ इयं हि प्रौढवाय्वादिपरिवारेण संयुता । वलीपलितखालित्यकम्पादि कुरुतेऽङ्गिनाम् ॥ ११०८ ॥ यौवनस्थामसद्वर्णलावण्यदशनोद्यमान् । ह्रीसद्वाक्यविलासादि निरस्यत्यखिलं तथा ॥११०९॥ जन्तवश्चानयाश्लिष्टा

नष्टदृष्ट्यादिपाटवाः। अपि पुत्रप्रियादीनां भवन्त्युद्वेगहेतवः ॥ १११० ॥ द्वितीया तु रुजा नाम योषिदेषा निगद्यते । आदेशकारिका नित्यं तस्यासातस्य सुन्दर !॥११११॥ ज्वरातीसारकुष्ठादिपरिच्छदसमन्विता । करोत्येपापि दैन्यार्त्तिगतिभङ्गादि देहिनाम् ॥१११२॥ सौन्दर्यं धैर्यमारोग्यं गौरवं विक्रमं त्रपाम् । धृतिस्मृत्यभियोगादि संहरत्यखिलं पुनः ॥ १११३ ॥ पीडिताश्चानया सत्त्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः । इतस्ततो लुठन्तश्च कूजन्ति विकृतस्वरम् ॥ १११४ ॥ तृतीया तु मृतिर्नाम वनितेयं निगद्यते । यः पुरायुर्नृपः प्रोचे तत्क्षयाज्जातसंभवा ॥१११५॥ इयमेकापि वैकृत्यं स्वपनं दीर्घनिद्रया । काष्ठीभावं च दौर्गन्ध्यं क्षणेन तनुतेऽङ्गिनाम् ॥१११६॥ चैतन्योच्छ्वासनिःश्वासभारतीजीवितादि तु । हन्ति निःशेपमप्येषा हिमानीवाम्बुजव्रजम् ॥ १११७॥ शूरकातरनिःस्वेभ्यादयोऽप्यस्या निदेशतः । भीताः स्वदेहगेहादि त्यक्त्वा यान्ति भवान्तरे ॥ १११८ ॥ तुर्या पुनरियं वत्स ! प्रोक्ता स्त्री खलताभिधा । मूलभूपालसेनानीपापोदयसमीरिता ॥ १११९ ॥ शाठ्यदौःशील्यवैभाष्यमत्सरादिजनान्विता । विधत्ते जन्मिनामेषा मनः पापपरायणम् ॥ ११२० ॥ पुण्यदाक्षिण्यसौजन्योपकारार्जवसंस्तवान् । विश्रम्भप्रीतिकीर्त्त्यादि निर्वासयति चाखिलम् ॥ ११२१ ॥ देहिनश्चानयाक्रान्ता परवञ्चनतत्पराः । यल्लोके विदधत्यत्र तन्नाख्यातुमपीश्यते ॥ ११२२ ॥ नार्येषा प्रोच्यते तात ! पञ्चमी तु कुरूपता । नामाभिधानभूमीशसमासेवनतत्परा ॥ ११२३ ॥ हीनाङ्गत्वातिदीर्घत्वकुब्जताकाणतादिना । परिवारेण युक्तासौ कुरूपं कुरुते जनम् ॥ ११२४ ॥ सुरूपत्वसुवर्णत्वचक्षुष्यत्वादिकं पुनः । सर्वं निर्वासयत्येपा दुर्नीतिरिव वैभवम् ॥ ११२५ ॥

अनया चाश्रिताः सत्त्वाश्चक्षुरुद्वेगकारिणः। भवन्ति क्रीडनस्थानं जनानां रूपगर्विणाम् ॥ ११२६ ॥ षष्ठी पुनरसौ सौम्य ! ख्याता नारी दरिद्रता। पापोदयान्तरायाख्यभूपयोरनुजीविनी ॥११२७॥ बुभुक्षाबहुपत्यत्वदैन्यदुर्भगतादिना। परिच्छदेन युक्तेयं विधत्ते निर्द्धनं जनम् ॥ ११२८ ॥ गौरवैश्वर्यवाल्लभ्यलाभतोपादिकं तथा। अस्याः प्रभावतोऽवश्यं दूरं नश्यति देहिनाम् ॥११२९॥ जन्मिनश्चानया ग्रस्ताः कुर्वन्तः कर्म कुत्सितम्। अजातचिन्तिताकाङ्क्षाः शेरते न निशास्वपि ॥ ११३० ॥ इयं तु सप्तमी योषा भद्र ! दुर्भगतोच्यते। नामाभिधधराधीशसमादेशविधायिनी ॥ ११३१ ॥ त्रपाभिभवदैन्यादिपरिवारपरिष्कृता[1]। अवल्लभमतिद्वेष्यमियं हि कुरुते जनम् ॥ ११३२ ॥ गर्वगौरवसौभाग्यप्रमोदादेयतादिकम्। निरस्यति च निःशेषं वात्येव घनमण्डलम् ॥ ११३३ ॥ स्वजनानामपि द्वेष्या निन्दन्तः स्वं मुहुर्मुहुः। नयन्ति क्लेशतः कालमाक्रान्ताश्चानया जनाः ॥ ११३४ ॥ तदेवं लेशतः प्रोक्ता सप्ताप्येतास्तव स्त्रियः। पुरेऽत्र सर्वदाप्येवं लोकपीडनतत्पराः ॥ ११३५ ॥ अथाह स्वस्रभूर्माम ! किमासां विनिवारकाः। लोकपाला न विद्यन्ते नगरेऽत्र नृपादयः ? ॥ ११३६ ॥ विमर्शो व्याहरद् वत्स ! चक्रिशक्रादयोऽप्यमूः। न निवारयितुं शक्ता नृपादीनां तु का कथा ? ॥ ११३७ ॥ यतस्तेष्वपि सर्वेषु मर्त्यामर्त्याधिपेष्वमूः। अवार्यवीर्यप्रसराः प्रसभं प्रभवन्त्यलम् ॥ ११३८ ॥ जामिसूनुरथ प्रोचे माम ! पुंसा ततः किमु। यत्नो विधेयो नैवासां निराकरणहेतवे ॥११३९॥ मातुलोऽभिदधे नैव यतितव्यं विनिश्चयात्। अवश्यंभाविनीष्वासु

---

[1] ०पुरस्कृता क० ख०।

पुंयत्नः कुरुते हि किम्? ॥११४०॥ स्वदोषपरिहाराय यत्यतामपि सद्विधौ। भाविकार्यपरीणामाविज्ञेन व्यवहारतः ॥११४१॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम! स्थानं किञ्चित् समस्ति तत्? । बाधन्ते यत्र नैवैता जराद्याः क्षुद्रयोषितः ॥११४२॥ बुद्धिबन्धुरभाषिष्ट निर्वृत्याख्यास्ति पूर्वरा। अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दनिवासभूः ॥ ११४३ ॥ तत्र न प्रभवन्त्येता न चान्ये केऽप्युपद्रवाः। तस्यां यियासुना सेव्यं ज्ञानादित्रितयं पुनः ॥ ११४४ ॥ इदं तु नगरं भद्र! भवचक्रं चतुर्विधम्। सदैवामुक्तमेताभिस्तथान्यैरप्युपद्रवैः ॥ ११४५ ॥ प्रकर्षः प्राह नन्वेतन्नगरं माम! सर्वथा। एवं कथयता दुःखबहुलं कथितं त्वया ॥११४६॥ साधु साधूदितं वत्स! बुद्धं वत्सेन मद्वचः। तत्त्वं च भवचक्रस्येत्यवादीन्मातुलोऽप्यथ ॥११४७॥ जामेयः प्राह यद्येवं वसन्तोऽत्र पुरे जनाः। किमेते माम! निर्विण्णाः किं वा नेति निवेद्यताम्? ॥ ११४८ ॥ विमर्शः पुनरप्यूचे निर्वेदो वत्स! देहिनाम्। वसतां नित्यमत्रापि नैवास्त्येषां मनागपि ॥ ११४९ ॥ एतेषां योगिनां यस्मान्महामोहादिभूभुजाम्। विद्यते कौशलं किञ्चिदपूर्वं जनमोहने ॥ ११५० ॥ ततोऽत्रत्यजना एते द्विपतोऽपि हि तत्त्वतः। हितबन्धूपमानेतान्मन्यन्ते मूढबुद्धयः ॥ ११५१ ॥ ततश्चैते तदादेशात्तत्कर्म शुभेतरम्। कुर्वन्ति बालिशाः शश्वद्येनातः स्यान्न निर्गमः ॥११५२॥ योऽपि निर्गमनोपायं कृपालुः कथयत्यतः। सुखहन्तायमित्युच्चैस्तमप्येते च मन्वते ॥ ११५३ ॥ ततो यावत्पुरेऽत्रामी महामोहादिभूभुजः। प्रभवन्ति कुतस्तावन्निर्वेदो वत्स! जन्मिनाम् ॥११५४॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽमीषां वपुष्मताम्। सदोन्मत्त-

१ तत्र ख०।

कतुल्यानां किमस्माकं विचिन्तया ? ॥११५५॥ किन्तु मे माम ! सर्वेषां महामोहादिभूभुजाम् । दर्शितं भवचक्रेऽत्र त्वया स्पष्टं विचेष्टितम् ॥ ११५६ ॥ महामोहस्य मन्त्री तु यो मिथ्यादर्शनः पुरा । प्रोक्तस्तस्यात्र नो किञ्चित् स्फूर्जितं दर्शितं त्वया ॥११५७॥ विमर्शः प्राह ये केचित्सन्त्यत्र नगरे जनाः । तस्य प्रायेण वर्त्तन्ते ते सर्वेऽपि वशे सदा ॥ ११५८ ॥ तथापि ये विशेषेण तस्याज्ञाकारिणो जनाः । तेषां स्थानानि पञ्चास्य ! दर्शयामि तव स्फुटम् ॥११५९॥ अमूनि मानवावासे दृश्यन्ते यानि सुन्दर ! । अवान्तरपुराणीह षडवान्तरमण्डले ॥११६०॥ एतानि तानि लोकानां तेषां स्थानानि लक्षय । तेन मिथ्यादर्शनेन ये वशीकृतचेतसः ॥ ११६१ ॥ (युग्मम्) ॥ एतेषु चैकं नगरं नैयायिकमितीरितम् । नैयायिकाश्च गीयन्ते ते जना येऽत्र संस्थिताः ॥ ११६२ ॥ अन्यद्[1] वैशेषिकं नाम पुरमत्राभिधीयते । वैशेषिकाश्च ते लोका येऽस्य मध्ये[2] व्यवस्थिताः ॥ ११६३ ॥ तथाऽपरं जनैः सांख्यं पुरमत्र प्रकाशितम् । सांख्याश्च ते विनिर्दिष्टा निवसन्त्यत्र ये जनाः ॥ ११६४ ॥ इहापरं पुनर्बौद्धं पुरमाख्यायते जनैः । बौद्धाभिधाश्च ते लोकाः सदाऽत्र निवसन्ति ये ॥११६५ ॥ पुरं [3]मैमांसकं नाम तथान्यत्परिकीर्त्तितम् । मीमांसकाश्च कथ्यन्ते ते लोका येऽत्र वासिनः ॥ ११६६ ॥ लोकायतमिति प्रोक्तं पुरमत्र तथाऽपरम् । बार्हस्पत्यास्तु लोकास्ते ये वसन्त्यत्र सर्वदा ॥ ११६७ ॥ नगरेषु तदेतेषु येऽमी लोकाः प्रकीर्त्तिताः । ते विशेषेण कुर्वन्ति मिथ्यादर्शनशासनम् ॥ ११६८ ॥ जामेयः प्राह लोकेऽत्र श्रूयन्ते किल यानि षट् । दर्शनानि किमेतानि तान्याख्यातानि

१ ०ये ता० । २ मध्यं न्य० ग० । ३ मीमां० ख० ग० ।

मे त्वया ॥ ११६९ ॥ मातुलः पुनरप्याह कथ्यते तात ! ते स्फुटम्। एतानि पञ्च तान्येव मीमांसकपुरं विना ॥११७०॥ अर्वाक्कालिकमेतद् हि पुरं [1]मैमांसकं मतम्। तेन दर्शनसंख्यायामेतल्लोकैर्न गण्यते ॥११७१॥ तथाहि वेदरक्षार्थं दोषोद्धृतिधिया किल। मीमांसां जैमिनिश्चक्रे दृष्ट्वा तीर्थिकविप्लवम् ॥११७२॥ स्वस्रीयः प्राह यद्येवं ततो माम! क्व वर्त्तते?। तत्पुरं किल यल्लोकैर्गीयते षष्ठदर्शनम् ॥११७३॥ विमर्शोऽभिदधेऽत्रैव विवेकाद्रौ विलोक्यते। यदेतच्छिखरं तुङ्गमप्रमत्तत्वनामकम्॥११७४॥जैनमित्याख्यया ख्यातं पुरमत्र समस्ति तत्। सर्वापरपुराजय्यं निर्जैर्लोकोत्तरैर्गुणैः ॥११७५॥ (युग्मम्) अन्यच्च जननामानो निवसन्त्यत्र ये जनाः। बाध्यन्ते नियतं तेन न मिथ्यादर्शनेन ते ॥११७६॥ ततश्चाबाधितास्तेन ते सुविज्ञातवर्त्मना। तां पुरीं निर्वृतिं यान्ति निहत्यान्तरवैरिणः ॥११७७॥ नैयायिकादयस्त्वन्ये मिथ्यादर्शनबाधिताः। तामविज्ञातसन्मार्गाः प्राप्नुवन्ति न जातुचित् ॥११७८॥ नैयायिकादयश्चैते ज्ञेया दिग्मात्रमेव हि। मिथ्यादर्शनवश्यानां नास्ति संख्यान्यथा पुनः ॥ ११७९ ॥ प्रकर्षः प्राह मामैतद्भवचक्रं मया पुरम्। सर्वं विलोकितं तावद्वीर्यं चान्तरभूभुजाम् ॥ ११८० ॥ केवलं यत्समुद्दिश्य कार्यमावामिहाऽऽगतौ। एवमाक्षिप्तमनसो[2]स्तदेव बत विस्मृतम् ॥ ११८१ ॥ महामोहादिजयिनो वीक्षितुं तान् महात्मनः। तं च संतोषभूपालमावामत्राऽऽगतौ किल ॥ ११८२ ॥ आगताभ्यां पुनर्दृष्टाः सर्वथापि न ते न सः। अतोऽधुनापि मामेन दर्श्यन्तां मम ते स च ॥११८३॥ विमर्शेनोदितं तात! यदिदं शिखरे स्थितम्। जैनं पुरं भवन्त्येव नूनमत्र तथा-

१ मीमां० क० ख० ग० घ० । २ ०तदावयोस्तु वि० ख० ।

विधाः ॥ ११८४ ॥ तस्मादत्रैव गच्छावो येनेदं ते कुतूहलम् । साक्षाद्दर्शनतो वत्स ! निःशेषमपि पूर्यते ॥११८५॥ अस्त्वेवमिति तेनोक्ते तौ पुरे तत्र जग्मतुः । अपश्यतां च तान् साधून्मूलोत्तरगुणालयान् ॥ ११८६ ॥ मातुलोऽभिदधे तात ! त एते यैर्महात्मभिः । जिग्यिरे निजवीर्येण महामोहादिवैरिणः ॥ ११८७ ॥ क्षीणप्रमत्ततामुख्यतत्तद्भावातिनिर्मला । चित्तवृत्त्यटवी सापि विभात्येषां महात्मनाम् ॥ ११८८ ॥ एते चात्र कियत्कालं वसन्तोऽप्यमलाशयाः । स्पृश्यन्ते नैव पापेन पङ्केन कमला इव ॥ ११८९ ॥ ततस्त्वमधुना सम्यग् वीक्ष्यैतान् क्षतकल्मषान् । निजं नयननिर्माणं सफलीकुरु सुन्दर ! ॥११९०॥ जगाद जामिजो माम ! साधु मेऽनुग्रहः कृतः । साधूनां दर्शनादेषां यदहं विमलीकृतः ॥ ११९१ ॥ किन्त्वद्यापि न पश्यामि तं संतोषमहीपतिम् । मामेन यो महाबाहुर्वर्णितो मे पुरः पुरा ॥ ११९२ ॥ बभाषे मातुलः सौम्य ! योऽयमालोक्यते पुरः । शुभ्रश्चित्तसमाधानो नाम विस्तीर्णमण्डपः ॥ ११९३ ॥ भविष्यत्यत्र नियतं स संतोषनरेश्वरः । अत्रैव गम्यते तस्मात्तवेच्छा येन पूर्यते ॥ ११९४ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते स्वस्रीयेणाथ तौ द्रुतम् । गत्वा तत्रोचिते देशे तस्थतुः सुस्थिताशयौ ॥ ११९५ ॥ तस्मिंश्च वेदिकोत्सङ्गरङ्गत्सिंहासनस्थितम् । दत्तास्थानं चतुर्वक्त्रं नरेन्द्रं तावपश्यताम् ॥ ११९६ ॥ जातहर्षः प्रकर्षोऽथ प्रत्यभाषत मातुलम् । अहो ! धन्यमिदं जैनं पुरं यत्रेदृशः प्रभुः ॥ ११९७ ॥ ततो माम ! विवेकाद्रौ यत्रेदृशमिदं पुरम् । किं सोऽयं भवचक्रेऽत्र[1] वर्त्तते दोषसंभृते ? ॥ ११९८ ॥ विमर्शः प्राह नात्रायं विद्यते परमार्थतः ।

---

१ चक्रे च व० ख० ।

उपचारेण किन्त्वत्र विद्वद्भिर्वत्स ! कथ्यते ॥ ११९९ ॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां पुरे सात्त्विकमानसे । स्थितोऽयं पर्वतवरो वर्त्तते तत्त्वतः पुनः ॥ १२०० ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततः सात्त्विकमानसम् । नगरं यदिदं ये च बाह्यास्तत्सेविनो जनाः ॥ १२०१ ॥ योऽयं विवेकशैलश्च प्रमत्तत्वं तटं च यत् । यच्चैतन्नगरं जैनमत्र बाह्याश्च ये जनाः ॥ १२०२ ॥ अयं चित्तसमाधानाभिधानो यश्च मण्डपः । या चेयं वेदिका रम्या सिंहासनमिदं च यत् ॥ १२०३ ॥ यश्च राजाधिराजोऽयं यश्चास्यैष परिच्छदः । सर्वमेतदपूर्वं मे प्रत्येकं कथ्यतां ततः ॥ १२०४ ॥ (चतुर्भिः कलापकम्) ॥ विमर्शः प्राह यदिदं पुरं सात्त्विकमानसम् । तदन्तरङ्गरत्नानां सर्वेषामाकरो मतम् ॥१२०५॥ स च कर्मपरीणामो राजा नेदं महापुरम् । सभुक्तिकं ददात्येषां महामोहादिभूभुजाम् ॥ १२०६ ॥ किन्तु स्वयं भुनक्तीदं तथान्यैर्वरपार्थिवैः । शुभाशयादिभिर्भद्र ! भोजयेच्च सभुक्तिकम् ॥१२०७॥ तस्मान्निर्मलचित्ताद्यैरन्यै रम्यैर्युतं पुरैः । इदमेव पुरं विश्वसुन्दरं विद्धि सुन्दर ! ॥ १२०८ ॥ तथा ये निवसन्त्यत्र बहिरङ्गाः पुरे जनाः । भवन्ति निश्चितं तेषां शौर्यधैर्यादयो गुणाः ॥ १२०९ ॥ आरुह्यैनं विवेकाद्रिं प्राप्य जैनमिदं पुरम् । जायन्ते सर्वकल्याणभाजनं ते क्रमात्ततः ॥१२१०॥ तथास्ते तावदेवात्र भवचक्रे मतिर्नृणाम् । आरोहन्त्यत्र नो यावत्ते विवेकमहागिरौ ॥१२११॥ महाप्रभावे तुङ्गेऽत्रारूढानामखिलं यतः । भवचक्रमिदं तेषां करस्थमिव भासते ॥ १२१२ ॥ ततो विविधवृत्तान्तं दुःखसंघातपूरितम् । दृष्ट्वैतत्ते विरज्यन्ते भवन्ति सुखिनस्ततः ॥ १२१३ ॥ तथेदं शिखरं नृणां सर्वथा सौख्यकारणम् । नागन्तुं प्रभवन्त्यत्र महामोहादयो यतः ॥ १२१४ ॥ आयाताः कथमप्यत्रात्रत्यैरेभिर्जनैरतः । प्रलो-

ध्यन्ते तथा भूयोऽप्यायान्त्यत्र यथा न ते ॥१२१५॥ तथैतन्नगरं जैनं समीहितफलप्रदम् । चिन्तारत्नमिवानर्घ्यं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् ॥१२१६॥ यतः कथञ्चिल्लब्ध्वापि पुरं सात्त्विकमानसम् । नारुह्यते विवेकाद्रावत्र सत्त्वैः प्रमादिभिः ॥ १२१७ ॥ इहापि कृच्छ्रादारूढैर्न शृङ्गमिदमाप्यते । पुण्यादिदमपि प्राप्य नाप्यते नगरं ह्यदः ॥१२१८॥ ततश्च नगरं श्रेष्ठं सर्वापरपुरेष्विदम् । विद्वद्भिः कीर्त्यते तात ! ब्रह्मचर्यं व्रतेष्विव ॥१२१९॥ तथा ये विमलात्मानो निवसन्त्यत्र साधवः । नैवाधिर्जायते कोऽपि तेषां संतुष्टचेतसाम् ॥ १२२० ॥ सजन्ति[1] नाप्रशस्तैस्ते महामोहादिवैरिभिः । रज्यन्ते तु प्रशस्तेषु महामोहादिषूच्चकैः ॥१२२१॥ तथा किं वर्णयाम्यस्य मण्डपस्य वरानन ! । निषीदति सदा यत्र राजायं सपरिच्छदः ॥ १२२२ ॥ देहिनां चार्त्तितप्तानां भवेत्तावत् कुतः सुखम् ? । यावत्तैः सेव्यते नैष सच्छायो वत्स ! मण्डपः ॥ १२२३ ॥ तथेयं वेदिका तात ! हन्ति निःस्पृहताभिधा । लौल्यं भोगेषु सत्त्वानां दौस्थ्यं संपदिव क्षणात् ॥ १२२४ ॥ येषां चैषा स्थिता चित्ते धन्यानां वत्स ! वेदिका । नेन्द्रैर्न देवैर्नो भूपैर्नान्यैस्तेषां प्रयोजनम् ॥१२२५॥ तथास्य जीववीर्याख्यविष्टरस्य प्रभावतः । राजायं सपरीवारः कुरुते राज्यमद्भुतम् ॥ १२२६ ॥ यद्येतन्न भवत्यत्र महामोहादिभिस्तदा । आक्रान्तोऽयं क्षयं गच्छेत् स्वसमृद्ध्या सहानया ॥ १२२७ ॥ तदेवं नगरं लोकाः पर्वतः शिखरं पुरम् । तज्जना मण्डपो वेदी विष्टरं च समासतः ॥ १२२८ ॥ निःशेषमपि पद्माक्ष[2] ! समाख्यातं मया तव । परिवारयुतो राजा सांप्रतं तु निवेद्यते ॥ १२२९ ॥

१ सज्जन्ते ना० क० ग० । २ ध्वम० ता० ।

॥ युग्मम् ॥ प्रकर्षोऽथ तदा दध्यौ यदिदं किल वर्णितम् । मामेन तस्य भावार्थः प्रस्फुरत्येष मे हृदि ॥ १२३० ॥ अकामनिर्जरापेक्षं जन्तोर्वीर्यं यदुत्कटम् । मिथ्यादृष्टेर्विना ज्ञानं तद्धि सात्त्विकमानसम् ॥ १२३१ ॥ ये तेन संयुता लोका वास्तव्यास्तत्र ते मताः । तैरेव तत्प्रभावेण क्रमात्कल्याणमाप्यते ॥ १२३२ ॥ आत्माऽन्योऽन्यद्वपुः-पुत्रकलत्रविभवादिकम् । तेषामेवेदृशी बुद्धिर्या विवेकः स उच्यते ॥ १२३३ ॥ विवेकाच्च प्रयत्नो यस्तेषामेवा-ल्पकर्मणाम् । महामोहादिनाशायाप्रमत्तत्वं तदीरितम् ॥ १२३४ ॥ पुरमेतत्पुनर्जैनं विज्ञेयं जैनशासनम् । चतुर्वर्णः पुनः संघस्तद्वास्तव्या जनाः स्मृताः ॥ १२३५ ॥ मण्डपो वेदिका पीठं पुनरेतद् यथोदितम् । यथार्थमेव विज्ञेयं तथैव त्रयमप्यदः ॥ १२३६ ॥ ध्यात्वेति बोधावष्टम्भतुष्टः स प्राह मातुलम् । आख्याहि माम ! राजानं ममैनं सपरिच्छदम् ॥ १२३७ ॥ ऊचेऽथ मातुलोऽप्येवं त्रैलोक्यसुखकारकः । वत्स ! चारित्रधर्माख्यो नरनाथोऽयमुच्यते ॥ १२३८ ॥ दानशीलतपःशुद्धभावनाख्यानि भूपतेः । मुखान्येतानि चत्वारि ज्ञेयान्यस्य यथाक्रमम् ॥ १२३९ ॥ तत्राद्यं सर्वसत्त्वेषु दयाज्ञानाभयान्यलम् । सत्पात्रेषु च सद्वस्तु दापयत्याननं सदा ॥ १२४० ॥ अष्टादशसहस्राणि शीलाङ्गानि मनीषिणाम् । मुखं निर्वृतिहेतूनि द्वितीयं कथयत्यदः ॥१२४१॥ द्वादशधा निराकाङ्क्षं नानालब्धिनिब-न्धनम् । वक्त्रमेतत्समाख्याति तृतीयं तु जने तपः ॥ १२४२ ॥ तुरीयमिदमास्यं तु भवचक्रान्तकारिणीः । प्ररूपयति लोकेषु शुद्धा द्वादश भावनाः ॥ १२४३ ॥ तदेवं वदनैरेभिश्चतुर्भिः पुरवासिनाम् । एषां निःशेषसौ-

---

१ कारणम् ता० । २ जिन० ख० ग० ।

रुयानि करोत्येष महीपतिः ॥ १२४४ ॥ तथासौ वीक्ष्यते सौम्य ! स्फटिकोपलनिर्मला । अर्द्धासने निविष्टास्य भूभर्तुर्या मृगेक्षणा ॥ १२४५ ॥ इयं हि विरतिर्नाम पार्थिवस्यास्य वल्लभा । गुणैस्तु स्वपतेरेव समाना विबुधैर्मता ॥ १२४६ ॥ ये त्वेते पञ्च दृश्यन्ते राजानोऽभ्यर्णवर्त्तिनः । एतेऽस्यैव नरेन्द्रस्य सुहृदोऽत्यन्तवल्लभाः ॥ १२४७ ॥ आद्यः सामायिकस्तत्र छेदोपस्थापनः परः । परिहारविशुद्धीयस्तृतीयस्तु निगद्यते ॥ १२४८ ॥ तुर्यः सूक्ष्मसंपरायो यथाख्यातस्तु पञ्चमः । नैर्मल्यहेतवो लोके पञ्चाप्येते यथोत्तरम् ॥ १२४९ ॥ चारित्रधर्मराजस्य पार्श्वे यस्त्वेष वीक्ष्यते । सोऽस्यैव यतिधर्माख्यो ज्येष्ठो राज्यधरः सुतः ॥१२५०॥ अयं च परमानन्दनिदानं नृपनन्दनः । वहिर्ये मुनयो दृष्टास्त्वया तेषामतिप्रियः ॥ १२५१ ॥ दशेक्ष्यन्तेऽन्तिकेऽमूनि मानुषाण्यत्र यानि तु । सेवकान्यङ्गभूतानि क्षान्त्यादीन्यस्य तानि हि ॥ १२५२ ॥ कोपशान्तिं विनम्रत्वमशाठ्यं वीतकाङ्क्षताम् । नानातपः संयतत्वं तथ्यवाक्त्वं विशुद्धताम् ॥१२५३॥ निष्परिग्रहतां ब्रह्मचारितां चानगारिषु । एतेषां च बलेनैष प्रवर्त्तयति राजभूः ॥ १२५४ ॥ युग्मम् ॥ अस्यार्द्धविष्टरासीना या त्वेषा दृश्यतेऽङ्गना । सद्भावसारता नाम सास्यैव प्रेयसी मता ॥ १२५५ ॥ दम्पत्योरनयोर्भद्र ! चन्द्रचन्द्रिकयोरिव । यादृक् परस्परं प्रेम तादृग् न क्वापि दृश्यते ॥ १२५६ ॥ अस्यासन्नस्तु यस्तात ! युक्तो द्वादशभिर्जनैः । वीक्ष्यते गृहिधर्माख्यः सोऽस्यैवावरजो मतः ॥ १२५७ ॥ मुक्तं स्थूलवधासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहैः । दिग्विरतिरतं भोगोपभोगे यत्नकारिणम् ॥१२५८॥ अनर्थदण्डविरतं सामायिक-

१ ०स्य या० ख०, ०थ या० ग० । २ तथावा० ख० ग० घ० ।

कृतादरम् । देशावकाशिकासक्तं पौषधे विहितोद्यमम् ॥ १२५९ ॥ संविभागाभियुक्तं च विधत्ते गृहिणं जनम् । राजसूनुः सदा चायं निर्जैर्द्वादशभिर्जनैः ॥१२६०॥ विशेषकम् ॥ किञ्चास्य यावतीमाज्ञां शक्त्या यः कुरुते जनः । तस्य तावत् करोत्येष फलं नास्त्यत्र संशयः ॥१२६१॥ या त्वेषास्यान्तिकासीना विलोलाक्षी विलोक्यते । अस्यैव सा कुमारस्य प्रिया सद्गुणरक्तता ॥१२६२॥ वत्सला मुनिलोकस्य गुरूणां विनयोद्यता । पत्यावकृत्रिमस्नेहा कस्य न स्यादसौ मुदे[1] ॥१२६३॥ चारित्रधर्मराजस्य समीपे यस्तु दृश्यते । सोऽयं महत्तमोऽस्यैव सम्यग्दर्शननामकः ॥१२६४॥ देवे देवमतिं सम्यग् गुरौ च गुरुवासनाम् । धर्मे च धर्मधिषणां विधत्ते देहिनामसौ ॥ १२६५ ॥ महामोहस्य च यथा स मिथ्यादर्शनोऽखिलम् । तन्त्रयत्यनिशं राज्यं तथाऽसावस्य भूपतेः ॥ १२६६ ॥ भूपालः पालकं चैनं विशेषेण कुमारयोः । सदा चक्रे ततो नैतौ दृश्येते क्वाप्यमुं विना ॥१२६७॥ या त्वसौ दृश्यते शुभ्रवर्णाभ्यर्णेऽस्य वर्णिनी । इयं हि मन्त्रिणोऽस्यैव सुदृष्टिर्नामतः प्रिया ॥ १२६८ ॥ इयं च कुरुते वत्स! येषां हृदि सदास्पदम् । तेषामेतत्पुरं मुक्त्वा नान्यत्र रमते मनः ॥ १२६९ ॥ सम्यग्दर्शनपार्श्वस्थो यस्त्वसौ सौम्य! दृश्यते । सद्बोधनामकः सोऽयं सचिवोऽस्यैव भूपतेः ॥१२७०॥ भूतं भावि भवत् सूक्ष्मं दूरस्थं नश्वरं स्थिरम् । सर्वमप्येष सद्बोधः स्वबुद्ध्या वस्तु बुध्यते ॥१२७१॥ किञ्चात्र बहुनोक्तेन तन्नास्ति त्रिजगत्यपि । यदेष सचिवो नैव करस्थमिव पश्यति ॥१२७२॥ पार्श्वेऽस्यैषाङ्गना या तु याति लोचनगोचरम् । महामात्यस्य सास्यैवावगतिर्नाम वल्लभा ॥१२७३॥

---

१ हृदि ता० । २ सुभ्रु! शुभ्रवर्णास्य क० ख० ग० ।

स्वरूपं जीवितं प्राणाः सर्वस्वं च वपुस्तथा । इयं हि सचिवस्यास्य प्रेयसी वर्त्तते सदा ॥ १२७४ ॥ ये त्वेते पञ्च दृश्यन्तेऽमात्यस्यास्यान्तिकस्थिताः । एतस्यैव वयस्यास्ते जीवितादपि वल्लभाः ॥ १२७५ ॥ आद्योऽत्राभिनिबोधोऽयं विख्यातः पुरवासिनाम् । इन्द्रियानिन्द्रियज्ञानं जनानां जनयत्यलम् ॥ १२७६ ॥ सदागमाभिधानस्तु द्वितीयोऽयं निगद्यते । समस्तवस्तुविस्तारपरमार्थोपदेशकः ॥१२७७॥ न स्याद्यद्यत्र वाग्म्येष शेषाणां कस्तदा ननु । वदेत् स्वरूपमप्येषां मूकानां हि स्वभावतः ॥ १२७८ ॥ तृतीयोऽवधिसंज्ञस्तु वयस्योऽयं प्रकीर्त्यते । बहुल्पह्रस्वदीर्घादिनानाज्ञानकरोऽङ्गिनाम् ॥ १२७९ ॥ मनःपर्यायनामाऽयं चतुर्थः प्रोच्यते पुनः । संज्ञिजीवमनोभावसाक्षात्कारविशारदः ॥ १२८० ॥ पञ्चमः केवलो नाम सुहृदेष बुधैर्मतः । भूतभाविभवत्सर्वभावाभावावभासकृत् ॥ १२८१ ॥ तदेवं पञ्चभिर्मित्रैः समेतो भानुमानिव । तमो हन्त्येष सद्बोधो ज्ञानसंवरणाभिधम् ॥ १२८२ ॥ प्रकर्षोऽथावदन्माम ! स संतोषनरेश्वरः । न दर्शितस्त्वयाद्यापि यत्र मेऽत्यन्तकौतुकम् ॥ १२८३ ॥ विमर्शोऽप्याह यो वत्स ! निषण्णो दृश्यते पुरः । संयमस्य स संतोषो ज्ञेयोऽथ प्राह बुद्धिभूः ॥ १२८४ ॥ यस्योपरि समायाता महामोहादिभूभुजः । विक्षेपेण स संतोषो नात्र किं मूलनायकः ? ॥ १२८५ ॥ मातुलोऽप्यभ्यधात्तात ! नैवायं मूलनायकः । चारित्रधर्मराजस्य पदातिरिति बुध्यताम् ॥ १२८६ ॥ किन्तु नीतिपरो दक्षो विक्रमी संधिविग्रही । तेनैष तन्त्रपालत्वे स्थापितो मूलभूभुजा ॥ १२८७ ॥ संपूर्णबलसामग्र्या भ्रमतोद्दामलीलया । स्पर्शनादीनि चानेन

१ ०यम् ता० ।

तानि दृष्टानि कुत्रचित् ॥ १२८८ ॥ ततोऽभिभूय तान्येष स्वमाहात्म्येन निर्वृतौ । नयति स जनं कश्चिद् बलेनैषां महीभुजाम् ॥ १२८९ ॥ ज्ञात्वैनमथ वृत्तान्तं महामोहादिभूभुजः । अस्योपर्यायियुश्चित्तवृत्त्यटव्यां रणेच्छवः ॥ १२९० ॥ अयमेव यतोऽमीभिः संतोषो मूलनायकः । चारित्रधर्मभूपस्य पदातिरपि निश्चितः ॥ १२९१ ॥ तावदेव हि वेत्त्यत्र जनो यावत्किलेक्षते । यतः सितोदरोऽपीह कृष्णसर्पोऽभिधीयते ॥ १२९२ ॥ संतोषेण च तत्रैषां सार्द्धं रणमनेकशः । संजातं न च संजातौ स्फुटौ जयपराजयौ ॥१२९३॥ ततः सैन्यद्वयस्यास्य रुषाऽन्योन्यं जिगीषतः । काले गच्छति पद्माक्ष ! न जाने किं भविष्यति ? ॥१२९४॥ तदेष दर्शितस्तुभ्यं मया संतोषतन्त्रपः । आख्यातश्चास्य वृत्तान्तो यत्र तेऽत्यन्तकौतुकम् ॥१२९५॥ या त्वस्य सविधासीना वीक्ष्यते पङ्कजेक्षणा । सा निष्पिपासिता नाम दयितास्यैव संस्मृता ॥ १२९६ ॥ साम्यं शुभाशुभे स्पर्शादिकेऽसौ कुरुतेऽङ्गिनाम् । लाभालाभे सुखे दुःखे तुष्टिं च जनयत्यलम् ॥१२९७॥ तदेवं स्वाङ्गिकानेकपरिवारसमन्वितः । चारित्रधर्मराजोऽयमाख्यातः पृथिवीपतिः ॥१२९८॥ ये त्वेते वेदिकाभ्यर्णे वर्त्तन्ते मण्डपस्थिताः । शुभाशयादयस्तात ! तेऽप्यस्यैव पदातयः ॥१२९९॥ चारित्रधर्मराजस्यादेशेन रुचिराण्यमी । कार्याणि सर्वदा सर्वे कुर्वन्त्युर्वीभुजो जने ॥१३००॥ किञ्च मर्त्याः स्त्रियो डिम्भा ये लोके सुखहेतवः । वर्त्तन्तेऽन्येऽपि विज्ञेयाः सर्वे तेऽप्यत्र संस्थिताः ॥१३०१॥ ततश्च ते महामोहादयो विश्वद्विषो यथा । चारित्रधर्मराजाद्यास्तथैते विश्वबान्धवाः ॥ १३०२ ॥ एते ह्यपारसंसारसागरोत्तारसेतवः ।

१ स्वय० ता०।

निर्वृतिं जनमद्वैतसुखां संप्रापयन्ति ताम् ॥ १३०३ ॥ तदेवं ते समासेन मया ख्यातमदः सदः । सामस्त्येन समाख्यातुं कोटिजिह्वोऽपि न क्षमः ॥ १३०४ ॥ यावोऽधुना वहिर्वत्स ! पूर्णं चेत्कौतुकं तव । अस्त्वेवमिति तेनोक्ते मण्डपात्तौ निरीयतुः ॥ १३०५ ॥ गाम्भीर्यौदार्यशौर्यादिरथकट्याविराजितम् । यशःप्रश्रयसौजन्यनयादिगजताकुलम् ॥ १३०६ ॥ बुद्धिपाटववाग्मित्वदाक्ष्याद्यश्वीयपूरितम् । अचापलमनस्वित्वमुख्यपादातसंभृतम् ॥ १३०७ ॥ पारावार इवाऽपारं चतुरङ्गं महाबलम् । चारित्रधर्मराजस्य तद्बहिस्तावपश्यताम् ॥१३०८॥ विशेषकम् ॥ प्रकर्षोऽथ समुद्भूतहर्षोऽभाषिष्ट मातुलम् । यथेष्टमधुना माम ! पूरितं मे कुतूहलम् ॥ १३०९ ॥ यतोऽत्र किञ्चिद् दृश्यं यत् तत्सर्वं दर्शितं त्वया । एवं च कुर्वता किं किं त्वया नोपकृतं मम ? ॥१३१०॥ केवलं रमणीयेऽत्र नगरे निजलीलया । दिनानि कतिचिन्माम ! वस्तुमिच्छामि सांप्रतम् ॥१३११॥ कुर्वंस्तांस्तान्विचारांश्च तिष्ठाम्यत्र यथा यथा । तथा तथा भवाम्युच्चैः प्राज्ञोऽहं त्वत्प्रसादतः ॥ १३१२ ॥ अहं च परमां काष्ठां नेयो मामेन सर्वथा । दिनानि कतिचित् तस्मान्मामोऽत्र स्थातुमर्हति ॥ १३१३ ॥ मातुलोऽप्यब्रवीद् वत्स ! तवेच्छा या प्रवर्त्तते । तामेष त्वत्सुखाकाङ्क्षी किं भनक्ति ? वशो जनः ॥ १३१४ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा पुरे तत्रैव तोषभाक् । मासद्वयं निनायाऽथ प्रकर्षो मातुलान्वितः ॥ १३१५ ॥ चन्द्रचन्दनतोयादिपदार्थानां कृतार्थयन् । महिमानमथात्यन्तभीष्मो ग्रीष्मर्तुराययौ ॥१३१६॥ दहन्त्यो देहिनां देहं पचन्त्यश्रूतसंहतीः । वह्निज्वाला इवादृश्या यत्र लूका ववुस्तराम् ॥१३१७॥ रोदोभूपान्तरे यत्र चित्रभानुस्तथाऽज्वलत् । व्यलीयन्तस्तदन्तस्था यथा धातुमया जनाः ॥ १३१८ ॥ यत्र वृद्धिं

भजन्ति स्म वासराः सागरा इव । तनुतां च निशीथिन्यः स्रोतस्विन्य[1] इवोच्चकैः ॥ १३१९ ॥ विगलद्घर्मवारीणि शरीराणि शरीरिणाम् । दधुर्यत्र सजीवाम्बुयन्त्रपुत्रकविभ्रमम् ॥१३२०॥ ततश्चैवंविधे ग्रीष्मे विमर्शो भगिनीसुतम् । निजगादेति गच्छावः स्वस्थानं वत्स ! सांप्रतम् ॥१३२१॥ प्रकर्षः प्राह गमने दारुणोऽवसरोऽधुना । तन्नाहं माम ! शक्नोमि गन्तुं वर्त्मनि सर्वथा ॥ १३२२ ॥ ततो मासद्वयमिदं स्थीयते तापभीषणम् । पश्चात्तु शीतलीभूते पथि नूनं प्रयास्यते ॥ १३२३ ॥ तथेत्यङ्गीकृते बुद्धिबान्धवेनाऽथ तद्युतः । पुनर्मासद्वयं निन्ये जामेयस्तत्र पूर्ववत् ॥ १३२४ ॥ पर्जन्यगर्जितैः केकिकेकाभिश्च प्रबोधयन् । कामं कामिमनः सुप्तमथ मेघर्तुराययौ ॥ १३२५ ॥ गर्जाट्टहासः कृष्णाङ्गः स्फुरिताशनिकर्त्रिकः । प्राणान्प्रवासिनां यत्र जग्रसे घनराक्षसः ॥ १३२६ ॥ ववर्ष निर्भरं यत्र दधानो धनुरायतम् । धाराधरोऽम्बुधाराभिः शरैरिव धनुर्धरः ॥१३२७॥ परितोऽपूरयद् यत्र कासारान्सलिलैर्घनः । वदान्यो[2]ऽर्थैरिवात्यर्थमर्थिसार्थमनोरथान् ॥ १३२८ ॥ पङ्ककण्टकसंकीर्णाः पन्थानश्च पदे पदे । अभवन् दुर्गमा यत्र ग्रन्था इव ससंशयाः ॥ १३२९ ॥ अथेदक्षासु वर्षासु प्रकर्षः प्राह मातुलम् । अधुना गम्यते माम ! त्वरितं तातसन्निधौ ॥ १३३० ॥ यतः संप्रति पन्थानः सर्वतो घनवृष्टिभिः । प्रशान्तपांशुसंतापा बभूवुः सुगमाः किल ॥ १३३१ ॥ प्रत्याह मातुलोऽप्येवं मैवं वादीरकद्वद[3] ! अधुना हि व्यवच्छिन्नं विशेषेण गतागतम् ॥१३३२॥ यतः पङ्कादिसंपूर्णाः पन्थानो दुर्गमा भृशम् । अभवन्नधुना तात ! वर्षत्यब्दे प्रवासिनाम् ॥ १३३३ ॥

१ श्रोतश्विन्य क० ख० ग० । २ दाता । ३ अनिन्द्यभाषिन् ! ।

एतावन्तं ततः कालं संस्थितोऽत्र यथाऽनघ ! । मासद्वयमिदं तिष्ठ संप्रत्यपि तथैव हि ॥१३३४॥ किञ्चात्र यान्वहुः
कालो न दोषाय गुणावहः । यतः सोऽनुक्षणं वत्स ! जायते तव वृद्धये ॥ १३३५ ॥ तथेति स्वीकृते तेन वर्षा-
मासद्वयं पुनः । स्थित्वा समागतौ गेहे हृष्टौ जामेयमातुलौ ॥ १३३६ ॥ प्रियास्नुस्नुषोपेतमास्थानस्थं नरेश्वरम् ।
शुभोदयं घनोत्कण्ठं तौ तत्राथ प्रणेमतुः ॥ १३३७ ॥ विचक्षणमथाश्लिष्य भगिनीं प्रणिपत्य च । लब्धाशीर्लब्ध-
पीठश्च न्यपदद्बुद्धिसोदरः ॥ १३३८ ॥ प्रकर्षोऽपि समालिङ्ग्य स्नेहाच्चाघ्राय मूर्द्धनि । अस्थाप्यत निजोत्सङ्गे सर्व-
स्तैर्गुरुभिः क्रमात् ॥१३३९॥ यथास्थानं निषण्णोऽथ प्रकर्षे तैः प्रमोदिभिः । विमर्शः क्षेममापृच्छ्य कार्यसिद्धिम-
पृच्छयत ॥ १३४० ॥ विमर्शोऽथ पुरस्तेषां मूलादारभ्य विस्तरात् । सुव्यक्तं तं यथावृत्तं वृत्तान्तं सर्वमाख्यत
॥ १३४१ ॥ इतश्च मांसमद्याद्यैर्लालयन् लोलतोक्तिभिः । रसनां स जडः पापो न चेतयति किञ्चन ॥ १३४२ ॥
अन्यदा मदिरापानविधुरीभूतमानसः । महाछागभ्रमेणैष पशुपालममारयत् ॥ १३४३ ॥ पिशितं तस्य संस्कृत्य
लोलतोक्त्या ददौ च सः । रसनायै तदाऽऽस्वादादमोदिष्टाधिकं च सा ॥ १३४४ ॥ ततश्च मर्त्यानन्यान्यान्
हत्वा हत्वा स दुर्मतिः । रसनायै महामांसं लोलतोक्त्या सदा ददौ ॥१३४५॥ एवं च भक्षयन् क्षुद्रः प्रत्यहं पिशितं
नृणाम् । विपक्षः सर्वलोकानां स राक्षस इवाभवत् ॥ १३४६ ॥ अन्येद्युश्चौरवद्रात्रौ गृहे शूरकुटुम्बिनः । प्रविवेश
दुराचारः स मानुषजिघृक्षया ॥ १३४७ ॥ जागरूकेण शूरेण तेन संददृशेऽथ सः । सुप्तं तत्तनयं श्वेव भक्ष्यमादाय
निःसरन् ॥ १३४८ ॥ क्रुद्धोऽथ तुमुलारावमिलितैः स्वजनैः स तम् । जडं बबन्ध निन्ये च पञ्चतां यातनाशतैः

॥ १३४९॥ प्रभाते तं च वृत्तान्तं श्रुत्वापि जनवार्त्तया । नानिष्टं चक्रिरे किञ्चित् शूरस्य जडबान्धवाः ॥ १३५०॥
साध्वसौ निहतः पापः शूरेण कुलदूषणः । चिन्तयन्त इति प्रोच्चैः प्रत्युतैते मुदं ययुः ॥ १३५१ ॥ अमुं च जड-
वृत्तान्तं निरीक्ष्य स विचक्षणः । इति संचिन्तयामास निर्मलीमसमानसः ॥ १३५२ ॥ इहापि हि जडस्येदं रसना-
लालनात्फलम् । बभूव परलोके तु भविता दुर्गतिर्ध्रुवम् ॥ १३५३ ॥ ध्यायन्निति विरक्तोऽसौ रसनालालने
भृशम् । तस्थौ विचक्षणः पूर्वं यावत्तौ समुपेयतुः ॥ १३५४ ॥ मूलशुद्धौ विमर्शेनाऽऽख्यातायामथ विस्तरात् ।
रसनां त्यक्तुकामोऽसौ पितरं प्रत्यभाषत ॥ १३५५ ॥ तात ! संदर्शितस्तावत्स्वविपाकोऽनया जडे । सुतया
दोषपुञ्जस्य रागकेशरिमन्त्रिणः ॥ १३५६ ॥ तदेनामधुना भार्यां दुष्टां दुष्टकुलोद्भताम् । सर्वथा त्यक्तुमिच्छामि
ताताहं त्वदनुज्ञया ॥ १३५७ ॥ शुभोदयोऽप्युवाचैवं भार्येति प्रथिता जने । तवेयं रसना तस्मान्नाकाण्डे त्याग-
मर्हति ॥१३५८॥ अतः क्रमेण मोक्तव्या त्वयेयं वत्स ! सर्वथा । यदत्र सांप्रतं प्राप्तकालं ते तत्पुनः शृणु ॥१३५९॥
ये ते तुभ्यं महात्मानो महामोहादिसूदनाः । विवेकपर्वतारूढा विमर्शेन निवेदिताः ॥ १३६० ॥ तन्मध्यस्थस्य
ते वत्स ! तदाचारेण तिष्ठतः । दुष्टाप्यनिष्टं नो किञ्चिद्रसनाऽसौ विधास्यति ॥ १३६१ ॥ तस्मादारुह्य तत्राद्रौ
मध्ये तेषां महात्मनाम् । तिष्ठ त्वं सकुटुम्बोऽपि तामेकां प्रोज्झ्य लोलताम् ॥ १३६२ ॥ ततो विचक्षणः प्रोचे
तात ! दूरे स पर्वतः । कथं कुटुम्बसहितस्तत्राहं गन्तुमीश्वरः ? ॥ १३६३॥ प्रत्यूचेऽथ पिता चिन्ता त्वया कार्यात्र
कापि न । चिन्तामणिरिवायं हि विमर्शो यस्य ते सखा ॥ १३६४ ॥ यतोऽस्य विद्यते वत्स ! पार्श्वे योगाञ्जनं

वरम्। तद्बलादर्शयत्येष तमिहैव महागिरिम् ॥१३६५॥ प्रकर्षो व्याहरत् तात ! सत्यमेतन्न संशयः। अनुभूतं मया-प्यस्य योगाञ्जनविजृम्भितम् ॥ १३६६ ॥ तावदेव हि नेक्ष्यन्ते भावास्ते पर्वतादयः। यावदेष महावीर्यं न प्रयुङ्क्ते तदञ्जनम् ॥ १३६७ ॥ यदा तु विमलालोकं प्रयुङ्क्तेऽसौ तदञ्जनम्। तदा सर्वत्र भावास्ते भासन्ते भविनां ध्रुवम् ॥ १३६८ ॥ विचक्षणोऽथ सानन्दो विमर्शं प्रत्यभापत। यद्येवं दीयतां भद्र ! ममापि हि तदञ्जनम् ॥ १३६९ ॥ विमर्शोऽदात्ततस्तस्मै तदञ्जनमथैक्षत। तद्बलात्पर्वतादीनि तानि साक्षाद्विचक्षणः ॥ १३७० ॥ ततः पित्रुप्रसूबुद्धि-श्वशुर्यतनयान्वितः[1]। दधानो रसनां तां च स्थितां वदनकोटरे ॥ १३७१ ॥ केवलं लोलतामेकां मुक्त्वा तां दुष्ट-चेटिकाम्। तमारुह्य विवेकाद्रिं स तज्जैनं पुरं ययौ ॥ १३७२ ॥ सूरेर्गुणधराख्यस्य महात्मैकशिरोमणेः। पार्श्वे तत्राथ जग्राह दीक्षां मङ्क्षु विचक्षणः ॥१३७३॥ युग्मम् ॥ तथैव तत्कुटुम्बं स्वं समग्रमपि पालयन्। सोऽस्थादथ सुखं तत्र मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ १३७४ ॥ तदाचारसदासेवाभिभूतरसनश्च सः। अस्थाप्यत मुदा तेन गुरुणा स्वपदे[2] क्रमात् ॥ १३७५ ॥ रसनाकथानकम् ॥ स चान्यत्रापीक्ष्यमाणो द्रष्टव्यः परमार्थतः। विवेकशैलशृङ्गस्थे जैने तत्रैव सत्पुरे ॥ १३७६ ॥ नरवाहनभूपाल ! स एवाहं विचक्षणः। यतो ज्ञेयस्त एवैते महात्मानश्च साधवः ॥ १३७७ ॥ ततस्त्वया महाराज ! वैराग्यस्य निबन्धनम्। मत्समीपे यदप्रच्छि तदिदं कथितं तव ॥ १३७८ ॥ एवं चावस्थिते दीक्षा यद्दोषाज्जगृहे मया। पापा साप्युज्झिता भार्या न मया येन सर्वथा ॥१३७९॥

---

१ शुभोदय–निजचारुता–बुद्धि–विमर्श–प्रकर्षयुक्तः। २ ०पदोः क० ग०।

पाल्यते येन चाद्यापि तत्कुटुम्बं तथैव हि। तस्य मे कीदृशी नाम प्रव्रज्या भूप ! कथ्यताम्? ॥ १३८० ॥ तथापि प्रतिभासेऽहं यत्ते दुष्करकारकः । स एष किं गुणग्राही सज्जनप्रकृतेर्गुणः ॥ १३८१ ॥ अस्यैव जैनलिङ्गस्य माहात्म्यमथवाद्भुतम् । किञ्चान्यत्कारणं किञ्चिदिति वेद्मि न सर्वथा ॥ १३८२ ॥ एवमाख्याय विरते तत्राचार्ये विचक्षणे । ज्ञाततदुक्तभावार्थः प्रहृष्टः प्राह पार्थिवः ॥ १३८३ ॥ तवेदं[1] यादृशं श्लाघ्यं कुटुम्बमभवत्प्रभो ! तादृशं मादृशैर्नूनं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् ॥ १३८४ ॥ इदं च पोषयन्नत्र जैनलिङ्गेऽपि संस्थितः । अस्मदादिवदाप्नोति भवान्नैव गृहस्थताम् ॥ १३८५ ॥ लोलतां तां विनिर्जित्य येन चात्यन्तदुर्जयाम् । विदधे विद्यमानापि निःसारा रसनाप्यसौ ॥ १३८६ ॥ महामोहादिशत्रूंश्च तान्निर्जित्य बलीयसः । येन जैनपुरे दुर्गे स्थीयतेऽत्र सुखं सदा ॥१३८७॥ स चेत् त्वं न भवस्यत्र हन्त दुष्करकारकः । कीदृशास्ते भवन्त्यन्ये ब्रूहि दुष्करकारकाः ? ॥१३८८॥ ततश्च ये भवन्त्यत्र महात्मानो भवादृशाः । ध्येयास्ते स्तवनीयास्ते ते वन्द्याश्च विभान्ति मे ॥ १३८९ ॥ एवं स्थिते महामोहप्रभृत्यरिभयाद्यथा । युष्माभिः साधुभिश्चैभिर्जैनदुर्गमिदं श्रितम् ॥ १३९० ॥ तथा ममापि तद्दुर्गश्रयणेच्छाऽस्ति तद्भयात् । ततो मे दीयतां दीक्षा नाथ ! यद्यस्ति योग्यता ॥ १३९१ ॥ इत्युक्ते भूभुजा सूरिः प्रोचे राजन्नयं तव । उद्यमः सुन्दरोऽबोधि मदुक्तार्थस्त्वया ध्रुवम् ॥ १३९२ ॥ उचितैव तवाऽऽदातुं दीक्षा को हि विशारदः । जैनदुर्गं श्रयेन्नेदं महामोहादिविद्रुतः ? ॥ १३९३ ॥ गुरुणोत्साहितश्चैवं दीक्षां लातुमना नृपः ।

---

१ तदेवं या० क० ख० ग० ।

राज्ये कं स्थापयामीति दिक्षु चिक्षेप चक्षुषी ॥ १३९४ ॥ अथागृहीतमङ्केते ! तदाहं रिपुदारणः। निविष्ट-स्तत्सभामध्ये तातेन प्रविलोकितः ॥ १३९५ ॥ तदानीं च शरीरेण कृशोऽपि हि कृशोदरि !। पुण्योदयः स मे मित्रं मनाक् सस्फुरतां गतः ॥ १३९६ ॥ दध्यौ तातोऽथ मां वीक्ष्य स एष रिपुदारणः। मया नहिष्कृते गेहाद् वराकः शोच्यतां गतः ॥ १३९७ ॥ हा ! हा ! मयेदं नो चारु कृतं यद्धर्त्सितः सुतः। विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥ १३९८ ॥ तदिदं प्राप्तकालं मे राज्ये न्यस्यैनमेव यत्। कुमारं कृतकृत्योऽहं दीक्षां गृह्णामि सत्वरम् ॥ १३९९ ॥ ध्यात्वेत्याहूय मां तातः सादरं पाणिना स्पृशन्। स्वोत्सङ्गे स्थापयामास सज्ज्ञनैकशिरोमणिः ॥ १४०० ॥ सूरिं च तमथापृच्छन्मत्सुतेनामुना प्रभो !। लेभे सुकुलजन्मादिसामग्री दुर्लभा-प्यसौ ॥ १४०१ ॥ ततः किममुना तादृग् विदधे दुष्कृतं पुरा। ज्ञानालोकेन भगवान् जानन्नस्त्येव यादृशम् ॥ १४०२ ॥ सूरिणाऽभिदधे भूप ! न दोषोऽस्य तपस्विनः। शैलराजमृषावादौ तस्य सर्वस्य कारणम् । १४०३॥ भूयोऽप्यभिदधे तातो भदन्तेह कदा पुनः। आभ्यां पापवयस्याभ्यां वियोगोऽस्य भविष्यति ॥ १४०४ ॥ सूरिराह महाराज ! वियोगोऽद्यापि दुर्लभः। शैलराजमृषावादौ यतोऽस्यात्यन्तवल्लभौ ॥ १४०५ ॥ प्रकारेण पुनर्येन तद्वियोगो भविष्यति। प्राज्ये काले गते तं ते संप्रत्येव निवेदये ॥ १४०६ ॥ शुद्धाभिसन्धि-र्नामास्ति नगरे शुभ्रमानसे। नरेन्द्रस्तस्य पत्न्यौ च वरतावर्यते उभे ॥ १४०७ ॥ तयोर्यथाक्रमं कुक्षिसंभूते

१ ०नाम्नास्ति क० ख० ग० घ०। २ ०क्षिसंभवे त० क० ख० ग० घ०।

तस्य भूभुजः। मृदुतासत्यते द्वे च विद्येते कन्यके शुभे ॥ १४०८ ॥ ततोऽसौ ते यदा कन्ये लप्स्यते रिपु-
दारणः। तदा पापवयस्याभ्यामेष नूनं वियोक्ष्यते ॥ १४०९ ॥ यतः पीयूषतुल्ये ते विषपुञ्जनिभौ त्विमौ।
तस्मात्ताभ्यां सहावस्था नानयोर्भवति क्वचित् ॥ १४१० ॥ ततः प्रयोजनस्याऽस्य कश्चिदन्यो विचिन्तकः।
यत्तु तेऽभिमतं भूप! तदेवाऽऽचर सांप्रतम् ॥ १४११ ॥ तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास तदा तातः स्वचेतसि। अहो!
कष्टमहो! कष्टं मत्सुतस्य तपस्विनः ॥ १४१२ ॥ यस्येदृशौ रिपू नित्यं पार्श्वस्थौ दुःखदायिनौ। अहो! वराको
नैवायं यथार्थो रिपुदारणः ॥ १४१३ ॥ परं किं क्रियते ह्यत्र नैवास्त्यस्य प्रतिक्रिया। करोमि केवलमहं सांप्रतं
हितमात्मने ॥ १४१४ ॥ ध्यात्वेति न्यस्य मां राज्ये कृत्वान्यदपि चोचितम्। विचक्षणगुरोः पार्श्वे तातो दीक्षा-
मुपाददे ॥ १४१५ ॥ ततश्च स विवेकाद्रिस्थितोऽपि गुरुणा समम्। राजर्षिर्बाह्यदेशेषु विजहार महामतिः
॥ १४१६ ॥ ममापि प्राप्तराज्यस्य प्राप्य प्रस्तावमुन्मुदौ। शैलराजमृषावादौ सुतरां तौ विजृम्भितौ ॥ १४१७॥
हस्यमानस्ततः पिङ्गैर्निन्द्यमानश्च पण्डितैः। राज्यं चक्रे कियत्कालं पुण्योदयवशादहम् ॥ १४१८ ॥ इतश्च
तपनो नाम निःशेषनृपनायकः। चक्रवर्ती तदा भद्रे! राज्यं पालयति क्षितौ ॥ १४१९ ॥ महीदि-
दृक्षया भ्राम्यन्स सर्वबलसंयुतः। सिद्धार्थनगरे तत्र समायासीदथैकदा ॥ १४२० ॥ ततस्तदाऽऽगमोदन्तं
ज्ञात्वा विज्ञातनीतिभिः। अमात्यैरहमित्यूचे संभूय हितकामिभिः ॥ १४२१ ॥ पूज्यः समग्रभूपानां प्रचण्डा-

१ ०भ्यामाभ्यामेप वियोक्ष्यते क० ख० ग० घ०।

खण्डशासनः। षट्खण्डमेदिनीनाथस्तपनश्चक्रवर्त्यसौ ॥ १४२२ ॥ गृहानुपागतस्यास्य तदिदानीं नरेशितुः। स्नागतं क्रियतां देव ! गत्वाभिमुखमादरात् ॥ १४२३ ॥ अथाहं शैलराजेन विधुरीकृतचेतनः। प्रत्युचे स्तब्धसर्वाङ्गः सचिवांस्तान्मृगेक्षणे ! ॥१४२४॥ अरे ! विमूढाः ! को नाम तपनोऽयं ममाऽग्रतः। यदस्य पूजनं कुर्यामहं न पुनरेष मे ॥ १४२५ ॥ तच्छ्रुत्वा ते पुनः प्रोचुर्देवो मैवं प्रजल्पतु। देवेनाऽकुर्वतास्यार्चां स्वस्यानर्थः कृतो ध्रुवम् ॥ १४२६ ॥ अवज्ञातो हि चक्र्येष निग्रहानुग्रहक्षमः। देवेन्द्र इव देवानां निग्रहाय भवेन्नृणाम् ॥१४२७॥ ततोऽस्मदुपरोधेन देवेनाऽस्य विधीयताम्। औचित्यमिति जल्पन्तस्ते पेतुः पदयोर्मम ॥ १४२८ ॥ मृषावादोपदेशेन मया जगदिरेऽथ ते। न ममात्र क्षणे तावत् चित्तोत्साहोऽस्ति सर्वथा ॥ १४२९ ॥ तद्यूयमधुना यात कुरुध्वं तस्य चोचितम्। अहं तु पश्चादेष्यामि सभास्थे तत्र भूपतौ ॥ १४३० ॥ तथेति तं ममादेशं ते स्वीकृत्याथ मन्त्रिणः। तपनाभिमुखं प्रापुः[1] प्राज्यप्राभृतपाणयः ॥ १४३१ ॥ अमुं च मम वृत्तान्तं चक्रवर्ती विवेद सः। सहस्राक्षा हि राजानो भवन्ति चरलोचनैः ॥ १४३२ ॥ मन्त्रिणोऽप्यथ ते गत्वा नेमुस्तपनचक्रिणम्। तत्तदौचित्यनिर्माणाद् भृशं च तमरञ्जयन् ॥ १४३३ ॥ आवासान् दापयित्वाथ सभायां च निषद्य सः। चक्री मत्कुशलोदन्तं पप्रच्छ मम मन्त्रिणः ॥ १४३४ ॥ देव ! देवप्रसादेन कुशली रिपुदारणः। अधुना च समायास्यत्येवं तेऽपि व्यजिज्ञपन् ॥ १४३५ ॥ इयुराह्वायकास्तैश्च प्रेषिता मम सन्निधौ। शैलराजमृषावादोल्लासात्तांश्चाहमभ्यधाम्

१ प्राप्ताः प्रा० ग०।

॥ १४३६ ॥ अरे ! वदत तान् गत्वा सर्वान् सचिवपांसनान् । यत्तत्र प्रहिताः केन यूयं स्वच्छन्दचारिणः ॥ १४३७ ॥ अहं हि तत्र नैष्यामि यूयमप्यत्र सत्वरम् । आगच्छतान्यथा नास्ति जीवितं भवतामरे ! ॥१४३८॥ तच्छ्रुत्वा तैर्मदाख्याते गत्वाऽऽख्यातेऽथ मन्त्रिणः । प्रापुर्विधेयवैधुर्यं पश्यन्तस्ते मिथो मुखम् ॥ १४३९ ॥ सार्वभौमोऽथ विज्ञाय तद्भावं तानभाषत । धीरा भवत भो ! यूयं मा भैष्ट सचिवोत्तमाः ! ॥ १४४० ॥ युष्माकं नैव दोषोऽयं रिपुदारणलक्षणम् । ज्ञातं मयाऽस्ति तत्तस्य भलिष्याम्यहमेव हि ॥ १४४१ ॥ युष्माभिः केवलं स्वामिभक्तिर्धार्यात्र नाधुना । न युष्मादृशपत्तीनां क्षुद्रोऽयमुचितः खलु ॥ १४४२ ॥ नाभाग्योऽस्य च योग्योऽयं राज्यस्य प्राज्यसंपदः । न ह्याम्रपल्लवास्वादं मौलिरर्हति जातुचित् ॥ १४४३ ॥ ततस्तैर्मन्त्रिभिः सर्वैर्विरक्तैर्नितरां मयि । स राजेन्द्रसमादेशस्तथेति प्रत्यपद्यत ॥१४४४॥ आहूयाऽऽदिश्य च श्रोत्रे कर्त्तव्यं चक्रवर्त्यथ । योगेश्वराख्यं मत्पार्श्वे प्राहिणोत्तन्त्रवादिनम् ॥ १४४५ ॥ सोऽप्याययौ मदभ्यर्णं भूरिराजनरान्वितः । सभास्थं मामपश्यच्च स्तब्धं षिङ्गजनावृतम् ॥ १४४६ ॥ स्थित्वाथ पुरतो योगचूर्णमुष्ट्या स मां मुखे । जघान तत्प्रभावाच्च व्यामोहो मे महानभूत् ॥ १४४७ ॥ योगी तपनसत्कोऽयमिति संचिन्तयन्स तु । मम षिङ्गपरीवारो विधेयविधुरोऽभवत् ॥१४४८॥ पूर्णोऽवधिरिति ध्यात्वाऽनेशत्पुण्योदयोऽपि सः । शैलराजमृषावादौ तिरोभूतौ च तौ तदा ॥ १४४९ ॥ अरे ! रे ! दुष्ट ! नायासि देवपादान्तिके मदात् । इत्युक्त्वा सोऽथ योगेशो वेत्रयष्ट्या जघान माम् ॥ १४५० ॥

१ उष्ट्रः । २ मनागभूत् क० ख० घ० ग० । ३ त्वाऽनशत् ग० ।

जातभीतिर्जातदैन्यो जातधातुविपर्ययः । ततो दास इवोत्थायापतं तत्पादयोरहम् ॥ १४५१ ॥ योगेश्वरसमादेशादथ ते राजपूरुषाः । विरलं चक्रिरे क्रूराः पिशाचमिव मां बलात् ॥ १४५२ ॥ प्रसांध्य चूर्णमध्याद्यैः कुण्डान्तश्च विधाय माम् । प्रदातुं प्रारभन्तेति गायन्तस्तेऽथ रासकम् ॥ १४५३ ॥ यो ह्यलीकमदं कुर्यादनृतं च वदेत् कुधीः । स पापो नूनमत्रैव प्राप्नोत्येवं विडम्बनाः ॥ १४५४ ॥ एवं च गायतां तेषां सहासं च प्रनृत्यताम् । गायन्नृत्यन्हसंस्तद्वत्तत्पादेषु पताम्यहम् ॥ १४५५ ॥ चेष्टमानं तथा दृष्ट्वा तेऽथ मां नृपपूरुषाः । सतालहासं नृत्यन्तो भूयोऽप्येवं जगुस्तराम् ॥ १४५६ ॥ गुर्वादिष्वपि यः पूर्वं न नतो रिपुदारणः । दासांह्रिष्वपि सोऽद्यैष नमत्याश्चर्यमीक्ष्यताम् ॥ १४५७ ॥ ममापि वदतो वक्त्रं स्फुटित्वाऽथेदमागतम् । अलीकभाषिणा गर्वस्तब्धाङ्गेन च यन्मया ॥ १४५८ ॥ विदधे सज्जनावज्ञामातृदारवधादिकम् । तस्य पापस्य मे नूनं फलमेता विडम्बनाः ॥ १४५९ ॥ युग्मम् ॥ ज्ञातमत्पूर्ववृत्तेन प्रेरितास्तेन योगिना । निघ्नन्तो मां भृशं पादैरिति भूयोऽपि ते जगुः ॥ १४६० ॥ गुर्ववज्ञां मदात् कुर्यान्मिथ्या ब्रूते च यः कुधीः । विधापयति तस्यैवं तपनोऽयं विडम्बनाः ॥ १४६१ ॥ एवं च ते प्रगायन्तः प्रहरन्तश्च पार्ष्णिभिः । मुमूर्षुमिव मां चक्रुः कीनाशस्येव किङ्कराः ॥ १४६२ ॥ तथापि माममुञ्चन्तो नाटयन्तस्तथैव च । बलादाखेटयन्तश्च निन्युस्ते चक्रिपर्षदि ॥१४६३॥ दर्शितं च विशेषात्तैस्तत्र प्रेक्षणीयकम् । जगौ योगेश्वरश्चैवं स्थित्वान्तःकुण्डकं तदा ॥ १४६४ ॥ रिपुदारण ! रे ! क्षुद्र ! वीक्ष्यसे

१ मण्डलमध्ये । २ नृत्यन्ति भूयो क० ख० घ० ।

किमितस्ततः । देवाग्रे नृत्य नृत्योच्चैः सर्वेषां च पतांह्रिषु ॥ १४६५ ॥ इत्यन्येष्वपि गायत्सु रासकं च ददत्स्वहम् । अप्यन्त्यजानां पादेषु स्वदोषनिहतोऽपतम् ॥ १४६६ ॥ एवं विडम्ब्यमानं मां विलोक्य सकलो जनः । आचुक्रोश निराशङ्कं सतालं प्रजहास च ॥ १४६७ ॥ चक्रवर्त्यथ सिद्धार्थपुरराज्ये ममानुजम् । कुलभूषणनामानं निवेश्य स्वं पुरं ययौ ॥ १४६८ ॥ एवं पार्ष्णिप्रहारैस्तैर्जठरे पतितासृजः । जीर्णा सैकभववेद्या गुटिका मे सुलोचने ! ॥ १४६९ ॥ गुटिकामथ दत्त्वाऽन्यां निन्ये मां भवितव्यता । तस्यां पापिष्ठवासायां पुर्यां सप्तमपाटके ॥ १४७० ॥ तत्राहं जातपापिष्ठकुलपुत्रकरूपकः । स्थितोऽर्णवांस्त्रयस्त्रिंशद् वज्रकण्टकमध्यगः ॥ १४७१ ॥ गुटिकादानयोगेन नीत्वाथ भवितव्यता । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने पुरे [2]फेरुं चकार माम् ॥ १४७२ ॥ एवं चासंव्यवहारं पुरमेकं विना तथा । [3]भ्रामितोऽहं बहुं कालं सर्वस्थानेषु भूरिशः ॥ १४७३ ॥ सर्वत्र विहितश्चाहं हीनजातिकुलादिकः । जिह्वाच्छेदनमूकत्वमन्मनत्वादिभाक् तथा ॥ १४७४ ॥ एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । चिन्तितं यदहो ! मानानृतयोः कापि रौद्रता ॥१४७५॥ यदनेन तदायत्तेनाऽहारि नृभवस्तथा । भवे दुःखानि निन्द्यानि जात्यादीनि च लेभिरे ॥ १४७६ ॥ संसारिजीवः प्रोचेऽथ भवचक्रे पुरेऽन्यदा । सा मां मर्त्यं व्यधात्तत्र चाहं मध्यगुणोऽभवम् ॥ १४७७ ॥ तादृक्षमथ मां वीक्ष्य मित्रं पुण्योदयं पुनः । प्रकाश्य समभाषिष्ट प्रहृष्टा भवितव्यता ॥ १४७८ ॥ त्वया मनुजगत्यन्तर्वर्द्धमानपुरेऽधुना । गन्तव्यमार्यपुत्रैष तव पुण्योदयः सखा ॥ १४७९ ॥ तथेति प्रतिपेदाने

१ °शान् व ता० क० ग० घ० । २ फेरम् क० ग० घ० । ३ भ्रमितो क० ख० ग० घ० ।

मगि सा भवितव्यता । जीर्णायां मे पुरातन्यां गुटिकामपरां ददौ ॥ १४८० ॥ इति जडस्य कथां रिपुदारणस्य च निशम्य विपाकसुदारुणाम् । रसमदानृतलम्पटतां जनाः ! त्यजत गच्छत येन परं पदम् ॥ १४८१ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे मानमृषावादरसनेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम चतुर्थः प्रस्तावः समाप्तः ।

पञ्चमः प्रस्तावः

इतश्चास्ति प्रसिद्धं तद् वर्द्धमानाभिधं पुरम् । राजहंसकृतावासं पद्मासद्म च पद्मवत् ॥ १ ॥ यत्र[1] प्रासाद-शृङ्गस्थैर्ज्योतिर्भिर्ज्योतिरुज्ज्वलैः । दीपोत्सव इवाजस्रं शर्वरीषु विधीयते ॥ २ ॥ धवलस्वयशोराशिधवलीकृतविष्टपः । तत्राभूद् धवलो नाम धरित्रीधवपुङ्गवः ॥ ३ ॥ दुर्वारप्रसरो यस्य प्रतापदवपावकः । विपक्षभूभृतां [2]वंशानुवोष निखिलानपि ॥ ४ ॥ कमलास्या कमलाक्षी कमलेवान्यमूर्तिभाक् । तस्याग्रमहिषी जज्ञे नाम्ना कमलसुन्दरी ॥ ५ ॥ तस्याः कुक्षिसमुद्भूतः सद्भूतगुणमन्दिरम् । बभूव भूपतेस्तस्य विमलो नाम नन्दनः ॥ ६ ॥ तत्र चासीत् पुरे पौरराजमान्यो महाधनः । [3]सोमदेवाभिधः श्रेष्ठी सर्वश्रेष्ठगुणाश्रयः ॥ ७॥ जज्ञे तस्य च शीलादिगुणरत्नमहा-

१ तत्र ग० । २ वंशान् जघान इत्यर्थः । ३ साम क० ख० ।

खनिः। कान्ता कनकगौराङ्गी नाम्ना कनकसुन्दरी ॥ ८ ॥ भवितव्यतया क्षिप्तस्तस्याः कुक्षावहं ततः। काले मां सुषुवे सापि सुतं पुण्योदयान्वितम् ॥ ९ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्यानि कृत्वा तौ पितरावथ। चक्रतुः समये वामदेव इत्यभिधा मम ॥ १० ॥ पितृभ्यां पाल्यमानोऽथ जातसर्वसमीहितः। चूतद्रुम इवारामे तत्राहं ववृधे क्रमात् ॥ ११ ॥ अथाहमन्यदा किञ्चिद् व्यक्तचैतन्यसंगतः। कृष्णं नरद्वयं वक्रां नारीमेकां च दृष्टवान् ॥ १२ ॥ अथैकस्तत्र मां स्नेहाद् गाढमालिङ्ग्य[1] पूरुषः। मित्र! प्रत्यभिजानीषे किं मां नो वेत्यभाषत ॥ १३ ॥ नेत्युक्तेऽथ मया जातविषादः सोऽवदत्पुनः। चिरदृष्टोऽप्यहं मित्र! कथं ते विस्मृतिं गतः ॥ १४ ॥ मयोक्तं कुत्र दृष्टोऽसि त्वं मया वरलोचन!। तेनोक्तं कथयाम्येष समाकर्णय सांप्रतम् ॥ १५ ॥ नगरेऽसंव्यवहारे वास्तव्यस्त्वं पुराऽभवः। तत्राऽऽसन्मादृशाः प्राज्या मां विना सुहृदस्तव ॥ १६ ॥ भ्रमणायान्यदा कर्मपरिणामनिदेशतः। भवितव्यतया सार्द्धं निर्यातस्त्वं स्वभार्यया ॥ १७ ॥ अथैकाक्षविकलाक्षनिवासपुरयोर्भ्रमन्। पञ्चाक्षपशुसंस्थाने समायातस्त्वमेकदा ॥ १८ ॥ संज्ञ्यन्तःस्थस्य तत्रापि तवाहमभवं सुहृत्। तिरोभूतः परं तेन न सम्यग् लक्षितस्त्वया ॥ १९ ॥ प्रभूतकालं तत्राथ स्थित्वा त्वं नगरात् ततः। भ्राम्यन् मनुजगत्यन्तः सिद्धार्थपुरमागतः ॥ २० ॥ नरवाहनराजस्य गृहे त्वं तत्र च स्थितः। दिनानि कतिचित् ख्यातो रिपुदारणसंज्ञया ॥ २१ ॥ संसारिजीव इत्याख्या बभूवावस्थिता तव। वासके वासके किन्तु जायते साऽपराऽपरा ॥ २२ ॥ ततस्तत्र स्थितेनाहं मृषावाद इति स्फुटम्। वयस्य! प्रत्यभिज्ञातो भवता वरलोचन! ॥ २३ ॥ सार्द्धं मयाथ तत्र त्वं चिक्रीडिथ निजेच्छया। बभूव च परा

[1] बाढं० ग०।

प्रीतिर्मत्कलाकौशले तव ॥ २४ ॥ रागकेशरिनन्दिन्या मायाया उपदेशतः । ममेदृक् कौशलमिति त्वत्पृष्टोऽहं तदाऽवदम् ॥ २५ ॥ ममापि दर्शनीया सा मायेति त्वमथाऽवदः । मयापि प्रतिपन्नं तत्तावकीनं वचस्तदा ॥ २६ ॥ प्रतिपन्नस्य तस्याथ सोऽहमेषोऽधुना स्मरन् । तामात्मजामिमादायाऽऽगतस्त्वद्दर्शनेच्छया ॥ २७ ॥ ततश्च स तदा तादृक् स्नेहस्तव मया सह । अपि प्रत्यभिजानासि न मां त्वमधुना पुनः ॥ २८ ॥ तदेष मन्दभाग्योऽहं त्वयाऽवगणितोऽधुना । क यामि ? क च तिष्ठामि ? किं करोमि ? च सुन्दर ! ॥२९॥ मयोचे न स्मराम्येनं वृत्तान्तं भद्र ! भावतः । मच्चित्तेऽदस्तथाप्यस्ति यथा त्वं चिरसंगतः ॥ ३० ॥ यतस्त्वां वीक्ष्य मे जज्ञे चित्तानन्दोऽधुना महान् । जातिस्मरा ततो मन्ये दृष्टिरेषा शरीरिणाम् ॥ ३१ ॥ तस्मादत्र न कर्त्तव्यः खेदो भद्रेण सर्वथा । वयस्यः प्राणतुल्यस्त्वं ब्रूहि यत्ते प्रयोजनम् ॥ ३२ ॥ तेनोक्तमियदेवात्र मम मित्र ! प्रयोजनम् । यदेषाऽऽत्मीयभगिनी दर्शिता तेऽतिवत्सला ॥ ३३ ॥ मायेति सुप्रसिद्धापि जनैश्चरितरञ्जितैः । इयं च बहुलिकेति प्रियनाम्नाऽभिधीयते ॥ ३४ ॥ तदेनया समं सौम्य ! वर्त्तितव्यं मया यथा । अहं तिरोभविष्यामि नास्ति मेऽवसरोऽधुना ॥ ३५ ॥ किन्त्वेषा मित्र ! यत्राऽऽस्ते तत्राहं स्थित एव हि । परस्परानुविद्धं हि स्वरूपं सर्वदाऽऽवयोः ॥ ३६ ॥ एषोऽपि पुरुषो भद्र ! कनिष्ठो मे सहोदरः । स्तेयनामा महावीर्यस्तव सख्यं समीहते ॥ ३७ ॥ प्रस्तावमधुना ज्ञात्वा तत्तेऽयमपि दर्शितः । तद् दृश्यः स्नेहभावेनासावप्यहमिव त्वया ॥ ३८ ॥ मयोचे ते स्वसा येयं सा ममापि स्वसाऽनघ ! । सोदरस्तव यश्चायं स ममापि हि सोदरः ॥ ३९ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा सोऽथ हृष्टस्तिरोदधे । तौ

च बहुलिकास्तेयौ मच्छरीरमविक्षताम् ॥ ४० ॥ तयोश्चाहं प्रभावेण प्रभूतकलुषाशयः । वञ्चयामि जनं सर्वं मुष्णामि च यदृच्छया ॥ ४१ ॥ एवं विचेष्टमानोऽहं लघुर्जज्ञे तृणादपि । द्विजिह्व इव लोकानामविश्वास्यो बभूव च ॥ ४२ ॥ इतश्च राजपत्नी या प्रोक्ता कमलसुन्दरी । मज्जनन्याः सखी साभूत्सर्वकालमतिप्रिया ॥ ४३ ॥ ततः स कुक्षिभूस्तस्या विमलो नृपनन्दनः । संजातो मातृसंबन्धाद् वयस्यः परमो मम ॥ ४४ ॥ स्वसृप्रभावाद् दम्भेन वर्त्ते तत्रापि किन्त्वहम् । मयि निश्छद्मभावेन स पुनः सरलाशयः ॥ ४५ ॥ वर्त्तमानः स मय्येव-मभ्यस्ताखिलसत्कलः । कन्दर्पभूपतिक्रीडावनं यौवनमासदत् ॥ ४६ ॥ अथान्यदा मया सार्द्धं धवलोर्वीशनन्दनः । स क्रीडानन्दनं नामाऽदृष्टपूर्वं ययौ वनम् ॥ ४७ ॥ स्वेच्छया रममाणाभ्यामावाभ्यां तत्र शुश्रुवे । नूपुराराव-संमिश्रः कयोश्चिन्निभृतो ध्वनिः ॥ ४८ ॥ ततस्तदनुसारेण पर्यटद्भ्यामदृश्यत । एकत्र नृमिथुनस्य कस्यापि पदपद्धतिः ॥ ४९ ॥ विमलस्तां विलोक्याथ प्रत्यभाषत मामिति । मिथुनं तन्न सामान्यं यस्यैषा पदसंततिः ॥ ५० ॥ स्वस्तिकाङ्कुशचक्रादिलाञ्छिता रुचिराकृतिः । इयं हि तस्य युग्मस्य सूचयत्यद्भुतां श्रियम् ॥ ५१ ॥ मयोक्तमग्रतो गत्वेक्ष्यते तर्हि कुमार ! तत् । ततोऽग्रतो गतावावामपश्याव लतागृहम् ॥ ५२ ॥ निरूपिते लताच्छिद्रैस्तत्रावाभ्यामथैक्ष्यत । तन्मिथुनकमासीनं रतिमन्मथविभ्रमम् ॥ ५३ ॥ अपसृत्याथ निभृतं विमलो मामवोचत । वामदेव ! न सामान्याविमौ स्त्रीपुरुषौ ध्रुवम् ॥ ५४ ॥ यतोऽनयोर्यथा पुण्यलक्षणा

१ भूप० क० ख० ग० । २ मन्दः । ३ पाद० ग० ।

पदपद्धतिः । तथा निःशेषमप्यङ्गं पुण्यलक्षणलक्षितम् ॥ ५५ ॥ चक्रवर्त्ती भवेन्नूनं नरोऽमूदृशलक्षणैः । वनितापीदृशी भद्र ! जाया तस्यैव जायते ॥ ५६ ॥ अथाहमवदं पुंस्त्रीलक्षणाकर्णने महत् । कौतुकं मे तदाख्यातुं कुमारोऽर्हति तानि मे ॥ ५७ ॥ इति पृष्टो मया सोऽथ धवलक्षितिपाङ्गभूः । समारब्धः समाख्यातुं यावत्तानि सविस्तरम् ॥ ५८ ॥ समाकृष्टासिदुर्दर्शौ तस्योपरि लतौकसः । तावन्नभोऽध्वना कौचिन्नरौ द्वौ समुपेयतुः ॥ ५९ ॥ (युग्मम्) ॥ सुदृष्टं कुरु रे लोकं स्वराभीष्टां च देवताम् । नश्यतोऽपि न ते मोक्षोऽस्तीत्येकोऽथावदत्तयोः ॥ ६० ॥ तदाकर्ण्य लतागेहमध्यवर्त्ती स पूरुषः । धीरा भवेति संस्थाप्य तां स्त्रियं भीरुमानसाम् ॥ ६१ ॥ अरे रे स्ववचो नैव विस्मर्त्तव्यमिति ब्रुवन् । तत्संमुखमुदस्तासिरुत्पपात लतागृहात् ॥ ६२ ॥ युयुधाते महायोधौ सक्रोधौ दिवि तौ ततः । ध्वनिताशेषदिक्चक्रौ क्ष्वेडाप्रहरणारवैः ॥ ६३ ॥ तयोः प्रहरतोरेवं द्वितीयः स पुमानथ । तत्प्रवेष्टुं लतावेश्म वीक्षते स्म मुहुर्मुहुः ॥ ६४ ॥ सापि बाला तमालोक्य व्याधं मृगवधूरिव । पलायितुं प्रववृते भयसंभ्रान्तलोचना ॥ ६५ ॥ नश्यन्ती सा विलोक्याथ विमलं प्रत्यभाषत । त्रायस्व मां नरश्रेष्ठ ! त्रायस्व शरणागताम् ॥ ६६ ॥ विमलः प्राह मा भैषीः स तु तत्रागतः पुमान् । स्तम्भितो वनदेव्याशु कुमारगुणतुष्टया ॥ ६७ ॥ इतः स पुरुषस्तेन युग्मपुंसा विनिर्जितः । पलायिष्ट नरोऽप्याशु दधावे तस्य पृष्ठतः ॥ ६८ ॥ यियासुं पृष्ठतस्तस्य ज्ञात्वाथ वनदेवता । मुमोच स्तम्भितनरं ययौ सोऽप्यनुयुग्मिनम् ॥ ६९ ॥ तेषु त्रिष्वपि यातेषु नृषु चक्षुरगोचरम् । प्रवृत्ता सा विलपितुं बाला प्रियवियोगतः ॥ ७० ॥ तां

कृच्छ्रेणाथ संस्थाप्य यावदावां स्थितौ क्षणम् । तावन्मिथुनकस्तस्या विजयी द्रागुपाययौ ॥ ७१ ॥ तद्दर्शनसुधावृष्टिसंजातानन्दकन्दला । सर्वं स्वोदन्तमाचख्यौ सा च तस्मै शुचिस्मिता ॥ ७२ ॥ प्रणम्य विमलं प्रोचे सोऽथ हृष्टः कृताञ्जलिः । त्वं मे बन्धुः पिता माता जीवितं च नरोत्तम ! ॥ ७३ ॥ ममेयं रक्षिता तस्माद् दुष्टाद् येन प्रिया त्वया । किङ्करः किं करोत्वेष तज्जनो धीर ! ते प्रियम् ॥ ७४ ॥ विमलोऽभिदधे भद्र ! संभ्रमेणामुना कृतम् । त्रातुं केऽत्र वयं ? त्राता त्वयैवैषा स्वतेजसा ॥ ७५ ॥ किन्तु मे कौतुकं भूरि ततो भद्रेण कथ्यताम् । वृत्तान्तः को न्वसौ किं वा गतस्याभूत्तवाधुना ॥ ७६ ॥ यद्येवं तत् कुमारेण क्षणमत्रास्यतामिति । तेनोक्तेऽथ लतागारे तत्र सर्वेऽप्युपाविशन् ॥ ७७ ॥ स प्रोचेऽथ कुमारास्ति विद्याधरनिवासभूः । भूरिभासुररूप्याढ्यो वैताढ्यो नाम भूधरः ॥ ७८ ॥ तस्मिंश्च दक्षिणश्रेण्यां पुरे गगनशेखरे । भूपतिः कनकशिखारमणोऽभून्मणिप्रभः ॥ ७९ ॥ बभूव तनयस्तस्य रत्नशेखरनामकः । रत्नशिखामणिशिखाभिधे दुहितरौ पुनः ॥ ८० ॥ मेघनादो रत्नशिखामुपयेमे नभश्चरः । रत्नचूडाभिधानोऽहं तयोश्च तनयोऽभवम् ॥ ८१ ॥ विद्याधरो मणिशिखामुपायंस्ताऽमितप्रभः । तयोः पुत्रावजायेतामचलश्चपलस्तथा ॥ ८२ ॥ रतिकान्ताभिधा रत्नशेखरस्य प्रियाभवत् । तयोः पुत्रीयमेकैव संजज्ञे चूतमञ्जरी ॥ ८३ ॥ इतो बालसुहृद् रत्नशेखरस्यास्ति शुद्धधीः । सिद्धपुत्रश्चन्दनाख्यो जैनधर्मविचक्षणः ॥ ८४ ॥ तत्संसर्गादभूद् रत्नशेखरः परमार्हतः । तस्योपदेशतश्चाहं मदीयपितरावपि ॥ ८५ ॥ अथैवमन्यदा रत्नशेखराय समाख्यत । चन्दनः सिद्धपुत्रः स निमित्तज्ञानपण्डितः ॥ ८६ ॥ यथायं भागिनेयस्ते पुण्यलक्षण-

लक्षितः । रत्नचूडोऽचिराद्विद्याधरचक्री भविष्यति ॥ ८७ ॥ तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽथ प्रददौ रत्नशेखरः । उचितोऽयमिति ज्ञात्वा ममैनां चूतमञ्जरीम् ॥ ८८ ॥ मया तस्यामुदूढायामचलश्चपलश्च तौ । क्रुद्धौ तदपहारार्थं मच्छिद्राणि स्म पश्यतः ॥ ८९ ॥ तत्स्वरूपावबोधाय मुखराख्यो मया चरः । प्रयुक्तोऽथ समेत्याद्य स मे प्रातर्न्यवेदयत् ॥ ९० ॥ देव ! कालीं क्वचिद्विद्यां साधयित्वा बहिश्चिरात् । तावद्य गृहमायातौ कुर्वाते स्मेति मन्त्रणम् ॥ ९१ ॥ योद्धव्यं रत्नचूडेन सार्द्धमेकेन केनचित् । अपरेण तु हर्त्तव्या तूर्णं सा चूतमञ्जरी ॥ ९२ ॥ तदेवं संस्थिते देव ! यद्युक्तं तद्विधीयताम् । मयाप्यथ तदाकर्ण्य चिन्तितं निजचेतसि ॥ ९३ ॥ सविद्यावपि तौ हन्तुं शक्तो यद्यप्यहं बलात् । तथापि तौ न हन्तव्यौ मया मातृष्वसुः सुतौ ॥ ९४ ॥ दुर्यशो धर्महानिश्च ध्नतस्तौ स्याद्यतो मम । तयोस्तु न किमप्यस्त्यकर्त्तव्यं दुष्टशीलयोः ॥ ९५ ॥ तत् तौ छलेन यद्येनां हरतश्चूतमञ्जरीम् । गृह्णतो मुञ्चतश्च स्यात् तदा मे लाघवं परम् ॥ ९६ ॥ ममान्यो न च कोऽप्यस्ति सहायो यो हि शुद्धधीः । ममैनां युध्यमानस्य त्रायते चूतमञ्जरीम् ॥ ९७ ॥ तदेवं संस्थिते युक्तमपक्रमणमेव मे । ध्यात्वेत्येनां गृहीत्वाऽहमुद्यानेऽत्र समागतः ॥ ९८ ॥ सवल्लभः स्थितश्चास्मि यावदत्र लतागृहे । मामन्वेवागतौ तावदचलश्चपलश्च तौ ॥ ९९ ॥ अथाचलेन साक्षेपमाहूतो गाढदर्पतः । प्रियाप्रेमनिबद्धोऽपि तत्संमुखमधाविषम् ॥ १०० ॥ खे युद्धं चावयोर्लग्नं तद् युष्माभिरपीक्षितम् । यावन्नष्टेऽचले तस्मिन्नहं तमनुधावितः ॥१०१॥ दूरे प्राप्तोऽथ स मयोत्तेजितो निष्ठुरोक्तिभिः ।

१ ०णाम् ग० । २ यमु० क० ख० ।

फणीव यष्टिसंस्पृष्टः संमुखं ववले मम ॥ १०२ ॥ योधयित्वा क्षणं सोऽथ धृत्वा च पद्योर्मया । गाढमास्फोटितः क्रोधान्नभस्थेनैव भूतले ॥ १०३ ॥ चूर्णिताशेषदेहत्वाद् ज्ञात्वा तं समराक्षमम् । ववलेऽहमथ क्षिप्रं प्रियाशुद्धिसमुत्सुकः ॥१०४॥ वलमानश्च संवीक्ष्याभ्यायान्तं चपलं जवात् । अचिन्तयमहं चित्ते शङ्काकुलितमानसः ॥१०५॥ अये ! दृष्टा किमेतेन चपलेन न मे प्रिया। किं वा रतमनिच्छन्ती जघ्ने रोषादुरात्मना ? ॥१०६॥ दृष्टायामथ जीवन्त्यां तस्यां न खलु जातुचित्। एवमेत्येष तदहं सांप्रतं किं करोमि ? हा ! ॥१०७॥ यावच्च चिन्तयाम्येवं चपलस्तावदाययौ । लग्नं तेनापि सार्द्धं मे बृहदायोधनं ततः ॥ १०८ ॥ तमप्यचलवज्जित्वा द्रुतमेषोऽहमागमम् । प्रेयसीगोचरानेककुविकल्पसमाकुलः ॥१०९॥ दृष्टायामधुना त्वस्यां दयितायां तथानया। कथिते तव माहात्म्ये सुस्थं चेतो ममाभवत् ॥ ११० ॥ प्रथमोपकृतिक्रीतोऽधुनास्या रक्षणात्ततः । कुमाराहमनीहस्य किं प्रत्युपकरोमि ते ? ॥ १११ ॥ इत्युक्त्वाविश्रकारैष रत्नमेकं नभश्चरः । विकाशि स्वप्रकाशेन जितमार्तण्डमण्डलम् ॥ ११२ ॥ कृतेन्द्रकार्मुकं तच्च रोचिर्भिर्मेचकैः पुरः । सितादिवर्णभेदेन निश्चेतुं नैव पार्यते ॥ ११३ ॥ स प्रोचे पुनरप्येवं यथा रत्नमिदं पुरा । देवेनैकेन तुष्टेन प्रदत्तं मे सुमेचकम् ॥ ११४ ॥ रोगदारिद्र्यदौर्भाग्यक्षुद्रोपद्रवविद्रवम् । सर्वापत्तिविघातं च करोत्येतच्च देहिनाम् ॥ ११५ ॥ यद्वा नास्त्येव तल्लोके यदभीष्टं क्षणादपि । चिन्तारत्नमिवानर्घ्यमनर्घ्यं न करोत्यदः ॥ ११६ ॥ तदस्य ग्रहणादार्यः करोतु मदनुग्रहम् । भवन्ति हि महात्मानः परानुग्रहसाग्रहाः ॥ ११७ ॥ विमलोऽथ जगादेवं मुच्यतामयमाग्रहः । अस्तु पार्श्वे तवैवेदं करिष्येऽहमनेन किम् ?

॥ ११८ ॥ किञ्चात्र खलु दुष्प्रापं त्वादृशां दर्शनं सताम् । तच्च प्राप्नुवता सौम्य ! किं किं नासादितं मया ? ॥ ११९ ॥ चूतमञ्जर्यथोवाच विमलं यन्महाशय ! । अभ्यर्थनार्यपुत्रस्य सफलीक्रियतामसौ ॥ १२० ॥ निःस्पृहा अपि चित्तेन जने प्रणयिनि ध्रुवम् । सन्तो नाभ्यर्थनाभङ्गं दाक्षिण्याज्जातु कुर्वते ॥ १२१ ॥ यावद्दत्ते विचार्याथ विमलः किञ्चिदुत्तरम् । तावद्बबन्ध तद्रत्नं वस्त्रान्ते तस्य खेचरः ॥ १२२ ॥ तादृक्षरत्नलाभेऽपि निरानन्दं निरादरम् । विलोक्य विमलं दध्यौ चित्ते चैवं स विस्मितः ॥ १२३ ॥ अहो ! कोऽप्येष पुंश्रेष्ठः सर्वाद्भुतगुणास्पदम् । ईदृक्षरत्नलाभेऽपि यस्येदृग् निःस्पृहं मनः ॥ १२४ ॥ तदेनमस्य सुहृदं प्रक्ष्यामि यदेष कः ? । किंकुलः ? किंपिता ? क्वत्यः ? किंधर्म्मा च नरोत्तमः ? ॥ १२५ ॥ ध्यात्वेति चिन्तितमसौ मां पप्रच्छ रहस्यथ । आचख्यावहमप्येवं महाभाग ! निशम्यताम् ॥ १२६ ॥ वर्द्धमानपुरस्यास्य प्रभोर्धवलभूपतेः । सुतोऽयं विमलो नाम क्षत्रियाणां शिरोमणिः ॥१२७॥ धर्मस्तु कोऽपि नाद्यापि प्रपन्नोऽस्ति विशेषतः । लोकोत्तरं तथाप्यस्य किञ्चिद् वृत्तं महात्मनः ॥ १२८ ॥ इत्थं सोऽथ समाकर्ण्य रत्नचूडो व्यचिन्तयत् । साध्वनेन समाख्यातं तन्मे युक्तमदोऽधुना ॥१२९॥ दर्शयामि यदेतस्यार्हद्बिम्बमुपकारकृत् । भाविन्यत्र ममाप्येवं पूर्णा प्रतिकृतस्पृहा ॥ १३० ॥ ध्यात्वेत्यूचे स विमलं कुमारात्र वने पुरा । आसीदुपागतो मातामहो मम मणिप्रभः ॥१३१॥ वीक्ष्याभिराममेतच्च स श्रीनाभेयमन्दिरम् । विद्याधरावताराय कारयामास सुन्दरम् ॥ १३२ ॥ अत एव पुरोद्याने बहुशोऽहमिहागतः । ततो मेऽनुग्रहं कृत्वा तत्कुमारेण वीक्ष्यताम् ॥ १३३ ॥ एवमस्त्विति हृष्टेन विमलेन

प्रजल्पिते । सर्वेऽपि तत्र तीर्थेशसदने समुपाययुः ॥ १३४ ॥ नानाविधमणिस्वर्णशिलासंघातनिर्मितम् । मेरुशृङ्ग-मिवोत्तुङ्गं सर्वेऽपि ददृशुश्च तत् ॥१३५॥ तदन्तस्तैः प्रविष्टैश्च ददृशे रत्ननिर्मितम् । बिम्बं युगादिदेवस्य सुधाञ्जन-निभं दृशोः ॥ १३६ ॥ नेमुस्तदथ सर्वेऽपि रोमाञ्चाञ्चितविग्रहौ । ववन्दाते च विधिना तौ तु[1] खेचरदम्पती ॥ १३७ ॥ चराचरजगद्बन्धोर्बिम्बमाद्यजिनस्य तत् । पश्यन्संचिन्तयामास शुद्धधीर्धवलात्मजः ॥ १३८ ॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिरहो ! वीतविकारता । अस्य देवाधिदेवस्य सर्वातिशयशालिनः ॥ १३९ ॥ तदस्याऽऽ-ख्याति देवस्य मूर्तिरेवास्तदोषताम् । नहि मध्यस्थिते व्याधौ सश्रीकं स्याद्वपुः क्वचित् ॥ १४० ॥ दृष्टपूर्वो ममायं तत्[2] क्वापीति प्रतिभासते । न तु स्मृतिपथं याति मन्दाभ्यासस्य शास्त्रवत् ॥ १४१ ॥ एवं च विमल-स्योच्चैस्तदा चिन्तयतः सतः । अतुच्छा समभून्मूर्च्छा जातिस्मृतिनिबन्धनम् ॥ १४२ ॥ सम्भ्रान्तेन मया रत्न-चूडेनाप्युपवीजितः । सञ्जातजातिस्मरणः सोऽथ सम्प्राप चेतनाम् ॥ १४३ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽथ रत्नचूडेन भूपभूः । तत्पादावश्रुपूर्णाक्षः प्रणनाम मुहुर्मुहुः ॥ १४४ ॥ ऊचे च जीवितं[4] बन्धुर्नाथो माता पिता गुरुः । देवता परमात्मा च त्वं मे सफलदर्शन ! ॥ १४५ ॥ येन त्वया दर्शितस्य जिनबिम्बस्य दर्शनात् । जातिस्मरणमुत्पेदे मम कल्याणकारणम् ॥ १४६ ॥ ततो यत्र भवे प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुज्ज्वलम् । तस्मादारभ्य सर्वेऽपि मया व्यक्तं भवाः स्मृताः ॥ १४७ ॥ तेषां च स्मरणाज्जैने धर्मे लीनं मनो मम । तदेवं यच्छता धर्मं किं मे नोपकृतं त्वया ?

---

१ ०स्थैः प्र० ता० । २ च खे० कृ० ख० ग० घ० । ३ च का० कृ० ख० ग० घ० । ४ ० जीवितः ग० ।

॥ १४८ ॥ निर्व्याजगुरुकल्पस्य तत्तेंऽह्रिनमनादिकः। विनयः क्रियते योऽसौ लज्जायै स न मे ध्रुवम् ॥ १४९ ॥ एवं ब्रुवन् स भूयोऽपि यावन्नमति तत्पदौ। तावद्दोर्ष्णोर्दधानस्तं प्रत्युवाच स खेचरः ॥ १५० ॥ पर्याप्तं सम्भ्रमेणैवं कुमार! स्वयमेव हि। श्रेयसामीदृशं पात्रं भवान् केऽत्र वयं ननु? ॥ १५१ ॥ निमित्तमात्रं किन्त्वत्र ममापि हि समेयुषः। त्वयि प्रत्युपकारेच्छा सांप्रतं सफलाऽभवत् ॥१५२॥ तादृग् रत्नार्पणेनापि महेच्छस्य पुरा तव। कृतः प्रत्युपकारोऽभून्न कोऽपि हि यतो मया ॥१५३॥ विमलोऽथ पुनः प्रोचे धर्मेऽर्हद्धापितेऽङ्गिनः। याति योऽपि निमित्तत्वं सोऽपि धर्मगुरुः खलु ॥ १५४ ॥ भवांस्तु भगवद्बिम्बदर्शनाद्धर्म्मवर्त्मनि। मामित्थं स्थापयन् धर्म्माचार्य एव मम ध्रुवम् ॥ १५५ ॥ तदेवं विहितानन्यसामान्योपकृतेस्तव। प्राणैरपि प्रयात्यार्य! न निष्क्रयमयं जनः ॥ १५६ ॥ तदेवं च स्थिते भद्र! भवार्ण्णवतरीनिभाम्। जिघृक्षाम्यधुना दीक्षां विरक्तो गृहवासतः ॥ १५७ ॥ केवलं सन्ति भूयांसस्ताताद्याः स्वजना मम। यदि तेऽपि प्रबोध्यन्ते ततः स्यादतिसुन्दरम् ॥ १५८॥ बोधोपायस्ततस्तेषां कोऽप्यार्येण विचार्यताम्। रत्नचूडस्ततोऽवादीद्यद्येवं श्रूयतां सखे! ॥१५९॥ इहैव मन्दिरेऽतीतादृश्यामेनं जिनेश्वरम्। अहं नन्तुं समायातो बभूव सपरिच्छदः ॥ १६० ॥ दृष्टश्चात्र मयानेकसाधुमध्यव्यवस्थितः। लोकानां पुरतः कुर्वन् गिरा स्तनितधीरया ॥ १६१ ॥ कर्ण्णपीयूषगण्डूषदेशीयां धर्म्मदेशनाम्। सूरिरेकोऽतिबीभत्सः कुरूपाणां शिरोमणिः ॥ १६२ ॥ युग्मम् ॥ दध्यौ तं च विलोक्याहमहो! भगवतोऽस्य नं।

१ तदहं वि० ग०। २ ॰रे वीताष्ट० ग०। ३ ॰त्सुः कु० ग०। ४ नः ग०।

सरूपं वचसो रूपं क्व वा सर्वे गुणाः पुनः ? ॥ १६३ ॥ चिन्तयन्निति गत्वान्तस्तीर्थनाथमनंसिपम् । स्नपयित्वाऽतिविच्छर्दाद् विलिप्यापूजयं ततः ॥ १६४ ॥ सङ्गीतकं कारयित्वा नुत्वा नत्वा पुनः प्रभुम् । विवन्दिपुरहं साधून् वहिस्तानथ निर्ययौ ॥१६५॥ हेमाम्भोजसमासीनो जात्यजाम्बूनदद्युतिः । रूपनिर्जितकन्दर्प्पः सौभाग्यापास्तचन्द्रमाः ॥ १६६ ॥ तथैव साधुमध्यस्थः कुर्वाणो धर्म्मदेशनाम् । स एवान्य इवादर्शि तत्राथ गणभृन्मया ॥ १६७ ॥ अवधारितया पूर्वं प्रत्यभिज्ञाय तं गिरा । अथाहं विममर्शैवं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥१६८॥ अहो ! तादृक्कुरूपोऽपि सूरिरेष क्षणादपि । कथमीदृक्सुरूपोऽभूदथवा चित्रमत्र किम् ? ॥ १६९ ॥ साधूनां हि भवन्त्येषां तपसानेकलब्धयः । तत्प्रभावाच्च तन्नास्ति यदेते नहि कुर्वते ॥ १७० ॥ विमृश्येति ववन्देऽहं प्रोद्यद्रोमाञ्चकञ्चुकः । विधिवद् भगवन्तं तमपरानपि तान्मुनीन् ॥ १७१ ॥ प्राप्ताशीः सपरीवारो निविष्टः शुद्धभूतले । तां चाश्रौपमहं धर्मदेशनां मोहनाशिनीम् ॥ १७२ ॥ क एष भगवानेवं पृष्टोऽथ शनकैर्मया । साधुरेकोऽन्तिकासीनः कथयामास सादरम् ॥ १७३ ॥ धरातलवासी शुभविपाकनृपनन्दनः । अस्मद्गुरुरयं सूरिर्बुधो नाम निगद्यते ॥ १७४ ॥ तच्छ्रुत्वा वीक्ष्य तांस्तांश्च सूरेरतिशयान्मम । जज्ञे सपरिवारस्य जैनधर्मे स्थिरं मनः ॥१७५॥ नत्वाहमथ तं सूरिं मुदितः सपरिच्छदः । स्वस्थानमगमं सोऽपि भगवानन्यतो ययौ ॥१७६॥ ततश्चैवं स्थिते भद्र ! बुधः स भगवान् यदि । एत्यत्र तत्ते स्वजनवर्गं बोधयति ध्रुवम् ॥ १७७ ॥ आर्य ! सोऽपि त्वयैवात्रानेयोऽभ्यर्थ्य कथञ्चन ।

१ नत्वा स्तुत्वा ग० ।

इत्युक्तो विमलेनाथ रत्नचूडोऽब्रवीत्पुनः ॥ १७८ ॥ कुमार ! भवदादेशः प्रमाणं सर्वथापि मे । विधुरौ पितरौ किन्तु वर्त्तेते मद्वियोगतः ॥ १७९ ॥ तद् गच्छाम्यधुना तावत्तदाह्लादनहेतवे । ततोऽमुं भवदादेशं करिष्याम्येव निश्चितम् ॥ १८० ॥ भवत्सङ्गामृतास्वादलालसस्य ममाधुना । गच्छामीति च वक्तव्ये भारती न प्रवर्त्तते ॥१८१॥ परमेतन्महत् कार्यं पित्राश्वासनलक्षणम् । संचिन्त्य हृदये स्वच्छ ! गच्छामीति मयोच्यते ॥ १८२ ॥ विमलोऽथाभ्यधाद्धाविवियोगविमनायितः । अवश्यं यदि गन्तव्यं तत् सम्प्रत्यार्य ! गम्यताम् ॥ १८३ ॥ विस्मर्त्तव्यं परं सूरेर्न तस्याऽऽनयनं सखे ! । अत्रार्थे नाधृतिः कार्येत्यूचे विद्याधरोऽपि सः ॥ १८४ ॥ इत्युक्त्वा रत्नचूडोऽथ निजकान्तासमन्वितः । संभाष्य विमलं मां च जगाम निजमास्पदम् ॥१८५॥ निशम्यापि तयोर्धर्म्मवार्त्तां तामऽमृतोपमाम् । मनागपि मनो भद्रे ! नाभद्रस्य ममाद्रवत् ॥ १८६ ॥ विमलोऽथ नमस्कृत्य भगवन्तं विशेषतः । तन्मन्दिराच्च निर्गत्य मामवोचत चारुवाक् ॥ १८७ ॥ वयस्य ! यदिदं रत्नं रत्नचूडेन मे किल । महाप्रभावं प्रददे तेनार्थः स्यात् क्वचिन्महान् ॥ १८८ ॥ रत्नादौ मम चानास्था प्रधानेऽपि धनेऽधुना । गृहे नीतं ततो नूनं नङ्क्ष्यत्येतदनादरात् ॥१८९॥ तत्ततोऽत्रैव कुत्रापि प्रदेशे न्यस्य गम्यते । इत्युक्त्वोन्मोच्य वस्त्रान्तं तद्रत्नं स समार्पयत् ॥ १९० ॥ मयापि हि तदेकत्र प्रदेशेऽनुपलक्षिते । न्यखान्यथ पुरे गत्वा स्वं स्वमावां गतौ गृहम् ॥ १९१ ॥ ततः स्तेयबहुलिकाधिष्ठितोऽहमचिन्तयम् । चिन्तारत्ननिभं रत्नं रत्नचूडस्तदाऽऽख्यत ॥ १९२ ॥ तूर्णं तत्र वने गत्वा हरामि तदहं ततः । ध्यात्वेति तत्र गत्वाऽहं तदन्यत्र निखातवान् ॥ १९३ ॥ भूयो

दृष्ट्वाहं सम्प्रत्यायाति विमलोऽत्र चेत्। रिक्तं स्थानं स दृष्ट्वैतत् तदैवं चिन्तयेद् ध्रुवम् ॥ १९४ ॥ यन्नूनं वामदेवेन रत्नं तज्जगृहे ततः। तद्रत्नमानो यद्यत्र क्षिप्यते ग्रावगोलकः ॥ १९५ ॥ ततस्तमत्र संवीक्ष्य स नूनं चिन्तयेदिति। ममैवाभाग्यवशतस्तद्रत्नं प्रस्तरोऽभवत् ॥ १९६ ॥ इति ध्यात्वा तत्प्रमाणं तत्र पाषाणगोलकम्। क्षिप्त्वाऽऽगां स्वगृहं रात्रौ शय्यास्थोऽचिन्तयं पुनः ॥ १९७ ॥ सुन्दरं न मया चक्रे न रत्नं तदनायि यत्। तथा-कुर्वन् भविष्यामि दृष्टोऽहं केनचित्तदा ॥ १९८ ॥ स ग्रहीष्यति तन्नूनं किं करोम्यधुना ततः। एवं चिन्तयतोऽतीता रात्रिर्जाग्रत एव मे ॥ १९९ ॥ अथोत्थाय प्रगे रत्नं तदानेतुं द्रुतं वने। तस्मिन्नगामितश्चागाद् विमलो मे निकेतने ॥ २०० ॥ शशंस तस्मै पृष्टोऽथ वेश्मस्थो मत्परिच्छदः। वामदेवोऽधुना क्रीडानन्दनाभिमुखं ययौ ॥ २०१ ॥ ततो ममानुमार्गेण विमलोऽपि समाययौ। तं वीक्ष्य क्षोभतो रत्नप्रदेशो विस्मृतो मम ॥ २०२ ॥ ग्रावगोलमथादाय कटीपट्यां प्रगोप्य च। कृत्वा स्थानमलक्ष्यं च कुञ्जान्तरमगामहम् ॥ २०३ ॥ सम्प्राप्तोऽन्वेषयंस्तत्र क्षोभसंभ्रान्तलोचनम्। विमलो मां विलोक्याथ पप्रच्छ स्वस्थमानसः ॥२०४॥ वामदेव[1]! किमेकाकी मां विना त्वमिहागतः। भीतवद् दृश्यसे किं वा न्यगद्यत मयाप्यथ ॥ २०५ ॥ श्रुत्वा भ्रातरिह प्राप्तं त्वामेकोऽहमिहाऽऽगमम्। परं नैवात्र दृष्टस्त्वं त्रासोऽयं तेन मेऽभवत् ॥ २०६ ॥ साम्प्रतं त्वयि दृष्टे तु स्वास्थ्यं भावि कुमार! मे। विमलोऽप्याह यद्येवं तत् सुन्दरमभूदिदम् ॥ २०७ ॥ आवां सङ्कटितावेवमत्रैव

---

१ °वं वयस्य! य० ख०।

यदुभावपि। भगवद्भवने तत्र गच्छावः साम्प्रतं ततः ॥ २०८ ॥ मयैवमस्त्विति प्रोक्ते विमलोऽथ मदन्वितः। ययौ तत्र प्रविश्यान्तर्ववन्दे च जगत्प्रभुम् ॥ २०९ ॥ द्वारस्थोऽहं पुनर्दध्यौ विज्ञातोऽनेन खल्वहम्। ततो रत्नमिदं नूनं ग्रहीष्यति बलादसौ ॥ २१० ॥ न चात्र तिष्ठतो मेऽस्मान्मोक्षोऽस्त्यन्यत्र यामि तत्। ततो नंष्ट्वा त्र्यहेणाऽगामष्टाविंशतियोजनीम् ॥ २११ ॥ ग्रन्थिमोक्षे च तं वीक्ष्य पाषाणं मूर्च्छयाऽपतम्। सम्प्राप्य चेतनां कृच्छ्राद् व्यलपं ताडयन् शिरः ॥ २१२ ॥ पुना रत्नं तदाऽऽदातुं चलितोऽहमथेक्षितः[1]। मच्छुद्धिहेतोः प्रहितैर्विश्वग् विमलपूरुषैः ॥ २१३ ॥ ते प्रत्यूचुश्च मां वामदेव! क गतवानसि?। त्वद्वियोगेन विमलः शोकार्त्तो वर्त्तते यतः ॥ २१४ ॥ तवैते वयमानेतुं प्रहितास्तेन तद् द्रुतम्। चल्यतां विमलाभ्यर्णे मा विलम्बो विधीयताम् ॥ २१५ ॥ नैवाहं लक्षितस्तावद् विमलेनेति चिन्तयन्। सार्द्धं तैर्विगताशङ्कस्तदन्तेऽहमथागमम् ॥ २१६ ॥ सोऽथ मां गाढमालिङ्ग्य हर्षोत्फुल्लविलोचनः। निवेश्यार्द्धासनेऽपृच्छत् क गतोऽसीति सादरम् ॥ २१७ ॥ आचख्यावहमप्येवं कुमार! श्रूयतां ननु। प्रविष्टस्त्वं तदा तावज्जिनेन्द्रसदनान्तरे ॥ २१८ ॥ प्रविशामि ततो यावत्त्राहमपि पृष्ठतः। तावत् खे तूर्णमायान्ती खेचरी ददृशे मया ॥ २१९ ॥ तां च निष्कोशनिस्त्रिंशां रूपलावण्यशालिनीम्। दृष्ट्वा यावदहं भीतो विस्मितश्चाभवं हृदि ॥ २२० ॥ हा! कुमार! कुमारेति रटन्तं मां नभोध्वना। चिल्ली हारमिवाऽऽदाय सा तावत् खेचरी ययौ ॥ २२१ ॥ दूरे नीत्वाथ चुम्बित्वा गाढमाश्लिष्य चोरसा। साऽथ

[1] ऽथ मयेक्षितः ता०।

मां प्रार्थयामास रताय मदनातुरा ॥२२२॥ त्वद्वियोगादहं तस्यां विरक्तो यावदुत्तरम् । तस्यै किञ्चिद् ददे तावद-न्योपेयाय खेचरी ॥ २२३ ॥ साऽपि मय्यनुरक्ता मामुद्दालयितुमुद्यता । मदर्थेऽभूत्ततो युद्धं विद्याधर्योस्तयोर्मिथः ॥ २२४ ॥ तयोश्च युद्धाकुलयोः पपाताहं महीतले । चूर्णिताखिलगात्रश्च मूर्च्छामासाद्य क्षणम् ॥ २२५ ॥ तयोरे-काप्यथो यावन्न मां गृह्णाति खेचरी । तावद् झटिति नष्टोऽहं त्वद्दर्शनसमुत्सुकः ॥२२६॥ स्वपुरं च समागच्छन् दृष्ट्वा त्वत्प्रहितैर्नरैः । एभिरत्राहमानीतोऽनुभूतं तदिदं मया ॥ २२७ ॥ विसिष्मियेऽथ तच्छ्रुत्वा विमलोऽथ मुदं गता।

ममान्तःस्था बहुलिका किल प्रत्यायितोऽसकौ ॥ २२८ ॥ अत्रान्तरे प्रादुरासीत्सर्वाण्यङ्गानि सर्वतः । दारयन्तीव मे कापि शरीरे सहसा व्यथा ॥ २२९ ॥ भूश्र(स्र)स्तं प्रबलश्वासं भग्ननेत्रं गतक्रियम् । विमलो मां विलोक्याथ चक्रे हाहारवं शुचा ॥ २३० ॥ तच्छ्रुत्वा धवलो राजा लोकश्च बहुरायर्यौ । विशेषः कोऽपि नाभून्मे प्रयुक्तै-र्भेषजैरपि ॥२३१॥ स्मृत्वा तस्याथ रत्नस्य सर्वदोषविनाशिनः । विमलः कानने गत्वा तं प्रदेशं न्यरूपयत् ॥२३२॥ अप्राप्ते तत्र रत्नेऽथ किंकर्त्तव्यविमूढधीः । स मत्समीपमायासीन्मद्दुःखात्यन्तदुःखितः ॥ २३३ ॥ अत्रान्तरे च वृद्धा स्त्री काप्येकाऽऽमोट्य विग्रहम् । कलामापूरयामास मुत्कलीभूतकुन्तला ॥ २३४ ॥ धूपोत्क्षेपादिकां पूजां कृत्वा का त्वमसीत्यथ । पृष्टा भीतैर्जनैः साऽऽख्यत् भ्रकुटीभङ्गभीषणा ॥ २३५ ॥ भोः ! क्रीडानन्दनोद्याना-धिष्ठात्री वनदेव्यहम् । पापात्मा वामदेवोऽयं नीतोऽवस्थां मयेदृशीम् ॥ २३६ ॥ वञ्चितोऽयं यतोऽनेन निस्त्रपेण दुरात्मना । सद्भावप्रतिपन्नोऽपि विमलः सरलाशयः ॥ २३७ ॥ इत्युक्त्वाऽऽख्याय चाशेषं मद्वृत्तं तद्यथातथम् ।

भूयोऽप्युवाच सा तस्मान्मार्योऽयमधुना मया ॥ २३८ ॥ विमलस्योपरोधेन मां जीवन्तं कथञ्चन । मुक्त्वा साथ निजं स्थानं जगाम वनदेवता ॥२३९॥ ततो धिक्कारितो लोकैः स्वजनैश्च बहिष्कृतः । बभूव सुभ्रु ! तत्राहं तूलादपि लघुर्जने ॥२४०॥ तथाप्येकः स विमलः पूर्ववद्वर्त्तते मयि। महत्तां प्रतिपन्नं हि नान्यथा जातु जायते ॥२४१॥ अथान्येद्युर्मया युक्तो विमलो वनसंस्थिते । जिनौकसि ययौ तत्र वन्दितुं तं जगद्गुरुम् ॥ २४२ ॥ तत्राथ तं जिनाधीशं पूजयित्वा प्रणम्य च । विमलः स्तोतुमारेभे भक्तिकोमलया गिरा ॥ २४३ ॥ जयाशेषजगन्नाथ ! जय तत्त्वोपदेशक ! । जय ज्ञानमहाकोश ! जय भावारिवारण ! ॥ २४४ ॥ मन्ये किञ्चिन्मयोपार्जि पुरा भावि परत्र च । शुभं येनेह लब्धोऽसि स्वामी विश्वाभयप्रदः ॥ २४५ ॥ नाथ ! नाथमहं नान्यं नाथे नाथे सति त्वयि । को हि कल्पद्रुमं प्राप्य करीरे कुरुते रतिम् ॥ २४६ ॥ अभव्यो दूरभव्यो वा किमहं भुवनेश्वर ! । प्राप्तेऽप्याप्नोमि यन्नाहं मुक्तिं मुक्तिप्रदे त्वयि ॥ २४७ ॥ किमभक्तोऽस्मि ते नाथ ! विस्मृतो वाऽस्मि यन्न मे । रागादिरिपुरुद्धस्य सारापि क्रियते त्वया ॥ २४८ ॥ संसारप्रान्तरभ्रान्तिश्रान्तेनाश्रमवत्प्रभो ! । प्राप्तोऽसि त्वं मया कृच्छ्रान्निर्वृतिं तत्प्रयच्छ मे ॥ २४९ ॥ सोऽपि कोऽपि प्रभो ! भावी समयः संमदालयः । द्रक्ष्यामि त्वामहं यत्र साक्षाल्लोकाग्रसंस्थितम् ॥२५०॥ अलं सांसारिकैरेभिर्विषयैर्विषसन्निभैः। किन्तु नाथ ! सदानन्दं देहि मे परमं पदम् ॥ २५१ ॥ इत्यभिष्टुत्य सद्भक्त्या पञ्चाङ्गस्पृष्टभूतलः । प्रणनाम जिनाधीशं स नराधीशसंभवः ॥ २५२ ॥ अत्रान्तरे स्फुरद्दीप्तिविद्योतितदिगन्तरः । प्रचुरैः खेचरवरैः परितः परिवारितः ॥ २५३ ॥ आययौ चूतमञ्जर्या समेतः

कान्तया तया । अमन्दसंमदस्तत्र रत्नचूडः स खेचरः ॥ २५४ ॥ युग्मम् ॥ साधु साधु जगद्भर्तुः स्तवनं कृतवानसि । इति प्रशंसन् विमलं सोऽथानंसीज्जिनेश्वरम् ॥ २५५ ॥ विधिवद्विहितान्योन्यवन्दनाद्युचितक्रियाः । निषेदुरथ सर्वेऽपि मुदिताः शुद्धभूतले ॥२५६॥ मेघनादाङ्गजः सोऽथ जगाद धवलाङ्गजम् । निशम्यतां महाभाग ! स हेतुर्दुरतिक्रमः ॥२५७॥ एतावान् येन मे कालविलम्बः समजायत । नानीतो भवदादिष्टः स सूरिश्च बुधाभिधः ॥२५८॥ गतेनेतस्तदा तावन्मयाम्बाजनकौ निजौ । परमां प्रापितौ प्रीतिं चिरादात्मीयदर्शनात् ॥ २५९ ॥ निशायामथ शय्यायां कृत्वा देवनमस्कृतिम् । आसाद्यत मया निद्रा द्रव्यतो न तु भावतः ॥ २६० ॥ अथाहं भो ! महाभाग ! जिनपादाब्जषट्पद ! । उत्तिष्ठेति गिरं शृण्वन् विबुद्धोऽन्त्ये क्षपाक्षणे ॥ २६१ ॥ ततः स्वाङ्गप्रभाजालप्रभासितदिगन्तराः । मया प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त देवता विविधाः पुरः ॥ २६२ ॥ विस्मितं सम्भ्रमोत्थानविहितस्वागतं च माम् । ततस्ताः प्रत्यवोचन्त प्रसादविशदाननाः ॥ २६३ ॥ धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूजनीयोऽसि मादृशाम् । हंसवत्तव यस्यार्हद्धर्म्मः क्रीडति मानसे ॥ २६४ ॥ रोहिण्याद्या वयं विद्यास्तव पुण्येन नोदिताः । समस्ता अपि सम्भूय समायाताः स्वयंवराः ॥ २६५ ॥ तत्प्रतीच्छ महाभाग ! करिष्यामः प्रवेशनम् । त्वदङ्गे भवितव्यं हि त्वया खेचरचक्रिणा ॥ २६६ ॥ एतच्चास्माभिरादिष्टं विद्याधरबलं तव । पदातिभावमापन्नमायातं द्वारि वर्तते ॥ २६७॥ एवं तासु ब्रुवाणासु नानालङ्कारभासुराः[1] । प्रणेमुः खेचराः सर्वे ते समागत्य मामथ ॥ २६८ ॥ अत्रान्तरे दिशं प्राचीं

१ ०सुरम् ग० ।

चण्डरोचिपि चुम्बति । प्रहते प्रातरातोद्येऽपठन्मङ्गलपाठकः ॥ २६९ ॥ सूर्योदयेऽधुनोत्थाय धर्म्मं कुरुत हे जनाः ! । येन वोऽतर्किता एव सम्पद्यन्ते विभूतयः ॥ २७० ॥ तच्छ्रुत्वाऽचिन्तयमहं नूनं धर्म्मप्रभावतः । अकृच्छ्रेणैव मे विद्याः सिद्धा एताः परःशताः ॥ २७१ ॥ हर्षस्थानं परं नैतद्विघ्नोऽयमभवद् यतः । सार्द्धं मे विमलेनैव दीक्षां मङ्क्षु जिघृक्षतः ॥ २७२ ॥ सौवर्णनिगडप्रायं पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यपि । यतो जिनेन्द्रैराख्यातं भोग्यं तत्सर्वथाप्यदः ॥ २७३ ॥ एवं ध्यायन्त एवाथ ममाङ्गेऽनुप्रवेशनम् । देवतास्ता विदधिरे रोहिणीप्रमुखाः क्षणात् ॥ २७४ ॥ ततो विद्याधरैः सर्वैः सम्भूय मम विस्तरात् । चक्रे खेचरचक्रित्वाभिपेकसुमहोत्सवः ॥ २७५ ॥ ततश्च करणीयानि नवराज्योचितानि मे । कुमार ! कुर्वतोऽहानि लङ्घितानि कियन्त्यपि ॥ २७६ ॥ संस्मृत्य युष्मदादेशमथाहं स्वयमेव तम् । गवेषयन्पुरे सूरिं बुधमेकत्र दृष्टवान् ॥ २७७ ॥ तस्मै निवेदिते युष्मद्वृत्तान्ते स जगाद माम् । त्वं तावदधुना गच्छ विमलाय निवेदय ॥ २७८ ॥ एतदेतच्च समये पश्चादेष्याम्यहं पुनः । तेषां विमलबन्धूनां बोधोपायोऽयमेव यत् ॥ २७९ ॥ कर्णाभ्यर्णे ततः स्थित्वा स शनैर्विमलाय तत्[1] । सूरिवाचिकमाचख्यौ तत्तु नाकर्णितं मया ॥२८०॥ पुनः सोऽवोचदेतेन कारणेन ममाभवत् । विलम्बो बुधसूरिश्च नानीतोऽनेन हेतुना ॥ २८१ ॥ विमलोऽवोचदार्येण कृतं साध्वथ तत्पुरे । स्थित्वा द्वित्राण्यहान्येष ययौ विद्याधरेश्वरः ॥ २८२ ॥ विमलोऽथ विशेषेण विषयेषु पराङ्मुखः । समयं गमयामास निर्मलीमसवासनः[2] ॥ २८३ ॥ तथाविधं

१ तत् ग० । २ निर्मलामरवासनः ग० ।

च तं वीक्ष्य पितरौ तस्य दध्यतुः । चरितं भुवनातीतं सुतस्यास्य किमप्यहो ! ॥ २८४ ॥ यौवनारोग्यवित्तादि-सामग्रीसंयुतोऽपि सन् । निर्ग्रन्थ इव यन्नैव रज्यते विषयेष्वसौ ॥ २८५ ॥ यावच्चैवं कुमारोऽयं विषयान्नैव सेवते । तावद्राज्यमिदं प्राज्यमावयोर्निष्फलं खलु ॥ २८६ ॥ तदयं कामसेवायां स्वयमेवोच्यतेऽधुना । विनीतो ह्यस्मदा-देशं नायमुल्लङ्घयिष्यति ॥ २८७ ॥ ध्यात्वेति मन्त्रयित्वा च मिथो रहसि तावथ । प्रोचतुः सुतमाहूय सुधामधुरया गिरा ॥ २८८ ॥ मनोरथशतैस्तात ! समग्रगुणमन्दिरम् । त्वमस्मन्मन्दिरे तावज्जातश्चन्द्र इवाम्बुधौ ॥ २८९ ॥ निजावस्थानुरूपं तद् भुङ्क्षे राज्यसुखं न किम् ? । राज्येनापि किमेतेन ? यत्ते नायाति भोग्यताम् ॥ २९० ॥ अयमेवानयोर्नूनं बोधोपायो भविष्यति । विमृश्येति जगादैवं विमलोऽथ धियां निधिः ॥ २९१ ॥ यदाज्ञापयत-स्तत्रभवन्तौ तद्धि मादृशाम् । विधातुमुचितं सर्वं किन्त्वसावाशयो मम ॥ २९२ ॥ स्वराज्ये यदि सर्वेषां दुःखं संहृत्य दुःखिनाम् । सम्पाद्य च सुखं पश्चात् स्वयं तदनुभूयते ॥ २९३ ॥ एवं च कुरुते यो हि स एव पृथिवीपतिः । प्रजानामधिपः सर्वजनीनश्च निगद्यते ॥ २९४ ॥ दुःखार्त्तेऽपि जने यस्तु निश्चिन्तः स्वयमेककः । सुखं भुङ्क्ते प्रभुत्वं हि तस्य कुक्षिम्भरेः कुतः ? ॥ २९५ ॥ तदेवं संस्थिते ह्येतद्युज्यते कर्त्तुमात्मनः । घर्म्मर्तुर्वर्त्तते तावदधुना घर्म्मदारुणः ॥ २९६ ॥ मनोनन्दनसंज्ञेऽत्र स्वगृहोपवने ततः । कुर्वन् ग्रीष्मोचितां क्रीडां कुर्वे तातामबयोर्मुदम् ॥ २९७ ॥ आनेतुं दुःखिनो लोकान् प्रेष्यन्तां किन्तु पूरुषाः । तेषामपि वराकाणां येन सौख्यं विधीयते ॥ २९८ ॥ तच्छ्रुत्वा पितरौ हृष्टौ वदन्तौ साधु साध्विति । कारयामासतुस्तत्रोपवने

हिममन्दिरम् ॥ २९९ ॥ मृणालभित्तिरुचिरे रम्भास्तम्भविभूषिते । नलिनीच्छदनच्छन्ने संसिक्ते चन्दनद्रवैः ॥ ३०० ॥ तत्राथ शीतले गत्वा विमलः सपरिच्छदः । कुर्वन् ग्रीष्मोचितां क्रीडां पित्रोर्मुदमवर्द्धयत् ॥ ३०१ ॥ युग्मम् ॥ प्रयुक्तपुरुषानीतदुःखिलोकाय संमदम् । चक्रे धवलराजोऽपि विदधत्तदभीप्सितम् ॥ ३०२ ॥ निषण्णोऽथान्यदास्थानं दत्त्वा धवलभूपतौ । नियुक्तपुरुषाः केऽपि तत्र सुभ्रु ! समाययुः ॥ ३०३ ॥ प्रतिसीरान्तरे कञ्चिदेकं संस्थाप्य पूरुषम् । तेऽथ विज्ञपयामासुर्विहितानतयो नृपम् ॥ ३०४ ॥ देवास्माभिः पर्यटद्भिः पुमानेकोऽयमीक्षितः । दुःखितोऽत्यन्तमेकत्राऽऽनीतश्चात्र कथञ्चन ॥ ३०५ ॥ किन्त्वयं गाढबीभत्सदर्शनो देवदर्शनम् । नार्हतीति व्यवहितोऽस्माभिरत्र प्रवेशितः ॥ ३०६ ॥ दृष्टोऽयं कुत्र युष्माभिः कथं चात्यन्तदुःखितः । इति पृष्टाः क्षितीशेन तेष्वेकः प्रत्यभाषत ॥ ३०७ ॥ देवादेशादितो गत्वा कमप्यार्त्तं पुरे जनम् । अनालोक्य वयं याताः पर्यटन्तो महाटवीम् ॥ ३०८ ॥ ग्रीष्मार्ककरसम्पर्कनखरम्पचरजोभरे । दृष्टोऽयं तत्र चास्माभिरनुपानत्पथि व्रजन् ॥ ३०९ ॥ अत्यन्तदुःखित इति कृत्वास्माभिरसौ ततः । भो ! भद्र ! तिष्ठ तिष्ठेति दूरादुच्चैर्न्यगद्यत ॥ ३१० ॥ अनेनोक्तमहं भद्राः ! स्थितो यूयं तु तिष्ठत । ब्रुवन्निति प्रवव्रृते गन्तुमेष तथैव हि ॥ ३११ ॥ ततो देव ! जवाद् गत्वा बलाद् धृत्वा तरोस्तले । आनीय चायमस्माभिः सर्वैरपि निरूपितः ॥३१२॥ प्रस्विन्नकृष्णरोगार्त्तजीर्णबीभत्सविग्रहः । श्रमनिःश्वाससम्पूर्णपिपासाशोषिताननः ॥ ३१३ ॥ कृमिकुष्ठगलत्कर्णनासिकौष्ठकरांह्रिकः । तदात्वलुञ्चितशिराः स्कन्धविन्यस्तकम्बलः ॥ ३१४ ॥ मलीमसजरद्वस्त्रः सदण्डालाबुयुग्मभृत् । कक्षानिक्षिप्तविश्रं(स्रं)सि-

शीर्णोर्णागुच्छपिच्छकः ॥ ३१५ ॥ निधानं सर्वदुःखानां दारिद्र्यस्य निकेतनम् । ततोऽयं ददृशेऽस्माभिः प्रत्यक्ष इव नारकः ॥३१६॥ कलापकम् ॥ मध्याह्ने त्वं किमीदृक्षे भद्र ! भ्राम्यसि भीषणे । इति प्रोक्तोऽयमस्माभिर्जुगुप्साकरुणापरैः ॥ ३१७ ॥ अयमूचे न खल्वस्मि स्वाधीनः किन्त्वहं गुरोः । आयत्तस्तत्तदादेशात् पर्यटाम्येवमन्वहम् ॥ ३१८ ॥ एवमन्वहमादेशं कुर्वतस्ते गुरुः स किम् । करिष्यतीत्ययं भूयोऽप्यस्माभिः समपृच्छयत ॥ ३१९ ॥ ममाष्टौ[1] चूणिकाः सन्ति बलिनो यमसन्निभाः । मोचयिष्यति तेभ्यो मामित्यसावप्यचीकथत् ॥ ३२० ॥ ततश्चिन्तितमस्माभिरहो ! अस्य तपस्विनः । स्वपापकर्मोपनता कापि कृच्छ्रपरम्परा ॥ ३२१ ॥ यदेकं परतन्त्रत्वं गतस्यापीदृशीं दशाम् । ऋणिकोपद्रवोऽन्यच्च तद्विमोक्षस्पृहा परम् ॥ ३२२ ॥ तदेष नीयते सर्वदुःखितानां शिरोमणिः । उपदेवमिति ध्यात्वाऽस्माभिरेषोऽभ्यधीयत ॥ ३२३ ॥ उत्तिष्ठ भद्र ! यद्येवं चल राजकुलेऽधुना । सर्वदारिद्र्यदुःखर्णविमोक्षः क्रियते यथा ॥ ३२४ ॥ मच्चिन्तया वः पर्याप्तं मोचितो हि भवादृशैः । नैव मुच्येऽहमित्येष ब्रुवाणो गन्तुमुद्यतः ॥ ३२५ ॥ अस्माभिश्चिन्तितमथो सोन्माद इव लक्ष्यते । दुरात्माऽयं तथाप्येतत् कर्त्तव्यं राजशासनम् ॥३२६॥ नेतव्यो देवपार्श्वेऽयमिति ध्यात्वा बलादसौ । धृत्वाऽस्माभिरिहाऽऽनीतः क्रियतां यदिहोचितम् ॥ ३२७ ॥ तदाकर्ण्य नृपः प्राह प्रतिसीराऽपसार्यताम् । पश्याम्येनमहं येन महत्कौतूहलं मम ॥ ३२८ ॥ तस्यां तैरपनीतायां विस्मितेन स वीक्षितः । यथाख्यातस्वरूपोऽथ सजनेन महीभुजा ॥ ३२९ ॥

१ अष्टकर्माणि ।

विमलोऽथ तमालोक्य जाताह्लादो व्यचिन्तयत् । अये ! स एष भगवान् बुधसूरिरुपाययौ ॥ ३३० ॥ अहो ! भगवतोऽमुष्य कापि वैक्रियरूपता । अहो ! स्वार्थानपेक्षित्वमहो ! सर्वजनीनता ॥ ३३१ ॥ परार्थ एव यदि वा स्वार्थो नूनं महात्मनाम् । नहि स्वदेहशान्त्यर्थं जायन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ ३३२ ॥ सन्दिष्टं च ममानेन रत्नचूडमुखेन यत् । दुःखपीडितसत्त्वानां कार्यमन्वेषणं त्वया ॥ ३३३ ॥ कृतरूपान्तरो लब्ध्या बन्धून् बोधयितुं तव । ततोऽहमागमिष्यामि विज्ञातावसरः खलु ॥ ३३४ ॥ किञ्चाहं भवता तावद् वन्द्यो न विदितोऽपि हि । प्रस्तुतार्थस्य संसिद्धिर्यावन्नैव प्रजायते ॥ ३३५ ॥ ध्यात्वेति विमलस्तस्मै विदधे मनसा नतिम् । सोऽप्याशिषं ददौ तस्मै मनसैवेष्टसिद्धिदाम् ॥ ३३६ ॥ अत्रान्तरे नृपाभ्यर्णे स राजपुरुषैर्बलात् । समानीतः पपातोर्व्यां द्राक्कृत्य श्रमनिःसहः ॥ ३३७ ॥ निन्दावधीरणाहासशोकादिविविधक्रियाः । तादृशं तं च संवीक्ष्य प्रोचुरेवं मिथो जनाः ॥ ३३८ ॥ कृष्णाङ्गः क्षुत्तृपाक्रान्तः खिन्नः कुष्ठी ज्वरार्दितः । केनानीतो दुरात्मायं पापपुञ्ज इवाङ्गवान् ॥ ३३९ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवानूचे क्रुद्धो भैरवरूपभृत् । ज्वालामालाकरालाभ्यां दृग्भ्यां लोकं दहन्निव ॥ ३४० ॥ आः ! पापाः ! किमहं जातो युष्मत्तोऽपि विरूपकः?। दुःखितो वा यदेवं मां यूयं रे ! हसथाधमाः ! ॥३४१॥ कृष्णाङ्गाः क्षुत्तृपाक्रान्ताः सखेदाः कुष्ठिनस्तथा । तापार्त्ता ज्वरविधुराः शूलालीढा जरार्दिताः ॥३४२॥ सोन्मादा विकलाक्षाश्च घूर्णमाना ऋणाकुलाः । परायत्ता दरिद्राश्च रे ! यूयं नत्वहं जडाः ! ॥ ३४३ ॥ युग्मम् ॥

१ ददे त० ख० ।

अकाले बालिशाः ! कालेनोत्क्षिप्तं पत्रकं हि वः । मुनिं मां दुर्बलं मत्वा येनैवं हसथाधुना ॥ ३४४ ॥ मृगयूथमिव क्ष्वेडां तां वाचमतिभैरवाम् । तस्य श्रुत्वा चकम्पेऽथ स लोकः सकलो भयात् ॥ ३४५ ॥ विमलं भूमिपालोऽथ प्रोचे सम्भ्रान्तमानसः । कुमार ! नैष सामान्यः कश्चिदेष नरो ध्रुवम् ॥ ३४६ ॥ यतः क्वास्य पुरा चक्षुर्युगलं तन्मलाविलम् ? । जितकल्पान्तमार्त्तण्डमण्डलं क्वाधुना त्वदः ? ॥ ३४७ ॥ वक्तुमक्षमता सा च तादृशी क्व पुरातनी ? । युगान्तमेघनिर्घोषघोरोऽयं क्वाधुना स्वरः ? ॥ ३४८ ॥ तदेष निश्चितं कोऽपि त्रिदशो वापरोऽपि वा । समायातः कृतरूपान्तरः केनापि हेतुना ॥ ३४९ ॥ क्रोधान्धस्तदयं यावद् दृग्विषाहिरिव क्षणात् । न भस्मीकुरुते सर्वं तावत्तूर्णं प्रसाद्यते ॥ ३५० ॥ विमलोऽप्यभ्यधादेवं साधु तातेन निश्चितम् । सामान्यपुरुषो नैष सत्वरं तत्प्रसाद्यताम् ॥ ३५१ ॥ ततः सपरिवारोऽपि भूपतिश्चरणद्वयम् । ननाम सादरं तस्य ललाटस्पृष्टभूतलः ॥ ३५२ ॥ ऊचे च क्षम्यतामेष दोषो मूढजनैः कृतः । दीयतां च प्रसद्याशु स्वकीयं दिव्यदर्शनम् ॥ ३५३ ॥ इत्युक्त्वा सजनो राजा यावदुन्नमति क्षितेः । तावत् स्वर्णाम्बुजासीनं स्वरूपापास्तमन्मथम् ॥ ३५४ ॥ तेजोविजिततिग्मांशुं दृक्चकोरसुधाकरम् । अशेषलक्षणोपेतं तं मुनीशं ददर्श सः ॥ ३५५ ॥ युग्मम् ॥ विलोक्य तादृशं तं चाश्चर्यभूतं मुनिं नृपः । स्मेराक्षः सजनो जज्ञे किमेतदिति विस्मयात् ॥ ३५६ ॥ पृथ्वीनाथेन कृत्वाथ ललाटे करकुड्मलम् । कथ्यतां नाथ ! कोऽसि त्वमित्युक्तः सोऽब्रवीदथ ॥ ३५७ ॥ महाराज ! न देवोऽहं दैत्यो वा न च किन्त्वहम् । यतिरस्मि तदेतच्च लिङ्गादप्यनुमीयते ॥ ३५८ ॥ भूपतिः पुनरप्याह यद्येवं भगवन् !

कथम् ? । पूर्वं ते तादृशं रूपमिदानीमीदृशं पुनः ॥ ३५९ ॥ कृष्णवर्णादयो दोषाः कथं वात्मस्थिता अपि । अस्मास्वारोपिताः श्रोतुमिदमिच्छाम्यशेषतः ॥ ३६० ॥ सूरिराह महाराज ! मया व्यधित वैक्रियम् । बीभत्सं तत्पुरा रूपं दृष्टान्तार्थं शरीरिणाम् ॥ ३६१ ॥ एवम्भूता ह्यमी सर्वे सत्त्वाः संसारवर्त्तिनः । स्वरूपमात्मनो मूढास्तथापि न विदन्ति ते ॥ ३६२ ॥ दृष्टान्तभूतं भूतानां रूपं भूप ! मया ततः । तच्चक्रे जन्तुबोधार्थमवस्थितमिदं पुनः ॥ ३६३ ॥ कृष्णवर्णादयो दोषा युष्माकं यच्च योजिताः । आत्मस्था अपि तत्रापि कारणं शृणु भूपते ! ॥ ३६४ ॥ अन्तःपापमलालीढा गृहिणोऽमी जना इह । स्वर्णवर्णा अपि बहिर्वर्ण्यन्ते कृष्णवर्णकाः ॥ ३६५ ॥ मुनयस्त्वपि कृष्णाङ्गाश्चित्ते स्फटिकनिर्म्मलाः । विज्ञेयाः परमार्थेन चारुकाञ्चनरोचिषः ॥ ३६६ ॥ तथा तृप्तिर्न संप्राप्तैरपि या विषयैर्धनैः । बुभुक्षा सा समाख्याता तत्त्वतस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ३६७ ॥ तया बुभुक्षयाक्रान्ता बहिः पुष्टोदरा अपि । जना एते परिज्ञेया बुभुक्षाक्षामकुक्षिकाः ॥ ३६८ ॥ तया क्षुधा पुनस्त्यक्ताः क्षामा अपि बहिः क्षुधा । मुमुक्षवः क्षमाधीश ! ज्ञेयाः सौहित्यशालिनः ॥ ३६९ ॥ तथा भाविषु भोगेषु योऽभिलाषो निरन्तरः । सा पिपासा समाम्नाता गाढशोषविधायिनी ॥ ३७० ॥ ततस्तया तृषाऽऽक्रान्ताः सर्वदा गृहमेधिनः । पिबन्तोऽपि पयः स्वादु तृषिताः खलु भावतः ॥ ३७१ ॥ तया तु तृष्णया मुक्ता बहिस्तृष्णार्दिता अपि । वीततृष्णाः परिज्ञेया निर्ग्रन्थाः परमार्थतः ॥ ३७२ ॥ तथाऽनासादिताद्यन्तो दुःखधूलिप्रपूरितः । विषयस्तेनसङ्कीर्णः संसारोऽध्वा बुधैर्मतः ॥३७३॥ ततस्तत्र वहन्तोऽमी जनाः पथि निरन्तरम् । अपि सुन्दरसर्वस्था विज्ञेयाः

खेदनिःसहाः ॥ ३७४ ॥ विवेकाख्ये महाशैले नगरे जैननामनि । स्थिताश्चित्तसमाधानाभिधे च वरमण्डपे ॥ ३७५ ॥ बहिर्मार्गपरिश्रान्तिश्रान्तसंहनना अपि । मुनयस्तु सदा ज्ञेयाः तत्त्वतः खेदवर्जिताः ॥ ३७६ ॥ ॥ युग्मम् ॥ तथा सम्यक्त्वनामात्मरूपसौन्दर्यदूषकम् । निदानं सर्वदुःखानां मिथ्यात्वं कुष्ठमुच्यते ॥ ३७७ ॥ कुष्ठेनान्तस्ततस्तेन दूषिता जन्तवो ह्यमी । सुन्दराङ्गा अपि बहिर्भावतः कुष्ठिनो मताः ॥ ३७८ ॥ साधवस्तु बहिर्भूप ! कुष्ठिनोऽपि कथञ्चन । सम्यग्भावविशुद्धाङ्गा बोद्धव्याश्चारुविग्रहाः ॥ ३७९ ॥ तथा कषायनामान्तस्तापयोगाज्जना अमी । कीर्त्तिताः खलु तापार्त्ता बहिस्तापोज्झिता अपि ॥ ३८० ॥ अन्तस्तापविनिर्मुक्ता बहिस्तापजुषोऽपि हि । यतयः पुनराख्याता निस्तापाः परमार्थतः ॥ ३८१ ॥ तथाऽमी रागद्वेषान्तर्ज्वरशूलार्दिता जनाः । गदिता ज्वरशूलार्त्ता बहिस्तद्वर्जिता अपि ॥३८२॥ श्रमणास्तु तथारूपज्वरशूलविदूरगाः । ज्वरशूलोज्झिताः प्रोक्ता बहिस्तद्व्यथिता[1] अपि ॥ ३८३ ॥ तथा यौवनवन्तोऽपि बहिर्गृहिजना अमी । विना विवेकतारुण्यं जराजीर्णा बुधैः स्मृताः ॥ ३८४ ॥ प्राप्ता विवेकतारुण्यं बहिः प्रवयसोऽप्यमी । विज्ञेया मुनयो नित्ययौवनास्तत्त्वतः पुनः ॥ ३८५ ॥ तथा कृत्यं न कुर्वन्त्यकर्त्तव्यं कुर्वते पुनः । येन मोहेन स प्रोक्त उन्मादो भवचारिणाम् ॥ ३८६ ॥ ततस्तस्य समायोगात् सोन्मादाः खल्वमी जनाः । साधवस्तद्वियोगात्तु निरुन्मादा उदाहृताः ॥ ३८७ ॥ तथा यः कामविवशः कृत्याकृत्यं न पश्यति । स क्षितीश ! समाख्यातो विकलाक्षो विचक्षणैः ॥ ३८८ ॥ ततस्तद्विकलाक्षत्वं

१ ०बाधिता क० ख० ग० ।

पश्यत्स्वपि बहिर्दृशा । दृश्यतेऽमीषु लोकेषु न पुनः क्वापि साधुषु ॥३८९॥ तथा सुप्ताः प्रमादाख्यनिद्रया जाग्रतोऽप्यमी । जनास्तत्त्वतस्तज्ज्ञैर्घूर्णमानाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३९० ॥ तया तु निद्रया हीनाः स्वपन्तोऽपि बहिः क्वचित् । जागरूकाः सदा ज्ञेयाः साधवस्तु धराधव ! ॥३९१॥ तथाष्टकर्मऋणिकयोगादेते ऋणाकुलाः । विज्ञेयास्तत्त्वतः सत्त्वा बाह्यर्णरहिता अपि ॥ ३९२ ॥ साधूनामपि सन्त्येते ऋणिका किन्तु तैर्न ते । प्रपीड्यन्ते यतस्तेषां शुद्धप्रायमृणं खलु ॥ ३९३ ॥ तथा भावाः पुत्रमित्रकलत्रविभवादयः । अत्यन्तमात्मनो भिन्नाः प्रोच्यन्ते विबुधैः परे ॥३९४॥ तदधीना जनाः सर्वे क्लिश्यन्तोऽमी दिवानिशम् । प्रकीर्त्तिताः परायत्ताः स्वधिया स्ववशा अपि ॥३९५॥ मुनयस्तु महात्मानो निर्गता गृहवासतः । अपि गुर्वादिवशगाः स्ववशास्तत्त्वतो मताः ॥ ३९६ ॥ तथा दर्शन-सुज्ञानचारित्रवसुवर्जिताः[1] । श्रीमन्तोऽपि बहिर्ज्ञेया देहिनो दुर्गता अमी ॥ ३९७ ॥ रत्नैस्तैरान्तरैर्युक्ता बहिर्दुर्गतरूपताम् । धारयन्तोऽपि विज्ञेयाः श्रीमन्तो मुनयः पुनः ॥ ३९८ ॥ एवमन्येऽपि वैरूप्यदुर्भगत्वादयो नृप ! । दोषा गेहिषु बोद्धव्याः सदा सावद्यकर्मसु ॥ ३९९ ॥ मुमुक्षूणां पुनर्दोषगन्धोऽपि हि न विद्यते । तत्तत्सत्कर्मनिर्माणसफलीकृतजन्मनाम् ॥ ४०० ॥ कृष्णवर्णादयो दोषास्ततो युष्मासु गेहिषु । आरोप्यन्त मयाऽऽत्मानं त्याजयित्वा मुनिं नृप ! ॥ ४०१ ॥ एवं च संस्थिते भूप ! यत्सुखं पारमार्थिकम् । साधोः सर्वाविमुक्तस्य तदन्यस्य न कस्यचित् ॥ ४०२ ॥ यत्तु वैषयिकं सौख्यमेषां देहभृतामिदम् । तद्दुःखमेव विज्ञेयं परिणामेऽतिदारुणम्

१ ०चारित्रज्ञानवसुविवर्जिताः ख०, ०चारित्रज्ञानादिवसु० ग० ।

॥ ४०३ ॥ परमेतद् विजानन्ति नैते मूढधियो जनाः। स्वेच्छयोपहसन्त्येवं तेनैते मां वराककाः ॥ ४०४ ॥ यदि वैषां न दोषोऽयं दोषो मोहस्य किन्त्वसौ। तद्वशान्न विदन्त्येते तत्त्वं बठरभौतवत् ॥ ४०५ ॥ भगवन्! बठरः कोऽयमित्युर्वीशेन सादरम्। पृष्टः स शमिनामीशः शशंसेति पुनस्ततः ॥ ४०६ ॥ भवाख्येऽस्तीह विस्तीर्णे ग्रामे शिवनिकेतनम्। तत्स्वरूपाभिधं भूप! रत्नादिधनपूरितम् ॥ ४०७ ॥ तत्र सारगुरुर्नाम सकुटुम्बो निरन्तरम्। शैवाचार्यो वसत्येकः किन्तून्मत्तः सदाप्यसौ ॥ ४०८ ॥ ततो रक्षति नात्मीयं कुटुम्बं हितमप्ययम्। समृद्धिं न च जानाति तस्य स्वस्य शिवौकसः ॥ ४०९ ॥ ततो विज्ञाय तद्वृत्तं चौरैस्तद्ग्रामवासिभिः। एत्य धूर्त्ततया मैत्री तेन सार्द्धं व्यधीयत। ४१०॥ सोऽप्युन्मत्ततया शैवगुरुः क्रूराशयानपि। निजानिव हितान् बन्धून्मेने तान् परिपन्थिकान् ॥४११॥ नितान्तं तैः कृतप्रीतिं स्वकुटुम्बपराङ्मुखम्। माहेश्वरास्ततो वीक्ष्य बहुधा तमशिक्षयन् ॥४१२॥ अश्रौषीदपि तच्छिक्षां स पुनर्न मनागपि। उन्मादिन्युपदेशो हि प्रयासायैव केवलम् ॥ ४१३ ॥ मूर्खोऽयमिति बठरगुरुरित्यभिधां व्यधुः। तस्य ते तत्यजुस्तं च धूर्त्ततस्करवेष्टितम् ॥ ४१४ ॥ सम्प्राप्तप्रसरास्तेऽथ तस्करा योगदानतः। उन्मादं तस्य संवर्द्ध्य स्वीचक्रुस्तं शिवालयम् ॥ ४१५ ॥ मध्यापवरके कारावेश्मनीव बलादपि। प्रक्षिप्य तत्कुटुम्बं च तद्द्वारं परितः प्यधुः ॥ ४१६ ॥ तेऽथ संस्थापयामासुराशु स्वातन्त्र्यमोदिनः। चौरमेकं महाधूर्त्तं प्रचण्डं तत्र नायकम् ॥ ४१७ ॥ त्रिहितोत्तालतालं च गायन्तस्तत्पुरोऽनिशम्। कुण्डान्तः कौतुकात् क्षिप्त्वा बठरं नाटयन्ति तम् ॥ ४१८ ॥ एवं विडम्ब्यमानोऽपि बठरः स पुनः कुधीः। परमार्थमजानानः सुतरां मोदते हृदि ॥ ४१९ ॥

भोजने याचिते चाथ तेन क्षुत्क्षामकुक्षिणा। ते प्रोचुर्दस्यवस्तर्हि भिक्षां ग्रामेऽत्र पर्यट ॥ ४२० ॥ इत्युक्त्वा चर्चयित्वा च तं मषीतिलकादिभिः। भिक्षार्थमर्पयामासुस्तस्मै ते घटकर्परम् ॥ ४२१ ॥ चत्वारस्तत्र च ग्रामे विकटाः सन्ति पाटकाः। अतिजघन्यजघन्योत्कृष्टोत्कृष्टतराभिधाः ॥ ४२२ ॥ कृततालारवैः सोऽथ धूर्तैस्तैः परिवेष्टितः। गत्वाद्ये पाटके भिक्षार्थी बभ्राम गृहे गृहे ॥ ४२३ ॥ तत्रास्य दूरतो भिक्षाप्राप्तिवार्त्तापि तिष्ठतु। पिङ्गैः प्रत्युत सोऽकुट्टि विविधं धूर्त्तनोदितैः ॥ ४२४ ॥ चिरमेवं महाघोरं दुःखं तत्रानुभूय सः। निर्ययौ पाटकात्तस्माद्विशीर्णे तत्र कर्परे ॥ ४२५ ॥ शरावेऽथार्पिते पारिपन्थिकैस्तैस्तदन्वितः। स रङ्क इव भिक्षार्थी द्वितीयं पाटकं ययौ ॥ ४२६ ॥ चिरं भ्रान्तोऽपि तत्रापि भिक्षां नाऽऽप स कुत्रचित्। पूर्ववद्बाध्यते पिङ्गैः केवलं कठिनाशयैः॥ ४२७ ॥ शरावके विशीर्णे च स दत्त्वा ताम्रभाजनम्। तृतीयपाटकं नीतस्तस्करैः क्रूरकर्मभिः ॥ ४२८ ॥ तत्रासौ विरलां भिक्षां लभते छाययानया। यथाऽयं रत्नपूर्णस्य देवगेहस्य नायकः ॥ ४२९ ॥ तत्रापि बाध्यते पिङ्गैर्भग्नेऽथो ताम्रभाजने। स तुर्यपाटके नीतस्तैर्दत्त्वा रूप्यभाजनम् ॥ ४३० ॥ विशिष्टरत्नसम्भारैश्वर्यच्छायाप्रभावतः। भिक्षां सुसंस्कृतां तत्र लभतेऽसौ गृहे गृहे ॥ ४३१ ॥ एवं ते तस्करास्तेषु पाटकेषु पुनः पुनः। तं भौतं भ्रमयन्त्युच्चैर्नाटयन्तो दिवानिशम् ॥ ४३२ ॥ इत्थं कदर्थ्यमानोऽपि तेषु स्निग्धमनाः स तु। भिक्षाप्तिमात्रमुदितः स्वस्योच्चैर्मन्यते सुखम् ॥ ४३३ ॥ रत्नादिपूर्णात्स्वमठाद् भक्ताच्च स्वकुटुम्बतः। च्युतं मग्नं च दुःखाब्धौ शोच्यं स्वं वेत्ति नो पुनः ॥ ४३४ ॥ तदेष ते महाराज ! कथितो बठरो गुरुः। लोकोऽयं येन सदृशः परमार्थं न बुध्यते ॥ ४३५ ॥

कथमेतदिति प्रोक्ते राज्ञा भूयोऽवदद् गुरुः । ग्रामोऽत्र भूप ! संसारो विज्ञातव्योऽतिविस्तृतः ॥ ४३६ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नादिधनपूरितम् । स्वरूपं जीवलोकस्य विज्ञेयं शिवमन्दिरम् ॥४३७॥ जीवलोकश्च भौतोऽयमुन्मत्तः कर्मयोगतः । क्षमासत्यादयस्तस्य ये गुणास्तत्कुटुम्बकम् ॥ ४३८ ॥ रागद्वेषप्रभृतयो विज्ञेया धूर्त्ततस्कराः । ये दुष्टा अपि भासन्ते जीवलोकस्य बन्धुवत् ॥ ४३९ ॥ जैना माहेश्वराः प्रोक्ता जीवलोकस्य बोधकाः । त्यजन्त्यबुध्यमानं च जठरं ते प्रकल्प्य तम् ॥ ४४० ॥ रागाद्यास्तेऽथ लोकस्योन्मादं संवर्द्ध्य तद्गुणान् । क्षिप्त्वा चित्ते निरुन्धन्ति मध्यापवरकोपमे ॥ ४४१ ॥ तत्स्वरूपं वशीकृत्य महामोहं च नायकम् । महाधूर्त्तोपमं न्यस्यास्याग्रे तं नाटयन्ति च ॥ ४४२ ॥ भोगाकाङ्क्षा क्षुधा ज्ञेया जीवलोको ययार्दितः । रागादीनेष यत्नेन याचते भोगभोजनम् ॥ ४४३ ॥ रागाद्यास्तेऽथ भिक्षायै पापमध्या विलिप्य तम् । भ्रमयन्ति भवग्रामे लोकं विहितवेष्टनाः ॥ ४४४ ॥ नारकतिर्यग्मनुजदेवसम्बधिनो भवाः । विज्ञेयास्ते भवग्रामे चत्वारः पाटकाः क्रमात् ॥ ४४५ ॥ कर्प्परं च शरावं च ताम्रं राजतमेव च । भाजनं जीवलोकस्य तदायुष्कमुदाहृतम् ॥ ४४६ ॥ गृहाण्युक्तानि विद्वद्भिर्विविधा योनयः पुनः । पिङ्गलोकास्तु परमाधार्मिकक्षुत्तृषादयः ॥ ४४७ ॥ तत्तदायुर्धरस्तत्तद्भवयोनिष्वटंस्ततः । दुःखमेवोल्बणं तत्तल्लोकोऽयं लभते तदा ॥ ४४८ ॥ पुण्यं तु रत्नच्छायोक्ता तदाविर्भावतश्चिरात् । लभते मर्त्यदेवत्वे भोगभोजनमप्यसौ ॥ ४४९ ॥ एवं रागादिभिर्लोको भोगाकाङ्क्षी मुहुर्मुहुः । संसारे भ्राम्यमाणोऽसौ क्लिश्यते क्रूरकर्मभिः ॥ ४५० ॥ अयं तु क्लिश्यमानोऽपि जीवलोको विमूढधीः । मन्यते सुखभाजं स्वं न तु

सर्वस्वविच्युतम् ॥ ४५१ ॥ तदेवमेष राजेन्द्र! लोकस्तत्त्वं न बुध्यते। दुःखाम्भोनिधिमग्नोऽपि यथाऽसौ वठरो गुरुः ॥ ४५२ ॥ ऊचे धवलराजोऽथ यद्येवं भगवन्! कथम्। विमोक्षो भविताऽस्माकमस्माद् भवविडम्बनात् ॥ ४५३ ॥ गुरुराह तदा भावी मोक्षोऽस्माद्भवतां यदा। तादृग्वो भावि वठरस्याभूद्यादृक् कथान्तरम् ॥ ४५४ ॥ किं तस्य भगवन्! जातमिति भूपतिनोदिते। जगाद भगवानेवं महाराज! निशम्यताम् ॥ ४५५ ॥ तैस्तथा वठरं चौरैर्बाध्यमानं विलोक्य तम्। महामाहेश्वरस्याभूदेकस्य करुणैकदा ॥ ४५६ ॥ ततस्तदुपकाराय शिवौकः स सुधीर्निशि। सम्पृच्छ्यैकं महावैद्यमात्तोपकरणो ययौ ॥ ४५७ ॥ इतश्च बृहतीं वेलां वठरं विनटय्य तम्। श्रान्ता इव प्रसुषुपुस्तदा ते धूर्त्ततस्कराः ॥ ४५८ ॥ माहेश्वरवरः सोऽथ प्रविश्य शिवसद्मनि। प्रदीपं दीपयामास वठरं तं ददर्श च ॥ ४५९ ॥ जलपानेऽथ भीतेन तेन खिन्नेन याचिते। स तत्त्वरोचकं नाम तीर्थाम्भस्तमपाययत् ॥ ४६० ॥ तत्पानात् गलितोन्मादः समुल्लसितचेतनः। शिवौकः परितः पश्यन्स तानैक्षिष्ट तस्करान् ॥ ४६१ ॥ किमेतदिति संपृष्टस्तेन माहेश्वरोऽथ सः। मूलादारभ्य वृत्तान्तं तदीयं सर्वमाख्यत ॥ ४६२ ॥ किमिदानीं मया कार्यमिति तेनोदितः पुनः। वज्रदण्डं समर्प्यैकमूचे माहेश्वरः स तम् ॥ ४६३ ॥ तवैते वैरिणस्तावद् भट्टारक! मलिम्लुचाः। दण्डेनैते ततोऽनेन हन्यन्तामविलम्बितम् ॥ ४६४ ॥ सोऽथ दण्डेन चौरांस्तान् जघान निखिलानपि। मध्यापवरकद्वारं समुद्घाटयति स च ॥ ४६५ ॥ कुटुम्बं तन्निजं दृष्ट्वा तां च रत्नादिसम्पदम्। योगीव परमं ज्योतिः परं हर्षमवाप सः ॥ ४६६ ॥ भवग्रामं सारगुरुः स त्यक्त्वा बहुतस्करम्। गत्वा

शिवालयाभिख्ये मठेऽस्थात् निरुपद्रवे ॥ ४६७ ॥ तदेतत्तस्य संजज्ञे महीनाथ ! कथान्तरम् । महीनाथोऽप्युवाचैवं कथमेतज्जने समम् ? ॥ ४६८ ॥ शशंस शमिनामीशो विशामीश ! निशम्यताम् । महामाहेश्वरो धर्मोपदेष्टात्र गुरुर्मतः ॥ ४६९ ॥ स हि रागाद्यभिव्याप्तं तद्दुःखौघपीडितम् । जीवलोकमिमं दृष्ट्वा जायते करुणापरः ॥ ४७० ॥ महावैद्यस्तु विज्ञेयो जिनस्तदुपदेशतः । ज्ञात्वोपायं गुरुर्लोकोपकाराय प्रवर्त्तते ॥ ४७१ ॥ ततो रागादिषु क्षीणोपशान्तत्वं गतेषु सः । जीवस्वरूपे ज्ञानाख्यं प्रदीपं दीपयत्यलम् ॥ ४७२ ॥ पाययित्वा जलं सोऽथ सम्यग्दर्शनसंज्ञकम् । चारित्राख्यं वज्रदण्डं लोकायार्पयति क्रमात् ॥ ४७३ ॥ लोकोऽप्ययमथ ज्ञानवीक्षिताशेषवस्तुकः । सम्यग्दर्शननिर्नष्टकर्मा गुरुनिदेशतः ॥ ४७४ ॥ तांश्चारित्रेण रागादीन् निहत्य नि[1]खिलानपि । पश्यत्युद्घाटिते चित्ते निजान् स्वाभाविकान् गुणान् ॥४७५॥ युग्मम् ॥ सं[2]प्राप्तनिजनिर्व्याजगुणातिशयसु[3]स्थितः । प्रादुर्भूताद्भुतैश्वर्यैः परमां मुदमश्नुते ॥४७६॥ रुद्धं रागादिभिस्त्यक्त्वा स संसारमिमं ततः । गत्वा मठोपमे मोक्षे निराबाधे च तिष्ठति ॥ ४७७ ॥ ततो यदैष वृत्तान्तो भविता भवतामपि । भविष्यति तदा मोक्षोऽमुष्माद् भवविडम्बनात् ॥ ४७८ ॥ सूरेः श्रुत्वाथ तां वाचं विवेकारामसारणिम् । मुदितस्तं जनाधीशो जनश्चैवं व्यजिज्ञपत् ॥ ४७९ ॥ अस्माकं भगवन् ! येषां त्वमकारणवत्सलः । नाथः समभवत् तेषां वृत्तान्तोऽयं न दुर्लभः ॥ ४८० ॥ अतो भगवतास्माकं विधायानुग्रहं परम् । दीयतामधुनादेशः किमस्माभिर्विधीयताम् ? ॥ ४८१ ॥ सूरिरूचेऽथ भो भद्राः ! साधु साधु

---

१ निखिलान् क्रमात् क० ख० ग० । २ स प्राप्त० क० ख० ग० घ० । ३ °संस्थितः क० ख० ग० घ० ।

प्रजल्पितम्। फलवानधुना जज्ञे मत्प्रयासद्रुमो ध्रुवम् ॥ ४८२ ॥ इयानेव ममादेशो भवद्भिः क्रियतामिह। कुर्वन्तु तद् भवन्तोऽपि सत्वरं यन्मया कृतम् ॥ ४८३ ॥ युष्माभिः किं कृतमिति पृष्टो राज्ञाऽवदद्गुरुः। मत्वा घोरं भवं जैनी दीक्षेयं जगृहे मया ॥ ४८४ ॥ युष्माकमपि चेज्जातो बोधो मदुपदेशतः। भवक्षयक्षमा मङ्क्षु दीक्षेयं गृह्यतां ततः ॥ ४८५ ॥ नृपः प्रोवाच भगवन्! यदादिष्टमिदं त्वया। स्थितं हृदि तदस्माकं केवलं कथ्यतामदः ॥ ४८६ ॥ वयमेते त्वया तावद् गाढायासेन बोधिताः। भवांस्तु बोधितो नाथ! कथं केन कुतः क्व च? ॥ ४८७ ॥ ततो जगाद भगवान् सतामात्मप्रशंसनम्। परनिन्दा च भूपाल! विधातुं नैव युज्यते ॥ ४८८ ॥ तच्च स्याद् द्वयमप्यात्मचरितं शंसतो मम। तथापि तव निर्बन्धात् कथ्यते शृणु पार्थिव! ॥४८९॥ प्रभूतवृत्तवृत्तान्ते पुरे नाम्ना धरातले। राजा शुभविपाकोऽस्ति जगत्कुमुदचन्द्रमाः ॥ ४९० ॥ कान्ता तस्यानुरूपाऽस्ति नामतो निजसाधुता। तत्कुक्षिभूर्बुधाख्यश्च सूनुर्गुणमहोदधिः[1] ॥ ४९१ ॥ तथा शुभविपाकस्य कनीयानस्ति सोदरः। अशुभविपाकनामा विश्वसन्तापकारकः ॥ ४९२ ॥ अनुरूपाऽस्ति तस्यापि परिणत्यभिधा प्रिया। तत्कुक्षिजश्च मन्दाख्यः सूनुर्दोषविषोरगः ॥ ४९३ ॥ पितृव्यपुत्रभावेन तयोश्च बुधमन्दयोः। मैत्री समजनि भ्रात्रोरतिमात्रमकृत्रिमा ॥ ४९४ ॥ इतश्च धिषणा नाम पुरे विमलमानसे। शुभाभिप्रायभूभर्तुर्दुहिताऽस्ति मनोहरा ॥ ४९५ ॥ तां च स्वयंवरायातामुपायंस्त मुदा बुधः। तत्कुक्षिसम्भवस्तस्य विचाराख्यः सुतोऽभवत् ॥ ४९६ ॥

---

१ °सुघोदधिः क० ख० ग० घ०।

अन्येद्युश्च निजे क्षेत्रे रममाणौ यदृच्छया। शैलं ललाटनामानं बुधमन्दावपश्यताम् ॥ ४९७ ॥ विनीलबहुलच्छाया कबर्याख्या वनावली। तुङ्गे शीर्षाभिधे शृङ्गे यस्योपरि विराजते ॥ ४९८ ॥ कौतुकादथ तं यावद्वीक्षितुं धरणीधरम्। तौ राजतनयौ तत्र प्रदेशे समुपेयतुः ॥ ४९९ ॥ तस्याद्रेः प्रसृताऽधस्तात् शिलासङ्घातनिर्मिता। तावत् ताभ्यामदर्श्येका नासिकाख्या महागुहा ॥ ५०० ॥ सुदीर्घमतिगम्भीरमन्धकाराभिपूरितम्। अदृश्यमान–पर्यन्तं द्वाराभ्यामेव लक्षितम् ॥ ५०१ ॥ विभक्तं मध्यशिलया[3] विस्मयैकनिकेतनम्। तदन्तश्चापवरकद्वितयं तावपश्यताम् ॥ ५०२ ॥ युग्मम् ॥ पश्यतस्तत् ततो यावद्विस्मितौ तौ नृपात्मजौ। गुहातो निर्ययौ तावद्दारिकैकातिचञ्चला ॥ ५०३ ॥ नत्वोचे सादरं तौ सा स्वागतं भवतोः प्रभू !। आत्मीयदर्शनात्साधु ममाद्यानुग्रहः कृतः ॥ ५०४ ॥ निवेदयावयोर्बाले ! कासि त्वं कन्दरोदरे !। किमर्थं चात्र वससीत्यूचे मन्दोऽथ तां मुदा ॥ ५०५॥ तच्च तस्य वचः श्रुत्वा सा शोकभरनिःसहा। पपात मूर्च्छया भूमौ लतेव पवनाहता ॥ ५०६ ॥ ततः शीतोपचारेण मन्देनाश्वास्य सम्भ्रमात्। किमेतदिति सम्पृष्टा साऽगदत्[3] गद्गदस्वरम् ॥५०७॥ विस्मृता युवयोरेवं याहं स्वस्वामिनोरपि। तस्या मे मन्दभाग्यायाः किं स्तोकं शोककारणम् ? ॥ ५०८ ॥ भुजङ्गताभिधानाहं युवयोः परिचारिका। तिष्ठामि युष्मदादेशादेव दर्यामिहान्वहम् ॥५०९॥ अस्यां हि भवतोरस्ति प्राणाख्यः परमः सुहृत्। ततो युवाभ्यां निर्दिष्टा तस्याहं परिचारिका ॥ ५१० ॥ चिरकालप्ररूढं च युवयोस्तेन सङ्गतम्। यथा चैतत्सम-

१ °देव तं ग०। २ °लाया कु० ख०। ३ साऽवदत् ग०।

भवत्तथा नाथौ निशम्यताम् ॥ ५११ ॥ पुराऽसंव्यवहाराख्यपुरात्प्रययथुर्युवाम् । एकाक्षनिवासे कर्मपरिणामस्य शासनात् ॥५१२॥ विकलाक्षनिवासे च ततोऽपि हि गतौ युवाम् । अनेकलोकसम्पूर्णपाटकत्रयभूषिते ॥ ५१३ ॥ तत्र त्रिकरणा नाम बहवः कुलपुत्रकाः । द्वितीये पाटके सन्ति तन्मध्ये संस्थितौ युवाम् ॥ ५१४ ॥ सोऽथ कर्मपरीणामो युवयोस्तत्र तिष्ठतोः । प्रसन्नः प्रददावेतां नासिकाख्यां महागुहाम् ॥५१५॥ अयं च घ्राणसंज्ञोऽस्या गुहायाः परिपालकः । युवयोर्विदधे तेन वयस्योऽत्यन्तवत्सलः ॥ ५१६ ॥ भवतोः सङ्गतं तेन ततः प्रभृति वर्त्तते । राजादेशात् न निर्याति गुहायाः किन्त्वसौ बहिः ॥ ५१७ ॥ युवाभ्यां संस्थितोऽत्रैव गन्धैर्नानाविधैस्ततः । तत्र तत्र पर्यटद्भ्यामप्यसौ लालितः सदा ॥ ५१८ ॥ गताभ्यां मनुजगतावन्येद्युः परिचारिका । अस्याहं सुहृदः स्नेहाद् युवाभ्यां विदधे प्रभू ! ॥ ५१९ ॥ ततः प्रभृत्यहं तिष्ठाम्येषा युष्मन्निदेशतः । घ्राणान्तेऽत्र सदा तत् किं युवयोरस्मि विस्मृता ? ॥ ५२० ॥ ततोऽयं पूर्ववन्नाथौ ! दृश्यतां किङ्करो जनः । वदन्त्येवं बुधमन्दपदयोर्निपपात सा ॥ ५२१ ॥ मन्दोऽथ पादपतितां समुत्थाप्य भुजङ्गताम् । तत्प्रीतिवासितस्वान्तः समभाषत सादरम् ॥५२२॥ विषादं मुञ्च चार्वङ्गि! धीरा भव वरानने ! । विस्मृतोऽप्येष वृत्तान्तः साधु संस्मारितस्त्वया ॥५२३॥ तदत्र भवती तावन्निवेदयतु मेऽधुना । स्नेहक्रीतो जनोऽयं ते विदधातु किमीप्सितम् ? ॥ ५२४ ॥ साऽवोचदियदेवात्र कार्यं नाथ ! ममेप्सितम् । पूर्ववल्लाल्यतां घ्राणो वयस्यो यदसौ निजः ॥५२५॥ मनोहरेषु गन्धेषु बद्धतृष्णस्य सर्वदा । दुर्गन्धवस्तुनामापि न चास्य प्रतिभासते ॥ ५२६ ॥ कुङ्कुमागरुकस्तूरीकर्पूरकुसुमादिभिः । ततः सुगन्धिभि-

र्द्रव्यैर्लाल्यतामेष सर्वदा ॥ ५२७ ॥ एवं च लालितेऽमुष्मिन् घ्राणे यद्भवतोः सुखम् । सम्भविष्यति तन्नाथ ! को वर्णयितुमीश्वरः ? ॥५२८॥ मन्दोऽथाभिदधे सुभ्रु ! सुन्दरं गदितं त्वया । एतत्करिष्यते सर्वं तिष्ठ भद्रे ! निराकुला ॥ ५२९ ॥ महाप्रसाद इति सा वदन्त्यथ भुजङ्गता । पपात पादयोस्तस्य भूयोऽप्युद्भूतसम्मदा ॥ ५३० ॥ दध्यौ बुधस्तु मे भाति दारिकेयं न सुन्दरा । ततो ममानया कर्तुं संस्तवोऽपि न युज्यते ॥५३१॥ किन्तु क्षेत्रमिदं शैलः कन्दरा च मदीयिका । अतोऽत्र यः स्थितो घ्राणः स मे पाल्यो न संशयः ॥ ५३२ ॥ केवलं यदियं वक्ति दारिका[1] विप्रतारिका । तन्मया नास्य कर्त्तव्यं लालनं सुखकाम्यया ॥ ५३३ ॥ एवं निश्चित्य चित्तेन घ्राणं तं पालयन्नपि । बुधो न युज्यते दोषैर्लभते च परं सुखम् ॥ ५३४ ॥ भुजङ्गतां पुरस्कृत्य क्लेशं मन्दस्तु केवलम् । प्राप्नोति तत्तत्सद्गन्धवस्तुमीलनलम्पटः[2] ॥ ५३५ ॥ इतश्च यौवनारूढो विचारो बुधनन्दनः । कौतुकान्निर्ययौ बाह्यान्तरदेशदिदृक्षया ॥ ५३६ ॥ भ्रान्त्वा तेषु चिरं सोऽथ परिपूर्णकुतूहलः । स्वस्थानमाययौ राजकुलं च मुमुदेतराम् ॥५३७॥ वृत्ते महाविमर्देन तदागममहोत्सवे । विचारो बुबुधे मैत्रीं घ्राणेन बुधमन्दयोः ॥५३८॥ ततो रहसि संस्थाप्य तमात्मपितरं बुधम् । विचारश्चारुवचनैरुवाच रचिताञ्जलिः ॥५३९॥ तात ! यो युवयोर्जातो घ्राणनामा वयस्यकः । सोऽयं न सुन्दरोऽमुष्य मूलशुद्धिर्निशम्यताम् ॥ ५४० ॥ इतस्तावदहं तात ! देशदर्शनकौतुकात् । अपृष्ट्वा तातमम्बां च तदैकाकी विनिर्ययौ ॥ ५४१ ॥ विपुलां विपुलामेनां प्रविलोक्य ततो मुदा ।

१ दारका ता० । २ ०सुगन्ध० ग० ।

जगाम भवचक्राख्ये नगरेऽहं गरीयसि ॥ ५४२ ॥ राजमार्गेऽहमद्राक्षं तत्र चैकां मृगीदृशम् । दृशोरमन्दमानन्दं ददतीं कौमुदीमिव ॥ ५४३ ॥ छायान्तरं भजन्त्युच्चैः सापि मां वीक्ष्य सुस्मिता । उच्छ्वासं कलयामास वल्लीव सलिलोक्षिता ॥ ५४४ ॥ मया कृतनतिः साथ दत्त्वाशिषमुवाच माम् । कोऽसि वत्स ! किमर्थं वा कुतो वात्र समागतः ? ॥ ५४५ ॥ धिषणाबुधयोः सूनुर्विचारोऽहं धरातलात् । महीदिदृक्षया भ्राम्यन् प्राप्तोऽत्रेति मयोच्यत ॥ ५४६ ॥ तच्छ्रुत्वाश्लिष्य मां मूर्ध्नि चुम्बित्वा च मुहुर्मुहुः । जगाद सादरं साथ हर्षाश्रुप्लावितेक्षणा ॥ ५४७ ॥

ममाद्य कृतमैर्वत्स ! फलितं पुण्यपादपैः । अनभ्रवर्षसङ्काशो यदभूत् त्वत्समागमः ॥ ५४८ ॥ वत्स ! प्रत्यभिजानासि त्वं मां नैव विशेषतः । यतो मया लघिष्ठोऽसि तदा मुक्तः स्तनन्धयः ॥ ५४९ ॥ अहं हि मातुस्ते वत्स ! धिषणायाः सखीवरा । अभीष्टा बुधराजस्य नाम्ना मार्गानुसारिता ॥ ५५० ॥ तयोरहं समादेशात्सर्वलोकविलोकनम् । कर्तुं विनिर्गता तात ! जातमात्रे पुरा त्वयि ॥ ५५१ ॥ अतो मे भागिनेयस्त्वं तनयस्त्वं वपुस्तथा । जीवितं परमात्मा च सर्वं भवसि सुन्दर ! ॥ ५५२ ॥ अन्यच्च विदधे साधु ! भवतोद्यमशालिना । यदेवं निर्गतो गेहात् देशदर्शनकौतुकी ॥ ५५३ ॥ यो ह्येनां नेक्षते क्षोणिमनेकाद्भुतसङ्कुलाम् । कूपमण्डूकवत् तस्य गुणा दाक्ष्यादयः कुतः ? ॥ ५५४ ॥ तथेदं सुन्दरतरं वत्सेन विहितं ननु । भवचक्रे यदायातस्त्वमत्र प्रवरे पुरे ॥५५५॥ प्रभूतकौतुकागारं यो हि पश्यत्यदः पुरम् । तेनाशेषमिदं दृष्टं मन्ये विश्वं चराचरम् ॥ ५५६ ॥ मयोक्तमम्ब ! यद्येवं ततो मे दर्शयाधुना । भवचक्रं पुरमिदं पुण्यैर्मे मिलिताऽसि यत् ॥ ५५७ ॥ तथेति प्रतिपेदाना साथ मार्गा-

नुसारिता । तात ! तन्मे पुरं विष्वक् सवृत्तान्तमदर्शयत् ॥ ५५८ ॥ अथैकत्र मया दृष्टा पुरं तत्र महागिरिम् । तच्छृङ्गेऽन्यच्च नगरं प्रोक्ता मार्गानुसारिता ॥५५९॥ निवेदयाम्ब ! किं नाम पुरमेतदवान्तरम् । कश्चायं शिखरी ? किं च पुरं शृङ्गेऽस्य दृश्यते ? ॥५६०॥ मार्गानुसारिता प्राह वत्स ! नो लक्षितं त्वया ? । सुप्रसिद्धमिदं लोके पुरं सात्त्विकमानसम् ॥ ५६१ ॥ एषोऽपि सुप्रतीतोऽत्र विवेकाख्यो महीधरः । प्रसिद्धमप्रमत्तत्वाभिधानं शिखरं त्वदः[2] ॥ ५६२ ॥ इदं च विश्वविख्यातं जैनाख्यं पुरमुच्यते । तव विज्ञातसारस्य कथं प्रष्टव्यतां ययौ ? ॥ ५६३ ॥ यावच्च कथयत्येवं सा मे मार्गानुसारिता । तावज्जातोऽपरस्तत्र वृत्तान्तस्तात ! तं शृणु ॥ ५६४ ॥ गाढप्रहारविधुरः पुरुषैः परिवेष्टितः । अभिशैलं नीयमानः पुमानेको मयैक्ष्यत ॥ ५६५ ॥ तत्स्वरूपं मया पृष्टा साऽऽह मार्गानुसारिता । वत्स ! चारित्रधर्माख्यो गिरावस्तीह भूपतिः ॥ ५६६ ॥ यतिधर्मस्य तत्सूनो-र्भटोऽयं संयमाभिधः । एकाकी च क्वचिद् दृष्टो महामोहादिशत्रुभिः ॥ ५६७ ॥ ततो बहुत्वाच्छत्रूणां प्रहारैर्जर्जरीकृतः । अयं निर्वाहितो वत्स ! रणभूमेः पदातिभिः ॥५६८॥ नेष्यन्त्येतेऽधुना चैनं गिरिस्थे जैनपत्तने । तिष्ठन्ति तत्र पित्राद्याः सर्वे ह्येतस्य बान्धवाः ॥ ५६९ ॥ मयाप्यूचे करिष्यन्ति ह्[3]ष्टेमं शत्रुविद्रुतम् । यत्ते चारित्रधर्माद्या-स्तदम्ब ! मम दर्शय ॥ ५७० ॥ एवं विधीयते वत्सेत्युक्त्वा सा तत्र पर्वते । समारुह्य मया सार्द्धं तज्जैनं पुरमासदत् ॥ ५७१ ॥ तत्र चित्तसमाधानाभिधाने सोऽर्थ मण्डपे । राजमण्डलमध्यस्थो वीक्षितः क्षितिनायकः

१ तत्कस्य घ० । २ त्विदम् क० ग० घ० । ३ हृष्टैतं शत्रु० ग० ।

॥ ५७२ ॥ इतश्च तैर्नरैस्तत्र समानीय स संयमः । दर्शितो भूपतेः सर्वो वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥ ५७३ ॥ ततस्तं तादृशं दृष्ट्वा प्रतिपक्षपराभवम् । चुक्षुभुस्ते नृपास्तत्र युगान्त इव सागरः ॥ ५७४ ॥ केऽपि मुञ्चन्ति हुङ्कारं भ्रकुटीभङ्गभीषणाः । अपरे विब्रुवन्त्युच्चैर्गुञ्जारुणविलोचनाः ॥ ५७५ ॥ भुजमास्फालयन्त्यन्ये शस्त्रविन्यस्तदृष्टयः । सर्वेऽप्येवं क्रुधाध्माता विविधं विविचेष्टिरे ॥ ५७६ ॥ तादृक्षमथ तं वीक्ष्य क्षुभितं राजमण्डलम् । चारित्रधर्मराजेन्द्रं सद्बोधसचिवोऽब्रवत् ॥ ५७७ ॥ धीराणां देव ! युक्तोऽयं नेदृक्षः क्षोभविभ्रमः । वार्यन्तां तदमी भूपाः कार्यसारा हि सूरयः ॥ ५७८ ॥ ततो निवार्य राजेन्द्रः सर्वांस्तान् दृष्टिसंज्ञया । पप्रच्छैवंस्थिते कार्ये भो ! भोः ! किं क्रियतामिति ? ॥ ५७९ ॥ प्रोचिरे मानिनस्तेऽथ दुःसहेऽस्मिन् पराभवे । रिपुभिस्तैः कृते देव ! किमद्यापि विलम्ब्यते ? ॥ ५८० ॥ वरं तृणं वरं तूलं वरं भस्म वरं रजः । प्रतिपक्षापमानेऽपि सुस्थितो न पुनः पुमान् ॥५८१॥ किञ्चेच्छा देवपादानां यावत् तत्र न वर्त्तते । पापानां प्रलयस्तेषां तावदेव न जायते ॥ ५८२ ॥ एकैकोऽपि भटो देव ! तावकीनो रणे यतः । निःशेषांस्तानलं हन्तुं कुरङ्गानिव केशरी ॥५८३॥ अथवामी नराः सन्तु नार्योऽपि तव सैन्यगाः । द्विषस्तानलमुच्छेत्तुं तत् किं देव ! विलम्ब्यते ? ॥ ५८४ ॥ विरतेष्वथ तेष्वेवमुक्त्वा चारित्रभूपतिः । मन्त्रार्थं सम्यग्दर्शनसद्बोधाभ्यां ययौ रहः ॥ ५८५ ॥ मया सार्द्धं कृतान्तर्द्धिः साथ मार्गानुसारिता । तत्रापि प्रययौ तावत् तन्मन्त्रश्रवणेच्छया ॥५८६॥ अथ तत्रोचितं राज्ञा पृष्टयोर्मन्त्रिणोस्तयोः । स सम्यग्दर्शनस्तावद् भूपतिं प्रत्यभाषत ॥ ५८७ ॥ रणकण्डूलदोर्दण्डैर्यदुक्तं देव ! पार्थिवैः । तदेव प्राप्तकालं ते किमालोचैरि-

हापरैः ॥ ५८८ ॥ तस्याजननिरेवास्तु यद्वा भूयादजीवनिः । यः क्लीव इव निर्जीवः सहतेऽरिपराभवम् ॥५८९॥ किश्चैते प्लावयन्त्येव त्वद्भटाः सागरा इव । रिपुलोकं न चेदेषां स्यात् तवाज्ञोपरोधिनी ॥५९०॥ यस्यैकोऽपि च राज्ञः स्यात् रिपुः सोऽपि जिगीषति । तस्योपेक्षोचिता किं ते द्विषो यस्य परःशताः ॥ ५९१ ॥ तन्निहत्याखिलानेतान् व्याधीनिव विरोधिनः । निराकुलः प्रभो ! भुङ्क्ष्व प्राज्यसाम्राज्यसम्पदम् ॥ ५९२ ॥ इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्नरेन्द्रेण निरीक्षितः । मन्त्री जगाद सद्बोधः सद्बुद्धिधनसेवधिः ॥ ५९३ ॥ साधु साधूदितं देव ! सुप्रगल्भगिराऽमुना । एवं च स्वामिभक्तत्वं निजं तेजश्च दर्शितम् ॥ ५९४ ॥ प्रस्तावरहितं कार्यं नारभ्यं किन्तु धीमता । नीतिविक्रमयोर्यस्मात्प्रस्तावः कार्यसाधकः ॥ ५९५ ॥ न नः सम्प्रति स त्वस्ति तत्र हेतुर्निशम्यताम् । इदं मूलविनष्टं हि तावत्सर्वं प्रयोजनम् ॥ ५९६ ॥ भवचक्रमिदं यस्माद् वयं ते च विरोधिनः । स च कर्मपरीणाममहाराजो महाभुजः ॥ ५९७ ॥ तस्य संसारिजीवस्याधीनं निःशेषमप्यदः । चित्तवृत्तिमहाटव्यां यस्यैतत्सकलं स्थितम् ॥ ५९८ ॥ युग्मम् ॥ स पुनर्वेत्ति नाद्यापि नामाप्यस्मादृशां खलु । तान्महामोहमुख्यांश्च मन्यतेऽत्यन्तवत्सलान् ॥५९९॥ इतश्च यत्र तस्य स्यात् पक्षपातः समुत्कटः । तस्यैव विजयो नूनं स हि सर्वस्य नायकः ॥६००॥ ततः संसारिजीवोऽस्मान्यावज्जानाति नैव सः । यावन्न पक्षपातश्च तस्यास्मासु प्रजायते ॥ ६०१ ॥ तावद्वैरिभिरस्माकं विग्रहो नैव युज्यते । किं कुर्यादयमस्माकमुत्साहस्तद्बलं विना ॥६०२॥ युग्मम् ॥ वाच्यं नैतच्च यदसावस्मान् ज्ञास्यति वा न वा ? । समये क्वापि सोऽवश्यमेवास्मानवभोत्स्यते ॥६०३॥ यतः कर्मपरीणामः स राजाऽत्र बलद्वये । समान-

पक्षपातेन सदा प्रायेण वर्त्तते ॥ ६०४ ॥ तस्य संसारिजीवोऽपि सर्वं च कुरुते वचः । अस्मानेष ततस्तस्य कदाचिद् ज्ञापयिष्यति ॥६०५॥ ततश्च तेन विज्ञाताः सप्रसादं च नोदिताः । वयं देव ! भविष्यामः शत्रुनिर्दलन-क्षमाः ॥ ६०६ ॥ प्रस्तावाभावतस्तस्मात् सम्प्रत्यत्र प्रयोजने । युक्तः कालविलम्बो नः काले हि सफला क्रिया ॥६०७॥ प्रोचे सम्यग्दर्शनोऽथ यद्येवं प्रेष्यतां ततः । दूतो द्विषां यथा सीम्नि सन्ति ते तेन भर्त्सिताः ॥ ६०८ ॥ सद्बोधः प्राह दूतेनाप्यधुना प्रहितेन किम् ? । एवमेवाऽऽस्महे तावत् समयं यावदाप्नुमः ॥ ६०९ ॥ प्राह सम्यग्दर्शनोऽपि न भाव्यमतिभीरुभिः । करिष्यन्ति किमस्माकं सुरुष्टा अपि ते शठाः ? ॥ ६१० ॥ अथवा रोचते नाऽऽर्य ! दूतस्ते दण्डपूर्वकः । ततः सन्धिविधानार्थं सामपूर्वः प्रहीयताम् ॥६११॥ सद्बोधः प्राह सेर्ष्याणां साम प्रत्युत दीपकम् । प्रतप्तानि हि सर्पींषि दीप्यन्ते भृशमम्भसा ॥ ६१२ ॥ दृश्यतां वा फलेनैतत् पूर्यतां वः कुतूहलम् । प्रेष्यतामनुशिष्याऽऽशु कोऽपि दूतः प्रगल्भवाक् ॥ ६१३ ॥ तद्वाक्यमनुमेन्याथ जिज्ञासुर्द्विषदाशयम् । सत्याख्यं प्राहिणोद् दूतमनुशिष्य महीपतिः ॥ ६१४ ॥ अथ दूतानुमार्गेण सापि मार्गानुसारिता । तदा तात ! मया सार्द्धं महामोहबले ययौ ॥ ६१५ ॥ प्रमत्ततानदीतीरे चित्तविक्षेपमण्डपे । महामोहमहीपालो दृष्टश्चास्थान-संस्थितः ॥ ६१६ ॥ सोऽथ दूतोऽपि तत्रैत्य प्रणम्याऽऽसनि ढौकिते । निषद्य क्षेममाख्याय महामोहमदोऽवदत् ॥ ६१७ ॥ बाह्याभ्यन्तरभावानां चित्तवृत्त्यटवीविभुः । तावत् स एव संसारिजीवो भो ! मूलनायकः ॥ ६१८ ॥

---

१ °वं प्र० क० ख० ग० घ० । २ °मोचाऽथ क० ख० ग० घ० । ३ तत्र मया ता० । ४ नौ मू० ग० ।

अतो युष्माकमस्माकमपि स्वामी स एव हि । ततः समस्वामितया को विरोधः परस्परम् ? ॥ ६१९ ॥ सुभृत्या हि मिथः स्निग्धा भवेयुर्बान्धवा इव । स्थिरास्तु तस्मादस्माकं प्रीतिरद्य प्रभृत्यपि ॥ ६२० ॥ इत्युक्त्वा तत्र विश्रान्ते महामोहमहाभटाः । परितः प्रोचिरे प्रोच्चैः प्रोद्भूतक्रोधभीषणाः ॥ ६२१ ॥ अरे ! रे ! तव केनेद-माख्यातं दूतपांसन !। यथा संसारिजीवो नः स्वामी सम्बन्धिनो वयम् ? ॥ ६२२ ॥ पातालेऽपि प्रविष्टानां नैव मोक्षोऽस्ति वः क्वचित् । जल्पाकजल्पितै[1]रेभिरनल्पैरपि किं ततः ? ॥ ६२३ ॥ संसारिजीवो नः स्वामी यूयं सम्बन्धिनः किल । अहो ! सम्बन्धघटना काप्येषाभिनवा श्रुता ॥ ६२४ ॥ तत् तूर्णं याहि रे ! दूत ! देवता-स्मरणोद्यताः । यूयं भवत नन्वेते वयमन्वागताः खलु ॥ ६२५ ॥ इति निर्भर्त्स्य तं दूतं महामोहादयोऽथ ते । चेलुः सर्वाभिसारेण तत्क्षणं रणकाम्यया ॥ ६२६ ॥ सत्येनाभ्येत्य तद्वृत्ते समाख्यातेऽथ मूलतः । चारित्रधर्मराजोऽपि द्विषस्तानभ्यषेणयत् ॥ ६२७ ॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यास्ततः परिसरे तयोः । लग्नमायोधनं घोरमुभयोरपि सेनयोः ॥ ६२८ ॥ ततश्चारित्रधर्मोऽसौ सबलो बलशालिना । महामोहनरेन्द्रेण निर्जितस्तत्र सङ्गरे ॥ ६२९ ॥ चारित्रधर्म-राजेऽथ नंष्ट्वा स्वस्थानमीयुषि । कृतकोलाहलास्तस्थुर्विद्विषस्ते निरुध्य तम् ॥ ६३० ॥ मातृष्वसाथ मामूचे दृष्टं तात ! कुतूहलम् । मयाप्यूचे सुष्ठु दृष्टमम्बिकायाः प्रसादतः ॥ ६३१ ॥ केवलं कलहस्यास्य मूलमम्ब ! परिस्फुटम् । विज्ञातुमहमिच्छामि ततः साप्यब्रवीदिति ॥ ६३२ ॥ महामोहनृपास्थाने रागकेशरिणोऽग्रतः ।

---

१ जल्पनैः कल्पितै० ख०, जल्पाकल्पितै० ग० ।

दृष्टो यो वत्स ! विषयाभिलापः सचिवस्त्वया ॥ ६३३ ॥ अनेन मन्त्रिणा पूर्वं जगत्साधनकाम्यया । मानुषाणि प्रयुक्तानि पञ्चात्मीयानि सर्वतः ॥ ६३४ ॥ चारित्रधर्मराजस्य तन्त्रपालेन तानि तु । सन्तोपेणाभिभूतानि तन्मूलोऽयं हि विग्रहः ॥ ६३५ ॥ मातः ! किमभिधानानि तानि ? पञ्चैव वा कथम् । मानुषाण्यनिशं सर्वं भुवनं साधयन्त्यदः ? ॥ ६३६ ॥ मार्गानुसारिता प्राह प्रोच्यन्ते तानि सुन्दर ! । स्पर्शनरसनाघ्राणदृष्टिश्रुत्यभिधानतः ॥ ६३७ ॥ स्पर्शे रसे च गन्धे च रूपे शब्दे च तानि च । मनः प्रलोभ्य जन्तूनां साधयन्त्यखिलं जगत् ॥ ६३८ ॥ एकैकमपि चामीषु वशीकर्तुमलं जगत् । यत्पुनर्वत्स ! पञ्चापि तत्र किं चित्रमुच्यताम् ? ॥६३९॥ तत् त्वं गच्छाधुना वत्साहमप्येष्यामि पृष्ठतः । विसृष्टोऽहं तयेत्युक्त्वायातस्तात ! तवान्तिकम् ॥ ६४० ॥ मानुषाणां ततस्तेषां पञ्चानां विश्वविद्विषाम् । मध्यवर्त्ती ह्यसौ घ्राणो न साधुस्तात ! सर्वथा ॥ ६४१ ॥ मार्गानुसारिताप्येत्य विचारोक्तं व्यशेषयत् । दध्यौ बुधोऽथ तच्छ्रुत्वा घ्राणत्यागमनोरथम् ॥ ६४२ ॥ इतो भुजङ्गतादेशात्तत्तत्सद्गन्धवस्तुभिः । मन्दस्तं लालयन् घ्राणं न चेतयति किञ्चन ॥ ६४३ ॥ स देवराजभार्यायास्तत्रैव नगरेऽन्यदा । लीलावत्यभिधानाया भगिन्या भवनेऽगमत् ॥ ६४४ ॥ इतस्तदा च सा गन्धयोगं मारणकारणम् । सपत्नीसुतघाताय डोम्बीपार्श्वादुपाददे ॥ ६४५ ॥ तां गन्धपुटिकां द्वारि मुक्त्वा सान्तर्गृहं ययौ । मन्दस्तदा च सम्प्राप्तस्तत्र तां निरवर्णयत् ॥ ६४६ ॥ ततो भुजङ्गतादेशादुन्मोच्य पुटिकामसौ । ददौ घ्राणाय गन्धांस्तांस्त-

१ ०न्यहो ! क० ख० ग० घ० । २ प्रलभ्य ख० । ३ ०मप्यायामि ग० । ४ दध्यौ ख० ।

त्कालं च व्यपद्यत ॥ ६४७ ॥ तन्मृत्योरधिकोद्भूतघ्राणत्यागमनोरथः । तदुपायमथापृच्छद् वुधो मार्गानुसारिताम् ॥ ६४८ ॥ मार्गानुसारिताप्यूचे देव ! हित्वा भुजङ्गताम् । तिष्ठ त्वं साधुमध्यस्थस्तदाचारपरायणः ॥६४९॥ ततोऽयं विद्यमानोऽपि घ्राणो दोषनिवन्धनम् । न ते सम्पत्स्यते देव ! ततस्त्यक्तो भविष्यति ॥ ६५० ॥ तद्वाक्यमनुमन्याथ वुधः सद्गुरुसन्निधौ । समाददे परिव्रज्यां [1]मुक्तिव्रज्यासमुत्सुकः ॥ ६५१ ॥ अभ्यस्तोभयशिक्षोऽथ सञ्जातानेकलब्धिकः । स योग्य इति मत्वाऽऽत्मपदेऽस्थाप्यत सूरिभिः ॥ ६५२ ॥घ्राणकथानकम्॥ वुधसूरिः स एषोऽहं युष्मद्बोधविधित्सया । विहाय गच्छमेकाकी महाराज ! समाययौ ॥ ६५३ ॥ प्रबोधकारणं भूप ! तदिदं संविधानकम् । मम सम्पन्नमेतच्च तुल्यं युष्मादृशामपि ॥ ६५४ ॥ हृषीकैः को हि नामीभिर्वञ्चितो विश्ववञ्चकैः ? । महामोहादिभिः को वा पाप्मभिर्न विडम्बितः ? ॥ ६५५ ॥ तदेतेषु विरागोऽस्ति यदि [2]वो भाववैरिषु । गृह्णीत तदिमां दीक्षां श्रेयःकामगवीनिभाम् ॥ ६५६ ॥ श्रुत्वेति देशनां सूरेरज्ञानोरगजाङ्गुलीम् । सलोको धवलोर्वीशः परं संवेगमासदत् ॥ ६५७ ॥ प्रोवाच विमलं दीक्षां जिघृक्षुः क्षितिपस्ततः । वत्सेदं राज्यमादत्स्वाऽऽदास्यामस्तु वयं व्रतम् ॥ ६५८ ॥ विमलोऽप्याह किं तात ! तवाहं नैव वल्लभः ? । यद् राज्ये नरकान्ते मां संस्थापयितुमिच्छसि ॥ ६५९ ॥ मुक्तिप्रियसखीं दीक्षां जिघृक्षसि पुनः स्वयम् । तदेतेन न मे तात ! कार्यं राज्येन सर्वथा ॥ ६६० ॥ आदास्ये किन्त्वहमपि प्रव्रज्यां भवता सह । भाग्यैर्हि भगवानेष लेभे संसारतारणः ॥६६१॥

१ मुक्तिगमनोत्सुकः । २ भो ! भा० ता० ।

तदुक्त्या मुदितः सोऽथ भूपालः कमलाभिधम् । द्वैतीयीकं न्यधाद्राज्ये तनयं नयशालिनम् ॥ ६६२ ॥ विधाया-ष्टाह्निकादीनि कृत्यान्यथ नृपोऽग्रहीत् । दीक्षां बुधगुरोः पार्श्वे पत्नीसुतजनान्वितः ॥ ६६३ ॥ येऽपि केचित् तदा दीक्षां न ग्रहीतुमपारयन् । सम्यक्त्वाणुव्रतादानात् तेऽप्यात्मानमपावयन् ॥ ६६४ ॥ सूरेर्दृष्ट्वापि तद्रूपं तदा श्रुत्वापि तद्वचः । न मनागपि बोधोऽभूद्भद्रे ! ग्रावाकृतेस्तु मे ॥ ६६५ ॥ प्रत्युताऽचिन्तयमहं तदा बहुलिका-वशात् । सिद्धेन्द्रजालचातुर्यः कोऽप्ययं नूनमाययौ ॥ ६६६ ॥ अहो ! कूटमहो ! धार्ष्ट्यमहो ! वाचाटताऽस्य च । अहो ! मूढा नरेन्द्राद्या येऽमुनापि प्रतारिताः ॥ ६६७ ॥ विमलो मां बलाद्दीक्षां ग्राहयिष्यति किन्त्वसौ । नश्यामि वञ्चयित्वेमं तदहं क्वापि सत्वरम् ॥ ६६८ ॥ चिन्तयित्वेति बद्ध्वाऽहं गाढं मुष्टिद्वयं ततः । तथा नष्टो यथा गन्धमपि जानाति नो जनः ॥ ६६९ ॥ सर्वत्रान्वेषितमपि मामवीक्ष्य ससम्भ्रमः । प्रव्रज्यावसरेऽपृच्छत् मच्छुद्धिं विमलो गुरुम् ॥ ६७० ॥ ज्ञानालोकेन विज्ञाय मत्स्वरूपे यथातथे । सूरिणाथ समाख्याते पप्रच्छ विमलः पुनः ॥ ६७१ ॥ अभव्यः किमयं नाथ ! तवापि वचसि श्रुते । असञ्जातविवेकोऽयं यदेवं हन्त ! चेष्टते ? ॥ ६७२ ॥ सूरिराह महाभाग ! नाभव्यः सुहृदेष ते । यत् त्वेवं चेष्टते तत्र समाकर्णय कारणम् ॥ ६७३ ॥ भ्रात-रावान्तरावस्य स्तेयो बहुलिकापि च । तत् ताभ्यामाश्रितो वामदेवो ह्येवं विचेष्टते ॥ ६७४ ॥ आभ्यां भावी वियोगोऽस्य कदाचिद् भगवन्न वा ? । इत्युक्तो विमलेनाथ भूयोऽपि गुरुरभ्यधात् ॥ ६७५ ॥ शुभाभिसन्धि-

१ स्तस्ता० ग० ।

नृपतेः पुरे विशदमानसे । भार्ये स्तो निर्मलाचारे शुद्धतापापभीरुते ॥ ६७६ ॥ तयोः कुक्षिसमुद्भूते जनकानन्ददायिके । ऋजुताऽचौरते नाम विद्येते कन्यके उभे ॥ ६७७ ॥ ते च कन्ये यदा धन्ये सुहृत् ते परिणेष्यति । तदाऽऽभ्यां पापबन्धुभ्यां[1] वियोगोऽस्य भविष्यति ॥ ६७८ ॥ भविष्यत्ययमर्थस्तु प्राज्ये कालेऽतिलङ्घिते । ततः सम्प्रत्ययोग्यस्य विधेह्यस्यावधीरणाम् ॥ ६७९ ॥ अनुशिष्येति विमलं बुधः स भगवानथ । ययौ गच्छं निजं नव्यदीक्षितैस्तैः समावृतः ॥ ६८० ॥ अहं तु काञ्चनपुरे सरलस्याऽऽपणं ययौ । साश्रुदृक् प्रणतश्चास्मै प्रोद्यद्बहुलिकावशात् ॥ ६८१ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽहं श्रेष्ठिना तेन चावदम् । त्वां वीक्ष्य स्वपिता तात ! स्मृतो मे श्रेष्ठ्यथाभ्यधात् ॥ ६८२ ॥ यद्येवं तद्धपुत्रस्य पुत्रो मे त्वं ततोऽनयत् । स्वगृहे मां स्वभार्यायै बन्धुमत्यै तथाऽर्पयत् ॥ ६८३ ॥ स्नपयित्वा भोजयित्वा पृष्टो नामकुलादिकम् । निजं न्यवेदयमहं निःशेषं श्रेष्ठिनोस्तयोः ॥ ६८४ ॥ सजातिरयमित्युच्चैर्मुदितः सरलोऽथ[2] सः । प्रपन्नपुत्रे[3] मय्येव गृहभारं न्यवेशयत् ॥ ६८५ ॥ स च श्रेष्ठी मया सार्धं विपणौ निशि सर्वदा । स्वपित्यन्तःक्षिनिन्यस्तरत्नादिधनमूर्च्छया ॥ ६८६ ॥ षष्ठीजागरणे स्वस्य सूनोः सोऽथान्यदा निशि । आहूतो बन्धुलेनाह्वेन[4] वैयस्येन जगाद माम् ॥ ६८७ ॥ मयाऽद्य[6] वत्स ! गन्तव्यं सुहृद्बन्धुलवेश्मनि । एकाक्यपि ततो गत्वा वस त्वं विपणौ निशि ॥ ६८८ ॥ मया प्रोचे विना

१ °बुद्धिभ्याम् ग० । २ ऽभवत् ख० । ३ ततो मय्येव सोऽखिलं गृ० ख० । ४ °लाख्येन ख० ग० ।
५ मित्रेण मामवोचत ख० । ६ वत्स ! मयाऽद्य ग० ख० ।

तातं गमनेनालमापणे । वत्स्यामि तावदम्बाया एवाद्य चरणान्तिके ॥ ६८९ ॥ अथाहो ! स्नेहसारोऽयमिति ध्यायन् भवत्वदः । इत्युक्त्वा सरलोऽप्यासीत् तस्थौ वेश्मन्यहं पुनः ॥ ६९० ॥ ततोऽहं हर्तुमन्तःस्वं निशीथे स्तेयनोदितः । गत्वा प्रोद्घाटयन् हट्टं पुरारक्षैर्निरीक्षितः ॥ ६९१ ॥ ज्ञातुं मदाशयं तेषु निभृतं संस्थितेष्वथ । हट्टपश्चाद्भुवि न्यस्तमुत्खायान्तर्द्धनं मया ॥ ६९२ ॥ रात्रौ विभातकल्पायां कृते हाहारवेऽमिलत् । लोकः प्राप्तश्च[1] सरलः समेता दण्डपाशिकाः ॥ ६९३ ॥ किमेतदिति तेनाहं पृष्टोऽथोद्घाटिताऽऽपणम् । निधानस्थानगर्तां चादर्शयं विमनायितः ॥ ६९४ ॥ ज्ञातं कथमिदं वत्स ! त्वया चौरविचेष्टितम् ? । इत्युक्तः सरलेनाहमाचख्यौ गद्गदाक्षरम् ॥ ६९५ ॥ तदा तात ! त्वयि गते त्वद्वियोगव्यथाकुलः । अलब्धनिद्रः शय्यायां निशान्तेऽहमचिन्तयम् ॥ ६९६ ॥ तातसंस्पर्शपूतायां नूनं निद्रासुखं मम । सम्पत्स्यतेऽट्टशय्यायामेव तत्तत्र याम्यहम् ॥६९७॥ ध्यात्वेत्यत्रागतेनेदृक् दृष्टैतच्चौरचेष्टितम् । मया हाहारवस्तात ! ततोऽयं विदधेऽधुना ॥ ६९८ ॥ दध्युस्तेऽथ पुरारक्षा अहो ! अस्य कृतघ्नता । अहो ! विश्वासघातित्वमहो ! कूटप्रकल्पना ॥ ६९९ ॥ स्वयं कृतमिदं चौर्यं यदेवं निह्नुतेऽसकौ । तत् सलोप्त्रं ग्रहीष्यामः क्वाप्यमुं वयमादृताः ॥ ७०० ॥ ध्यायन्त इति ते प्रोचुः श्रेष्ठिन् ! मा भूः समाकुलः । अस्माभिर्लब्ध एवास्ते चौरस्त्वद्वस्तुमोषकः ॥ ७०१ ॥ ब्रुवाणैरिति साकूतं तैर्मत्सम्मुखमीक्षिते । ज्ञातोऽहमेतैरिति मे भयं महदजायत ॥ ७०२ ॥ स्वस्वस्थानं गते लोके लङ्घिते तत्र चाहनि । हृत्वा

1 तथा° क० ख० घ० ।

प्रदोषे तद्द्रव्यं पलायिषि जवादहम् ॥ ७०३ ॥ नश्यंश्च जगृहे दण्डपाशिकैर्दत्तहेरिकैः । तुम(तुमु०)लायातलोकाय मद्वृत्तं च न्यवेद्यत ॥ ७०४ ॥ जनेन निन्द्यमानश्च रिपुसूदनभूपतेः । नीतोऽहमन्ते तेनाज्ञापितो वध्यतया ततः ॥ ७०५ ॥ तदा च द्रुतमागत्य सरलः सरलाशयः । कृच्छ्रान्मां मोचयामास पार्थिवादन्तकादिव ॥ ७०६ ॥ मां मुक्त्वाऽस्यार्पयित्वा च तद्द्रव्यं प्राह भूपतिः । श्रेष्ठिन्नयं सुपुत्रस्ते मद्वेश्मन्येव तिष्ठतु ॥ ७०७ ॥ इतः पुण्योदयो मित्रं पुराप्यत्यन्तदुर्बलः । मां विहाय तदाऽनेशद् दृष्ट्वा तद्दुष्टचेष्टितम् ॥७०८॥ तद्राजवचनं श्रेष्ठी प्रतिपद्य ततो निजे । जगाम भवनेऽहं तु तस्थौ नृपतिवेश्मनि ॥७०९ ॥ स्तेयबहुलिके ते च तत्र संवसतो मम । राजदण्डभयादुग्रात् प्रशमं किञ्चिदीयतुः ॥ ७१० ॥ तथापि मे जनः सर्वः सर्वकार्येषु शङ्कते । अन्येनापि कृतं चौर्यं ममोपरि निपात्यते ॥ ७११ ॥ एवं च निन्द्यमानस्य ताड्यमानस्य चान्वहम् । भूयान् कालो व्यतीयाय भद्रे ! तत्र स्थितस्य मे ॥७१२॥ अन्येद्युः श्रीगृहं राज्ञो विद्यासिद्धेन केनचित् । चौरेण मुमुषे सर्वं नाज्ञायि स पुनः क्वचित् ॥ ७१३ ॥ अस्यैव साहसमिदं नान्यस्येति विचिन्तयन् । नृपो मां ग्राहयामास दृष्टदोषं पुराप्यथ ॥७१४॥ सकलेऽपि पुरे तत्र विडम्ब्य बहुधा च माम् । तरावुल्लम्बयामास नरेन्द्रोऽत्यन्तरोषणः ॥ ७१५ ॥ अत्रान्तरे च जीर्णायां प्राच्यां सा भवितव्यता । ममान्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ ७१६ ॥ तस्याः प्रभावतो भद्रे ! त्वरितं प्रययावहम् । तस्यां पापिष्ठवासायां नगर्यामन्त्यपाटके ॥ ७१७ ॥ असंख्येष्वनुभूतेषु तत्र दुःखेषु

१ दाण्ड° ता० ।

मां ततः । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने सा निन्ये भवितव्यता ॥ ७१८ ॥ यद्वा नास्त्येव तत्स्थानं मुक्त्वाऽसंव्यवहारकम् । तया न भ्रमितो यत्र प्रायः स्त्रीरूपभागहम् ॥ ७१९ ॥ एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । इदं विचिन्तितं गाढसंवेगापन्नचित्तया ॥ ७२० ॥ अहो ! दुरन्तः स्तेयोऽसौ माया चात्यन्तदारुणा । ययोरासक्तचित्तोऽयं वराको भूरि नाटितः ॥ ७२१ ॥ संसारिजीवः प्रोवाच भवितव्यतयान्यदा । कृतोऽहं मानुषः क्वापि सुकृतं किमपि व्यधाम् ॥ ७२२ ॥ ततः सन्तुष्टया पत्न्या प्रकाशयोभौ[1] नरावहम् । प्रोक्तस्त्वयाधुना गम्यमानन्दनगरे प्रिय ! ॥ ७२३ ॥ मूढताकुक्षिसम्भूतो रागकेशरिणः सुतः । सागरोऽयं सहायस्ते भावी पुण्योदयस्तथा ॥ ७२४ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ तद्वचस्तत्पुरं प्रति । ताभ्यां गन्तुं प्रवृत्तोऽहं प्रयुक्तगुटिकस्तया ॥ ७२५ ॥ इत्यवेत्य परिणामदारुणां सामदेवसुतमन्दयोः[2] कथाम् । हे ! जनास्त्यजत शाठ्यचौरिकागन्धगृद्धिमपवर्गवाञ्छया ॥ ७२६ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे मायास्तेयघ्राणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम पञ्चमः प्रस्तावः समाप्तः ।

---

१ °श्य द्वौ न° ख० °श्यौ तौ न° क० घ० । २ सोम° ग० ।

षष्ठः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतावमन्दानन्दमन्दिरम् । तदानन्दपुरं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ॥ १ ॥ स्फुरत्सु परितो यत्र मणिमन्दिररश्मिषु । ज्यौत्स्नीष्विव तमिस्रं न तमिस्रास्वपि जृम्भते ॥ २ ॥ दुर्दान्तरिपुमातङ्गनिर्भेदनवकेशरी । केशरी नाम तत्राभूद्भूपतिः प्रौढविक्रमः ॥ ३ ॥ यो मन्दर इवानेककटकः प्रकटोदयः । लक्ष्मीं चकर्ष निर्मथ्य परसैन्यपयोनिधिम् ॥ ४ ॥ स्वरूपाद्भुतसौन्दर्यनिर्जितामरसुन्दरी । तस्याग्रमहिषी जज्ञे नामतो जयसुन्दरी ॥ ५ ॥ अशेषार्त्तजनाश्वन्यसमाश्वासनपादपः । राजमान्योऽभवत्तत्र वाणिजो हरिशेखरः ॥ ६ ॥ शीलादिगुणरत्नौघभास्वद्भूषणभूषिता । तस्य बन्धुमती नाम दयिता समजायत ॥ ७ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया । तदाहं गुटिकादानात् तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥८॥ पूर्णे च समये ताभ्यां वयस्याभ्यां समन्वितम् । साथ मां सुषुवे सूनुमङ्कुरमिव मेदिनी ॥ ९ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्येषु कृतेष्वथ सविस्तरम् । धनशेखर इत्याख्यां चक्रतुः पितरौ मम ॥१०॥ पितृभ्यां पाल्यमानश्च मित्रद्वययुतः क्रमात् । जगृहेऽहं कलाचार्याद् विना धर्म्मकलां कलाः ॥ ११ ॥ संप्राप्तयौवनस्याथ सागरेण क्षणे क्षणे । जन्यन्ते चित्तकल्लोलाः स्वसामर्थ्यान्ममेदृशाः ॥ १२ ॥ धनमत्र जगच्छ्रेष्ठं धनं नरसुरेप्सितं । धनं प्रत्यूहसंहारि धनं सर्वसुखाकरः ॥ १३ ॥ यद्वा नास्त्येव तल्लोके धनाद्यन्न भवेन्नृणाम् ।

धनमेव परिग्राह्यं तस्मात्सर्वप्रयत्नतः ॥ १४ ॥ ततः क्रमागतं भूरि यद्यप्यस्ति धनं मम । तथाप्यन्यदतिप्राज्यं युज्यते मे तदर्जितुम् ॥ १५ ॥ जननीस्तन्यवद्भोक्तुं बालानामेव युज्यते । पूर्वजोपार्जितं द्रव्यं न तु यूनां महौजसाम् ॥ १६ ॥ भुज्यमानं च तद्द्रव्यं कियत्कालं भविष्यति । शुष्यत्युदच्यमानो हि समुद्रोऽप्यनुपार्जनः ॥ १७ ॥ द्रव्यार्जनं च न प्रायः स्थानस्थैः कर्तुमीश्यते । तदर्जनेच्छुना तस्माद् गम्यं देशान्तरे मया ॥ १८ ॥ किञ्च भाण्डसहायादिसामग्रीमबलोऽपि हि । संप्राप्यार्जयति द्रव्यं युवनृणां तु का कथा ? ॥ १९ ॥ तदेष मे विशेषः स्यात् सामग्रीरहितोऽपि यत् । गत्वा देशान्तरे द्रव्यमर्जयाम्यतिपुष्कलम् ॥ २० ॥ यद्वा किं चिन्तया बह्वया ? न रत्नैः परितो मया । स्वगृहं पूरितं यावत् तावन्मे क्व सुखासिका ? ॥ २१ ॥ ध्यात्वेति पितरौ स्निग्धौ रुदन्तौ कथमप्यथ । अनुज्ञाप्यातिनिर्बन्धात् प्रस्तुतार्थाय निर्ययौ ॥ २२ ॥ दक्षिणां च व्रजन्नाशामन्तरङ्गवयस्ययुक् । पुरे जयपुरेऽगच्छं समुद्रतटवर्त्तिनि ॥ २३ ॥ वने तद्बहिरेकत्र निविश्याथ तरोस्तले । द्रविणोपार्जनोपायान् दध्यौ सागरमोहितः ॥२४॥ युग्मम् ॥ वाणिज्यं किमहं चित्रं ? किं वा नृपतिसेवनम् ? । किं वा रत्नाकरोपास्तिमुत रोहणदारणम् ? ॥ २५ ॥ देवताराधनं यद्वा धातुवादमथापि वा । करोमि स्वादुपायेन केन मे हन्त ! चिन्तितम् ॥२६॥ युग्मम् ॥ एवं संचिन्तयंश्चाहं प्ररोहं दृष्टवान्पुरः । पलाशशाखिशाखायाः संप्रविष्टमधःक्षितौ ॥ २७ ॥ खन्यवादं ततो भद्रे ! स्मृत्वाभिनवशिक्षितम् । अचिन्तयमहं चित्ते प्रमोदप्रोच्छ्लसद्वपुः ॥ २८ ॥ नूनं निधानमस्तीह किंशुकस्येयमन्यथा ।

१ °दिच्य° क० ख० ग० घ० । २ °लोऽपि ग० । ३ न सु° ख० । ४ भूपति° ख० ।

कुतः प्रारोहसंभूतिर्गृह्णाम्यहमदस्ततः ॥ २९ ॥ ध्यात्वेति सागरादेशात् खाते तत्र मया ततः । दीनारसहस्रभृतं ताम्रपात्रं प्रकट्यभूत् ॥३०॥ पुण्योदयवशात्प्राप्तं निभृतं परिगृह्य तत् । अत्यन्तमुदितस्तूर्णमन्तर्जयपुरं ययौ ॥३१॥ चतुष्पथे च मां श्रेष्ठी विलोक्य बकुलाभिधः । संभाष्य स्वगृहं निन्ये मत्पुण्योदयनोदितः ॥ ३२ ॥ तद्गेहिन्याथ भोगिन्या कारितस्नानभोजनः । तेनाहं श्रेष्ठिना पृष्टो नामान्वयपुरादिकम् ॥ ३३ ॥ यथास्थिते समाख्याते मया तत्राथ मूलतः । योग्यो वरोऽयं मत्पुत्र्या इति श्रेष्ठी स पिप्रिये ॥ ३४ ॥ कन्दर्पप्रेयसीरूपगर्वसर्वस्वतस्कराम् । कमलिन्यभिधां पुत्रीं सोऽथ मां पर्यणाययत् ॥ ३५ ॥ जगाद चैष मां वत्स ! स्वमन्दिरमदोऽपि ते । ततोऽत्र तिष्ठ निश्चिन्तः स्वच्छन्दं वत्सया सह ॥ ३६ ॥ मयोचे तात ! नो यावदर्जिता रत्नराशयः । तावत्सर्वामहं मन्ये भोगलीलां विडम्बनाम् ॥ ३७ ॥ ततस्तात ! न दातव्यो ममादेशोऽयमीदृशः । प्रस्थापय सुसार्थेन रत्नद्वीपं व्रजाम्यहम् ॥३८॥ स पुनः प्राह यद्येवं ततो वत्सानया कृतम् । विपत्तिविपुलागारसागरोत्तरणेच्छया ॥३९॥ मदीयनीवीमादाय कुर्वन्नैव धनार्जनम् । अथाहमवदं तात ! निर्बन्धस्तव यद्यसौ ॥ ४० ॥ ततः पृथग्गृहे स्थित्वा पणेऽहं पृथगापणे । भाण्डमूल्यं ममास्त्येव न गृह्णाम्येव तावकम् ॥ ४१ ॥ श्रेष्ठिनानुमतेनाथ पृथग्भूय मृगेक्षणे ! । वाणिज्यानि मया कर्तुमारभ्यन्त सहस्रशः ॥४२॥ ततस्तैस्तत्र दीनारसहस्रे द्विगुणे क्रमात् । संपादिते ममाकाङ्क्षा सहस्रदशकेऽभवत् ॥ ४३ ॥ क्रमात् तत्रापि संजाते लक्षाकाङ्क्षा ममाजनि । तस्यामपि च पूर्णायां जज्ञे कोटिस्पृहा मम ॥४४॥ तां च मीलितुकामेन मया सागरशासनात् । धान्यतैलाऽऽज्यकर्पासतिलपञ्चादिसंग्रहः ॥४५॥ धातकीगुलिका-

लोक्षारमकेशादिविक्रयः। भूपतो विषयाऽऽदानं वनाङ्गारकृषिक्रियाः ॥४६॥ शकटोक्षलुलायोष्ट्रखरनावादिवाहनम्। दास्यादिपोषणं चापि मानोन्मानविपर्ययः ॥ ४७ ॥ अलीकभाषणं मुग्धविश्रब्धजनवञ्चनम्। किमन्यदपि सावद्यं कर्म्म नैव व्यधीयत ? ॥४८॥ कलापकम् ॥ न पापशङ्का न क्लेशभीरुता न सुखस्पृहा। न संतोषश्च संजज्ञे तदा मे तच्च कुर्वतः ॥ ४९ ॥ यदि वा किं बहूक्तेन ? न तृडार्त्तोऽप्यपां तदा। क्षुधाक्षामोऽपि नाभुक्षि निशास्वपि न चास्वपम् ॥ ५० ॥ ततश्च तैर्महापापैर्मया कालेन भूयसा। पुण्योदयस्य माहात्म्यात् सा कोटिः सुभ्रु ! पूरिता ॥ ५१ ॥ विहिते सागरेणाथ बहुकोट्यर्जनोद्यमे। रत्नद्वीपं प्रयातुं मे जज्ञे हृदि मतिर्दृढा ॥ ५२ ॥ स्वाभिप्राये मयाख्याते श्रेष्ठी मां बकुलोऽन्वशात्। गमनागमनं वत्स ! तत्र न क्वापि युज्यते ॥ ५३ ॥ जायते विभवावाप्तिर्देहिनो हि यथा यथा। तथा तथा विवर्द्धन्तेतरामस्य मनोरथाः ॥ ५४ ॥ तृप्येदपि जलैरब्धिरेधोभिर्वा हुताशनः। नत्वेष प्रसरल्लोभो जन्तुर्वित्तैर्घनैरपि ॥ ५५ ॥ ततो विधाय संतोषमिदमेवार्जितं धनम्। अत्रैव तिष्ठ भुञ्जानो यथेच्छं वत्स ! सुस्थितः ॥ ५६ ॥ मयाऽथ जगदे तात ! न वक्तव्यमिदं वचः। निरारम्भस्य पुंसः स्यात् कुतः श्रीसंगमो ननु ? ॥ ५७ ॥ कथञ्चित्संगतापि श्रीरसौ साहसवर्जितम्। पुरुषं संत्यजत्येव पण्यनारीव निर्द्धनम् ॥ ५८ ॥ किञ्च स्तोकामपि प्राप्य लक्ष्मीं तुष्यति यः पुमान्। न तुच्छप्रकृतेस्तस्य वर्द्धतेऽसौ महाशया ॥ ५९ ॥ कार्यस्तस्मान्न संतोषो विदुषा धनसंग्रहे। अतस्तातोऽनुजानातु रत्नद्वीपे व्रजाम्यहम् ॥ ६० ॥ श्रेष्ठ्यूचे सदने रत्नद्वीपे वा देहिनो

१ °क्षाररस° ग०। २ °पतौ वि° ग०। ३ विधीयते क०।

ध्रुवम् । पूर्वोपार्जितमेव स्यात् सोद्यमस्येतरस्य वा ॥ ६१ ॥ तथापि यदि निर्बन्धस्तवायमतुलस्ततः । अनुज्ञातो मया वत्स ! गम्यतां यत्र रोचते ॥ ६२ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा सार्द्धं सांयात्रिकैः परैः । पोतभाण्डादिसामग्री व्यधीयत मया ततः ॥ ६३ ॥ मुहूर्त्तेऽथ शुभे प्राप्ते कृतनिःशेषमङ्गलः । पोतमारोहमापृच्छ्य स्वजनीं स्वजनानपि ॥ ६४ ॥ आरोहन्त्यपरेऽपि स्म यानपात्रं निजं निजम् । सांयात्रिकाः कृताशेषवार्द्धियात्रोचितक्रियाः ॥६५॥ पूरयित्वा सितपटान्समुत्क्षिप्य च नङ्गरान् । अरित्रैश्चालयामासुर्यानपात्राणि नाविकाः ॥ ६६ ॥ पोतास्तेऽथ समुल्लङ्घ्य संसारमिव सागरम् । रत्नद्वीपं क्रमादापुर्लोकाग्रमिव योगिनः ॥ ६७ ॥ अन्ये सांयात्रिकास्तत्र भाण्डानां क्रयविक्रयम् । कृत्वा प्रतिनिवर्त्त्य स्वं वेलाकूलमुपाययुः ॥ ६८ ॥ अहं तु सागरेणोक्तो गम्यते किं विमुच्य तत् । लभ्यन्ते यत्र रत्नानि द्वीपे निम्बच्छदैरपि ॥ ६९ ॥ ततस्तत्राऽऽपणं कृत्वा स्थिते मय्यन्यदाययौ । वृद्धैका स्त्री तया चोक्तं श्रूयतां वत्स ! मद्वचः ॥ ७० ॥ समस्त्यानन्दनगरे केशरी नाम भूपतिः । जयसुन्दरीकलसुन्दर्यौ तस्य प्रिये उभे ॥ ७१ ॥ स च हन्ति सदा राज्यसुखलुब्धो महीपतिः । जातान् जातान्निजसुतानहो ! मोहमहो महत् ॥ ७२ ॥ जातगर्भा ततोऽन्येद्युरपत्यस्नेहतो निशि । गृहीत्वा मां सहचरीं साऽनशत् कलसुन्दरी ॥ ७३ ॥ व्रजन्त्याश्च निशाशेषे तस्याः कान्तारवर्त्मनि । विष्वगाविरभूदङ्गे दुःसहा सहसा व्यथा ॥ ७४ ॥ साथ मामब्रवीद्गन्तुं न क्षमा वसुमत्यहम् । ममाङ्गे वर्त्तते बाधा कापि प्राणान्तकारिणी ॥ ७५ ॥ मयाथ चिन्तितं हन्त ! किमिदं ? बुबुधेऽथवा । नूनं प्रसवकालोऽस्याः प्रत्यासीदति संप्रति ॥७६॥ विमृश्येति ततो यावदेवि ! धीरा भवे-

त्यहम् । वदामि कर्म्म तत्कालोचितं कुर्वे च संभ्रमात् ॥ ७७ ॥ द्राक्कृत्य भूतले तावद्वेदनाभरविह्वला । पपात स्वामिनी सा मे छिन्ननालेव पद्मिनी ॥ ७८ ॥ इतश्चेतश्च वेल्लन्ती कूजन्ती च मुहुर्मुहुः । सुषुवे दारकं साथ प्राणैश्च द्रागमुच्यत ॥७९॥ ततो वज्राहतेवोच्चैः प्राप्य मूर्च्छामहं क्षणम् । कृच्छ्रादवाप्तचैतन्या व्यलपं करुणस्वरम् ॥८०॥ विलम्पन्त्याश्च मे तत्राभ्युद्गते गगनाध्वगे । ससार्थो धरणः सार्थवाहस्तेनाध्वनाऽऽययौ ॥ ८१ ॥ दृष्ट्वा संस्थाप्य तेनाहं पृष्टाख्यं वृत्तमात्मनः । अपृच्छं च क्व सार्थेश ! गन्तव्यं भवतेति तम् ॥ ८२ ॥ वेलाकूलमितो गत्वा रत्नद्वीपे मया क्रमात् । यातव्यमिति तेनोक्ते व्यचिन्तयमहं हृदि ॥८३॥ श्रुतो मयाऽस्ति तत्रास्या रत्नद्वीपे महीपतिः । सोदर्यः कलसुन्दर्या नीलकण्ठोऽभिधानतः ॥८४॥ तदनेनैव सार्थेन व्रजित्वा तत्र दारकम् । भागिनेयमिमं तस्मै मातुलायार्पयाम्यहम् ॥८५॥ ध्यात्वेति सार्थवाहेन तेन सार्द्धमिहागमम् । स्तन्येन पालयन्त्यर्भं तं स्नेहप्रस्नुतस्तनी ॥८६॥ मयार्पितेऽथ जामेये जाम्युदन्ते च शंसिते । भूपतिर्नीलकण्ठोऽयं मुमुदे विषसाद च ॥८७॥ तेनाथ पाल्यमानोऽत्र हरिरित्याहिताभिधः । कलास्वधीती तारुण्यं प्राप केशरिराजभूः ॥ ८८ ॥ पूर्वः सर्वोऽपि वृत्तान्तो मया चास्मै न्यवेद्यत । त्वामानन्दपुरायातं स शुश्राव च सुन्दर ! ॥ ८९ ॥ ततो हरिकुमारोऽयं वीक्षितुं त्वां सदेशजम् । समीहते ततो वत्सस्तदन्ते गन्तुमर्हति ॥ ९० ॥ ओमिति प्रतिपद्याहं तद्वचोऽथ तया सह । ययौ हरिकुमारस्य तस्याभ्यर्णे तदैव हि ॥ ९१ ॥ वयस्यवृन्दमध्यस्थो निध्यातः स मया ततः । कृतानतिरहं तस्मै

१ च जा° ता० । २ °याप्यस्मै ग० । ३ सह तेन ततो ता० ।

वसुमत्या निवेदितः ॥ ९२ ॥ सोऽथ मां गाढमाश्लिष्य निवेश्यार्द्धासने निजे। संभ्रमादब्रवीदेवं प्रीतिविस्फारितेक्षणः ॥ ९३ ॥ अम्बया कथितस्तातवयस्यो हरिशेखरः। मया तस्य च सूनुस्त्वं विज्ञातो जनवार्त्तया ॥ ९४ ॥ ततो भ्राताऽसि मे मित्रं शरीरं जीवितं तथा। तवात्रागमनं दिष्ट्या संजज्ञे साधु साध्वदः ॥ ९५ ॥ मयाप्यूचे श्रुतः सर्वो वृत्तान्तोऽम्बामुखान्मया। अत्यादरं भृत्यजने न देवः कर्तुमर्हति ॥ ९६ ॥ यथानुजीवी तातो मे तत्र केशरिभूपतेः। तथाहमत्र देवस्य किङ्करः परिभाव्यताम् ॥ ९७ ॥ मद्वचस्तन्निशम्याथ विशेषाज्जातसंमदः। स हरिः कारयामास मित्रागममहोत्सवम् ॥ ९८ ॥ ततो मे हरिणा तेन सदा संगतशालिनः। यथेष्टं चेष्टमानस्य कालस्तत्रात्यगात् कियान् ॥ ९९ ॥ अन्यदा च वसन्तर्त्तौ वयस्यैः परिवारितः। हरिर्मया समं क्रीडोद्याने क्रीडाकृतेऽगमत् ॥ १०० ॥ तत्र मित्रयुतस्यास्य स्थितस्याम्रतरोस्तले। परिव्राजिकया चित्रपट्टिकैत्य समर्पिता ॥ १०१ ॥ पश्यतस्तत्र कन्यायाा रूपमाविरभूद् भृशम्। कामावस्था कुमारस्य ततः प्रव्राजिका ययौ ॥ १०२ ॥ तथावस्थं च तं वीक्ष्य प्रैपेऽहं तां गवेषितुम्। पद्मकेशरादिमित्रैस्तद्वृत्तान्तबुभुत्सया ॥ १०३ ॥ पुराद्वनं मया यान्ती सा परिव्राजिकैक्ष्यत। नत्वा पृष्टाऽवदच्चैवं वृत्तान्तं चैत्रपट्टिकम् ॥ १०४ ॥ यदद्य कणभिक्षाया हेतवेऽहमयासिषम्। नीलकण्ठमहादेव्याः शिखरिण्या निकेतने ॥ १०५ ॥ दृष्टा मया सचिन्ता सा पृष्टा च किमसीदृशी ?। तयोदितं भगवति ! बन्धुलेऽसौ सुता मम ॥ १०६ ॥ मयूरमञ्जरी जीवितव्यादप्यतिवल्लभा।

---

१ 'स्याऽथ परिव्राजि' क० ख० ग० घ०।

केनापि हेतुना शून्येवोन्मत्तेवाद्य दृश्यते ॥ १०७ ॥ युग्मम् ॥ तन्निमित्तं ममाऽऽख्याहि तन्निमित्तोपयोगतः । मयाप्यथ ध्वजाद्याऽऽयाष्टक-न्यासादितीरितम् ॥ १०८ ॥ यन्महादेव्यसौ जीवं पुरुषं राजनन्दनम् । नाम्ना हरिकुमारं च ध्यायत्येकाग्रमानसा ॥१०९॥ देव्या प्रोक्तं मिलत्येतद् यतो दृष्टोऽनया व्रजन् । कुमारो हरिरुद्याने लीलासुन्दरनामनि ॥ ११० ॥ ततोऽत्र भगवत्येव सुप्रगल्भा ततो मया । मयूरमञ्जरीरूपं पट्टिकायामलिख्यत ॥ १११ ॥ दर्शयित्वा हरेस्तच्च ज्ञात्वा चास्यानुरक्तताम् । समेत्याहं महादेव्यै निवेदितवती मुदा ॥ ११२ ॥ तयापि नीलकण्ठेन सहैवं निश्चितं हृदि । योग्यो मयूरमञ्जर्या वरो हरिरयं ध्रुवम् ॥ ११३ ॥ ततोऽहमेव प्रहिताऽऽह्वातुमेतमितीरितः । वृत्तान्तोऽयं मया चैव पट्टिकः पुरतस्तव ॥ ११४ ॥ ततो गत्वा मया सार्कं तया तत्र निवेदितम् । तन्नीलकण्ठभूपालशासनं क्लेशनाशनम् ॥ ११५ ॥ कुमारस्तत्प्रपद्याथ समित्रोऽगान्नृपौकसि । महर्द्ध्या नीलकण्ठेन सुतां च परिणायितः ॥ ११६ ॥ तयाथ प्रियया सार्द्धं भजन्वैषयिकं सुखम् । रत्नद्वीपे परां ख्यातिं हरिर्निजगुणैर्गतः ॥११७॥ प्रभुत्वं लोकमान्यत्वं कीर्त्तिः श्रीश्च ममाप्यभूत् । हरिसङ्गात् तदा तत्र सन्मित्रात् किं भवेन्न वा ॥ ११८ ॥ तथापि प्रेर्यमाणस्य सागरेण क्षणे क्षणे । मम जातास्तदा भद्रे ! विकल्पा मनसीदृशाः ॥ ११९ ॥ अहो ! प्रमादो मे नित्यं हरिसङ्गजुषा मया । यत्ते नार्ज्यन्त रत्नौघा यन्निमित्तमिहागमम् ॥ १२० ॥ कृतोऽहं हरिणा स्वस्य निर्मूल्यः कर्मकृद् ध्रुवम् । रत्नोपार्जनविघ्नोऽयं तत् त्यक्तुं युज्यते मम ॥१२१॥ न चैष शक्यते हन्त !

१ ऽऽनेतुमे० ख० । २ ०ष्वभूत् ता० ।

नितान्तस्नेहनिर्भरः । निग्रहानुग्रहेशश्च मया त्यक्तुं यथा तथा ॥१२२॥ स्थिते चैवं मया तावत्कार्यमेव धनार्जनम् । गत्वान्तरान्तरास्यापि करिष्ये चित्तरञ्जनम् ॥ १२३ ॥ ध्यात्वेति विविधोपायैस्तत्र रत्नोत्कराः क्रमात् । तदेकतानचित्तेन मयोपार्ज्यन्त भूरिशः ॥१२४॥ तानहं सागरालीढो हस्यमानो जनैरपि । मुहुरद्राक्षमस्प्राक्षं निचखानोच्चखान च ॥ १२५ ॥ अचिन्तयं च रत्नानि द्वीपे यान्यत्र कानिचित् । यद्यहं तानि सर्वाणि गृहीत्वा यामि पत्तनम् ॥ १२६ ॥ क्षणं गोष्ठीविधानेन हरेरप्यन्तरान्तरा । व्रजित्वा बाह्यभावेन विदधे चित्तरञ्जनम् ॥ १२७ ॥ एवं च तिष्ठतस्तत्र रत्नद्वीपे तदा मम । भद्रे ! योऽन्योऽपि संपन्नो वृत्तान्तः स निशम्यताम् ॥ १२८ ॥ मूलभूपप्रिया कालपरिणत्यभिधोदिता । या पुरानुचरौ संस्तस्तस्या यौवनमैथुनौ ॥ १२९ ॥ यौवनो मैथुनं प्रोचे धनशेखररूपभाक् । मित्र ! संसारिजीवोऽसौ वशे मे वर्ततेऽधुना ॥ १३० ॥ अतस्तवापि प्रस्तावोऽधुना गन्तुं तदन्तिके । मैथुनोऽपि प्रपेदेऽथ तद्वचो मुदिताशयः ॥ १३१ ॥ ततो द्वावपि तौ तन्वि ! मत्समीपमुपेयतुः । नाटयन्निबिडं प्रेम मामुवाच च यौवनः ॥ १३२ ॥ अयं मे मैथुनो नाम वयस्योऽत्यन्तवत्सलः । अतो मामिव सर्वत्र पश्येमं धनशेखर ! ॥ १३३ ॥ अथाहमपि दुर्बुद्धिः सुहृदं प्रतिपद्य तम् । स्वान्ताख्यखान्तरावासे निदधे मैथुनं मुदा ॥ १३४ ॥ गात्रसंज्ञे मदावासे स तस्थौ यौवनः पुनः । तन्वानः स्मितसौन्दर्यविलासप्रभृतीन् गुणान् ॥ १३५ ॥ मैथुनस्याथ माहात्म्याज्ञातोऽहं योषितां शतैः । संभुक्तैरप्यतृप्तात्मा दावानल इवेन्धनैः ॥१३६॥ इतश्च गणिकासङ्ग

१ ॰न्तरं च तस्यापि ग॰ ।

कुर्वाणं मैथुनेच्छया । निवारयति मामेष सागरो धनलम्पटः ॥ १३७ ॥ दध्ये मयाथ मित्रस्य कस्य कार्यं वचो मया । इष्टं गाणिक्यमेकस्य माणिक्यान्यपरस्य यत् ॥ १३८ ॥ विना नैव च माणिक्यैर्गाणिक्यं प्राप्यते क्वचित् । ततो व्याघ्रतटीन्यायात् सङ्कटे पतितोऽस्मि हा ! ॥ १३९ ॥ उपायो यदि वाऽस्त्येष द्वयोरप्यनुवर्त्तने । विनैव मूल्यं वशगा याः स्त्रियस्ता भजाम्यहम् ॥ १४० ॥ विमृश्येति प्रवृत्तोऽहं पापस्ताः सेवितुं स्त्रियः । याः काश्चिद्विधवामुग्धाभिक्षुक्यः प्रोषितप्रियाः ॥१४१॥ अथवा किं बहूक्तेन ? तत्यजे नान्त्यजापि सा । मया कामयते रागाद् द्रव्यदानं विनापि या ॥१४२॥ ततश्च मां तथा बन्धताडनाद्यैर्व्यडम्बयन् । योषित्संबन्धिपुरुषा धूलितुल्यो यथाऽभवम् ॥ १४३ ॥ केवलं हरिदाक्षिण्यात् पुण्योदयवशाच्च तैः । नाहं व्यापादितो नापि प्रचण्डैरपि दण्डितः ॥ १४४ ॥ एवं च सागरस्येव मैथुनस्यापि दोषतः । किं किं दुःखं मया तत्र न प्राप्यत ? तदाऽनघे ! ॥ १४५ ॥ इतः कोशेन सैन्येन हरिर्वृद्धिमुपाययौ । जनानुरागप्रभवाः श्रियः ख्यातमिदं यतः ॥१४६॥ जनरागं हरौ वीक्ष्य तं तादृक्षमथाक्षयम् । क्षितीशश्चिन्तयामास नीलकण्ठः स[3] दुर्मनाः ॥१४७॥ अये ! तावदिदं राज्यं नगरं च ममाखिलम् । अनुरक्तं हरावस्मिन् जज्ञे भाग्यनिकेतने ॥१४८॥ तदेषो मां समुत्पाट्य वृद्धं सुतविवर्जितम् । सहायकोशालम्भूष्णुर्बलाद्राज्यं ग्रहीष्यति ॥१४९॥ तस्मान्नोपेक्षणीयोऽयं किन्तु हन्तव्य एव हि । अर्द्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥१५०॥ विचिन्त्येति समाहूय सचिवाय सुबुद्धये । स्वाभिप्रायं तमा-

१ इतश्च ता० घ० । २ °दपवादव° ग० । ३ सुदुर्मना: ग० ।

चख्यौ विजने स जनेश्वरः ॥१५१॥ अन्तरत्यन्तदूनोऽपि सचिवोऽथ तया गिरा। प्रत्यभाषत भूपालं तच्चित्तमनुवर्त्तयन् ॥१५२॥ यत्तवाभिमतं देव ! तदवश्यं विधीयताम्। अयुक्ते हि प्रवर्त्तन्ते मतयो न महात्मनाम् ॥१५३॥ ततः स नीलकण्ठेन विसृष्टो निजमन्दिरे। समेत्य चिन्तयामास सचिवः शुचिमानसः ॥ १५४ ॥ धिग् धिग् भोगसुखाकाङ्क्षां धिगज्ञानविजृम्भितम्। धिगहो ! राज्यलाम्पट्यं कुविकल्पशतालयम् ॥ १५५ ॥ यदेष पूर्वं देवस्य जीवितादपि वल्लभः। जामाता भागिनेयश्च हरिरासीन्निजैर्गुणैः ॥ १५६ ॥ अधुना वर्त्तते द्वेष्यः स एवोच्चैर्विपक्षवत्। तदत्र मोहराजाज्ञां विमुच्यान्यन्न कारणम् ॥ १५७ ॥ कथं हि स विनीतात्मा निर्लोभः पापभीरुकः। हरिः स्वप्नेऽपि देवस्य विरुद्धं चिन्तयेदिदम् ॥ १५८ ॥ रक्षणीयस्ततोऽवश्यं कुमारः सर्वथाप्यसौ। सुदुर्लभं जगत्यत्र नररत्नं हि तादृशम् ॥ १५९ ॥ विमृश्येति रहस्यूचे हरिमाप्तमुखेन सः। विरुद्धः सर्वथाप्येष नीलकण्ठः कुमार ! ते ॥ १६० ॥ ततो मदुपरोधेन त्यज देशमिमं जवात्। देशान्तरेऽपि महतां सहचर्यो ननु श्रियः ॥ १६१ ॥ ततश्च तां समाकर्ण्य सुबुद्ध्यभ्यर्थनां हरिः। समुद्रलङ्घने चित्तमभीतोऽपि चकार सः ॥ १६२ ॥ वृत्तान्तमखिलं तं च कथयित्वा रहस्यसौ। कुमारो मामुवाचैवं गाढविश्वस्तमानसः ॥ १६३ ॥ ततोऽधुना मया गम्यमतिक्रम्य महोदधिम्। न च मे त्वां विना तुष्टिः प्रतिष्ठस्व सहैव तत् ॥ १६४ ॥ तद्रत्नोपार्जने विघ्नभूतमप्युदितं हरेः। किञ्चिद्दाक्षिण्यमालम्ब्य मयाऽपि प्रत्यपद्यत ॥ १६५ ॥ कुमारः प्राह यद्येवं ततः किञ्चि-

निरूपय । वोहित्थं येन कोशस्थो रत्नौघः सह नीयते ॥१६६॥ तद्वचः प्रतिपद्याथ पोतयुग्मं निरूप्य च । भृतमेकं निजै रत्नैस्तद्रत्नैस्त्वपरं मया ॥ १६७ ॥ सार्द्धं मयूरमञ्जर्या वसुमत्या च राजभूः । निजपोतमथाऽऽरोहद्गते द्वीपान्तरं रवौ ॥ १६८ ॥ अहं तु निजबोहित्थं समारोहन् बलादपि । संस्थापितो निजे पोते हरिणा प्रीतिशालिना ॥ १६९ ॥ चटन्त्यां वार्द्धिवेलायामुदये रजनीपतेः । नाविका यानपात्रे च पूरयामासुराशु ते ॥ १७० ॥ अन्येद्युर्बहुतीतेऽध्वावहं चेतस्यचिन्तयम् । पापात्मना सागरेण मैथुनेन च नोदितः ॥ १७१ ॥ यथाहो ! विविधै रत्नैः पूरितं स्फुरदंशुभिः । यानपात्रं हरेरेतन्मया कस्य विमुच्यते ? ॥ १७२ ॥ रूपलावण्यपुण्याङ्गी साक्षादिव सुराङ्गना । मयूरमञ्जरी चैषा कथं नैवोपभुज्यते ? ॥ १७३ ॥ हरौ जीवति नाऽऽदातुं शक्यं च द्वयमप्यदः । ततो व्यापादयाम्येनमभीष्टार्थस्य सिद्धये ॥ १७४ ॥ पर्यालोच्येति पापेन मया निशि पयोनिधौ । हरिः शरीरचिन्तार्थमासीनः प्रेर्य पातितः ॥ १७५ ॥ द्राट्कारादुत्थिता लोकाः किं किं किमितिवादिनः । मयूरमञ्जरी त्रस्ता जातोऽहं शून्यमानसः ॥ १७६ ॥ स तु पुण्योदयो मित्रं पापपङ्कमलीमसम् । तत्याज मां तदा भद्रे ! चण्डालमिव दूरतः ॥ १७७ ॥ अत्रान्तरे प्रादुरासीत् समुद्राधिपतिः सुरः । भीषणं रूपमाधाय कृतान्त इव नूतनः ॥ १७८ ॥ स च तं स्थापयामास यानपात्रे हरिं रयात् । समाकृष्य पयोराशेस्तद्गुणावर्जितो हृदि ॥ १७९ ॥ धृत्वा मां तु शिरःकेशैर्व्योम्नि नीत्वा च रोषणः । स मामूचे प्रतिध्वानैर्ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ॥ १८० ॥ रे ! रे ! विमुक्तमर्याद !

१—४ वोचित्थं ता० क० घ०, वोधित्थं ग० । २ गन्तुं द्वी° ता० । ३ तदा ता० ।

महापाप ! नराधम ! । विधायापीदृशं कर्म्म जीवस्यद्यापि निस्त्रपः(°प !) ॥ १८१ ॥ इत्युक्त्वाऽऽस्फोट्य मां सोऽथ चिक्षेपागाधवारिधौ । हरौ प्रेमार्द्रहृदये बहुधाऽनुनयत्यपि ॥ १८२ ॥ ईदृशस्यैव योग्योऽयं किमनेन तवाऽनघ ! । गच्छ स्वस्थानमित्युक्त्वा हरिं सोऽथ तिरोदधे ॥ १८३ ॥ वेलाकूले क्रमाच्चाऽऽगात् पोतद्वययुतो हरिः । शुश्राव च जनश्रुत्या स्वपितुस्तत्र पञ्चताम् ॥१८४॥ ततो हरिकुमारेण गत्वाऽऽनन्दपुरे द्रुतम् । भद्रे ! तत् पैतृकं राज्यमक्लेशेन समाददे ॥ १८५ ॥ मूलतस्तस्य वृत्तान्ते वसुमत्या निवेदिते । सर्वोऽपि च जनो जज्ञेऽनुरक्तो नितरां हरौ ॥ १८६ ॥ मदीयं रत्नबोहित्थ[1]मर्पयित्वाऽथ मत्पितुः । बुभुजे तन्निजं राज्यं हरिराजो महाभुजः ॥ १८७ ॥ इतश्च तेन देवेन क्षिप्तोऽहं जलधौ तदा । निमज्य क्षणमुन्मग्नो वेद्यं बह्वस्ति यन्मया ॥ १८८ ॥ ततश्चाहं पुरा भग्नबोहित्थ[2]फलकाश्रितः । यादोभिरभितः क्रूरैस्ताड्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ १८९ ॥ महोर्मिभिः प्रेर्यमाणः सप्तरात्रेण सुन्दरि ! । कृच्छ्रात्कण्ठगतप्राणः प्राप पारं पयोनिधेः ॥ १९० ॥ युग्मम् ॥ मरुता चेतनां प्राप्य मुक्त्वा च फलकं ततः । क्षुत्तृषार्त्तोऽभ्रमं तीरवने फलजलाशया ॥ १९१ ॥ कृच्छ्रादाप्तैः फलजलैः प्राणवृत्तिं विधाय च । भ्राम्यन् क्रमादहं सुभ्रु ! वसन्तं देशमभ्यगाम्[3] ॥ १९२ ॥ धनार्थं विविधोपाया मया तत्र च चक्रिरे । पुण्योदयं विना तेषु न कोऽपि फलितः परम् ॥ १९३ ॥ वाणिज्ये हि मयारब्धे न रूपेणार्द्धमप्यभूत् । विहितायामथ कृषौ वृष्टिर्देशेऽपि नाभवत् ॥ १९४ ॥ सेवितेऽथ महीनाथे हेत्वभावेऽपि सोऽकुपत् ।

१ °बोचित्थ° ता० क० घ०, °बोधित्थ° ग० । २ भग्नबोचित्थ° ता० क०, भग्नबोधित्थ° ग० । ३ °मागमम् ख० ।

प्रविष्टो युधि तत्तुच्छे प्रहारैर्जर्जरीकृतः ॥ १९५ ॥ कृते तूक्ष्णां वाहने ते मृतास्तिलकरोगतः । तस्करैर्लुण्ठितः सार्थः प्रस्तुते खरवाहने ॥ १९६ ॥ खातेऽथ रोहणगिरौ धूलिरेवाभवत्करे । प्रकृते धातुवादे च क्षार एव बभूव मे ॥१९७॥ अभ्यस्ते द्यूतरमणे जित्वा धूर्त्तैर्नियन्त्रितः । वृत्तिं नोक्तामपि प्राप जातः कस्यापि कर्म्मकृत् ॥ १९८॥ यदि वा किं बहूक्तेन बुभुक्षाक्षामकुक्षिणा । न भिक्षापि तदा लेभे मया पुण्योदयं विना ॥ १९९ ॥ ततश्चात्यन्तनिर्विण्णं कृत्वा पादप्रसारिकाम् । संस्थितं मामुवाचैवं सागरः स हितः किल ॥ २०० ॥ न विषादपरैरर्थः प्राप्यते धनशेखर ! । अविषादः श्रियो मूलं यतो धीराः प्रचक्षते ॥ २०१ ॥ विषादं सर्वथा प्रोज्झ्य तदाऽऽलम्बस्व पौरुषम् । पौरुषात्सुलभा लक्ष्मीः प्रतिकूलेऽपि वेधसि ॥ २०२ ॥ किञ्चालीकमपि प्रोच्य मुषित्वापि परं जनम् । कुटुम्बमपि निर्वास्य सर्वथाऽर्ज्यं धनं नरैः ॥ २०३ ॥ धनी हि विहितानेकपातकोऽपि धनौजसा । श्लाघ्यते सर्वलोकेन लभते चेप्सितं सुखम् ॥ २०४ ॥ ततो धैर्यं समालम्ब्य कुरु द्रव्यार्जनोद्यमम् । मुह्यन्ति व्यसने नार्यः पुमांसो न पुनर्यतः ॥ २०५ ॥ एवं प्रोत्साहितस्तेन धैर्यमालम्ब्य सत्वरम् । पापकर्म्मसु भूयोऽपि प्रवृत्तोऽहं धनाशया ॥ २०६ ॥ तथापि हि न संजज्ञे विना पुण्योदयं मम । धनगन्धोऽपि रम्भोरु ! प्रत्युतानर्थसन्ततिः ॥ २०७ ॥ पुण्योदयविहीनश्च तदा मिथ्याभिमानतः । न ययौ श्वशुरस्याहं गृहे नापि पितुः कुधीः ॥२०८॥ किञ्च मां मैथुनः सोऽपि स्त्रीसेवायां मुहुर्मुहुः । तस्यामपि ह्यवस्थायां प्रेरयन्नेव तिष्ठति ॥२०९॥ केवलं तदवस्थं स्त्री काणाऽक्ष्णापि न कापि माम् । वीक्ष्य('क्ष')तेऽहं ततः खिद्ये ह्यभीष्टाप्त्यभावतः ॥ २१० ॥

एवं विविधदेशेषु पापकर्म्मपरायणः । ताभ्यां पापवयस्याभ्यां क्लेश्यमानोऽभ्रमं तदा ॥ २११ ॥ इतश्चानन्द-नगरे सूरिरुत्तमनामकः । अन्येद्युर्बहिरुद्याने समेत्य समवासरत् ॥ २१२ ॥ तं नन्तुं सपरीवारः स हरिः पृथिवी-पतिः । पौरलोकश्च सर्वोऽपि प्रययौ प्रीतमानसः ॥ २१३ ॥ नत्वा नत्वा निषण्णेषु सर्वेष्वथ यथोचितम् । भगवान् विदधे धर्म्मदेशनां पापनाशिनीम् ॥ २१४ ॥ तां श्रुत्वा हरिराजोऽथ चेतस्येवमचिन्तयत् । विश्वदृश्वा प्रभुरसौ तदमुं प्रश्नयाम्यदः ॥ २१५ ॥ किं मां तदाक्षिपत् वार्द्धौ वयस्यो धनशेखरः ? । किं वा रुष्टः स देवोऽस्य ? किं जीवति मृतः स च ? ॥ २१६ ॥ यावत्स चिन्तयत्येवं तावद् ज्ञात्वा तदाशयम् । समभासत तं सूरिः स चतुर्ज्ञानसेवधिः ॥ २१७ ॥ यदेतच्चिन्तितं भूप ! त्वया यद्वारिधौ कथम् । क्षिप्तोऽहं सुहृदेत्यादि तत्राकर्णय कारणम् ॥२१८॥ अन्तरङ्गौ हि विद्येते तस्य सागरमैथुनौ । वयस्यौ स तयोर्दोषो नैव तस्य तपस्विनः ॥२१९॥ सागरेण यतोऽमुष्य त्वद्रत्नग्रहणे मनः । मयूरमञ्जरीभोगे विदधे मैथुनेन च ॥ २२० ॥ तद्वशाच्च त्वयि क्षिप्तेऽर्णवे देवोऽर्णवाधिपः । सोऽकुपत् तस्य संरक्ष्य त्वां वार्द्धौ च तमक्षिपत् ॥ २२१ ॥ तथापि न मृतस्तत्र किन्तु तीर्त्वाम्बुधिं तदा । सोऽधुनानेकदेशेषु भ्राम्यन्नस्ति धनाशया ॥ २२२ ॥ तदेवं पापसुहृदोस्तयोरेव नरेश्वर(°र !) । दोषोऽयं न पुनस्तस्य प्रकृत्या सुन्दरो हि सः ॥ २२३ ॥ तत् समाकर्ण्य कारुण्यं सुतरामुद्वहन्मयि । मुनिनाथं महीनाथः पप्रच्छ पुनरप्यदः ॥ २२४ ॥ ताभ्यां पापवयस्याभ्यां स कदा धनशेखरः । वियोगं लप्स्यते नाथ ! शशंस गुरुरप्यथ ॥ २२५ ॥ पुरेऽस्ति शुभ्रचित्ताख्ये नृपो नाम्ना सदाशयः । वरेण्यताभिधा तस्य देवी

जगति विश्रुता ॥ २२६ ॥ तत्कुक्षिसंभवे तस्य गुणसंभारभाजनम्। मुक्तताब्रह्मरत्याख्ये विद्येते कन्यके उभे ॥ २२७ ॥ ततस्ते लप्स्यते कन्ये स यदा धनशेखरः। तदाभ्यां पापमित्राभ्यां निःसन्देहं वियोक्ष्यते ॥ २२८ ॥ राजा कर्म्मपरीणामः कार्यस्यास्य च चिन्तकः। अतो विमुच्य तच्चिन्तां स्वकार्ये यत्यतां नृप ! ॥ २२९ ॥ तन्निशम्याथ मच्चिन्तां विमुच्य वसुधाधवः। मुनीन्द्रमिति पप्रच्छ पुनः संजातसंशयः ॥ २३० ॥ यदुक्तं नाथ ! युष्माभिर्यथासौ धनशेखरः। पापमित्रसमायोगात् तत् तादृक् कर्म्म निर्म्ममे ॥ २३१ ॥ स्वरूपतः पुनरयं भद्रकस्तत्र किं पुमान्। निर्मलोऽपि स्वरूपेण परदोषेण दूष्यते ? ॥ २३२ ॥ सूरिः प्रोचे समस्त्येव महीभर्तरिदं यतः। द्विविधो ह्यत्र लोकोऽयं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ २३३ ॥ तत्र बाह्यलोकदोषा लगन्ति न लगन्ति वा। दोषास्त्वान्तरलोकानां लगन्त्येव शरीरिणाम् ॥ २३४ ॥ तत्रान्तरङ्गलोकानां दोषकारित्वसूचकम्। आकर्ण्णय महीनाथ ! कथयामि कथानकम् ॥ २३५ ॥ आस्ते मनुजगत्याख्या नगरीह गरीयसी। राजा कर्म्मपरीणामस्तत्र चास्ति महाभुजः ॥ २३६ ॥ स कालपरिणत्याख्यमहादेव्या समन्वितः। संसारनाटकं पश्यन्नित्यमास्ते यथासुखम् ॥ २३७ ॥ तस्यानन्तान्यपत्यानि किन्तु तान्यस्य मन्त्रिणः। अविवेकादयश्चक्षुर्दोषातङ्काद्गोपयन् ॥२३८॥ इतश्च तत्र विख्यातः सर्वभावस्वभाववित्। यथास्थितार्थवादी च सिद्धान्तोऽस्ति परः पुमान् ॥२३९॥ जन्तोरिष्टमनिष्टं वा किमत्र भगवन्निति। अप्रबुद्धाभिधोऽपृच्छदन्तेवासी तमेकदा ॥ २४० ॥ सुखमिष्टमनिष्टं तु दुःखं तेनेति भाषिते। तयोः कारणमप्राक्षीदप्रबुद्धः पुनर्गुरुम् ॥ २४१ ॥ गुरुरप्यभ्यधाद्राज्यं सुखहेतुः सुपालितम्।

दुष्पालितं तु दुःखस्य तदेवैकं निबन्धनम् ॥ २४२ ॥ अप्रबुद्धः पुनः प्रोचे प्रत्यक्षोपहतं ह्यदः । यतो राज्यमिह स्वल्पतमानामेव विद्यते ॥ २४३ ॥ सुखदुःखे पुनर्जीवाः सर्वेऽपि भववर्त्तिनः । दृश्यन्तेऽनुभवन्तोऽमी तदिदं घटते कथम् ? ॥ २४४ ॥ सिद्धान्तः प्राह नह्येतत्सुखदुःखैककारणम् । बाह्यं राज्यं मया प्रोचे किं तर्ह्याभ्यन्तरं ननु ॥२४५॥ तच्चास्त्येव समस्तानां जीवानां भववर्त्तिनाम् । ततो ये पालयन्तीदं सम्यक् तेषां भवेत्सुखम् ॥२४६॥ ये तु दुष्पालितमिदं कुर्वते मूढबुद्धयः । तेषां दुःखं भवेत्तस्मान्न प्रत्यक्षविरोधिता ॥२४७॥ किमेकरूपं तद्राज्यमथवानेक-रूपकम् । इति पृष्टोऽप्रबुद्धेन सिद्धान्तः पुनरभ्यधात् ॥२४८॥ सामान्येनैकरूपं तद्विशेपेणेतरत्पुनः । तत्र सामान्य राज्यस्य स्वरूपं शृणु सुन्दर ! ॥ २४९ ॥ विश्वत्रितयविख्यातः समग्रैश्वर्यभाजनम् । संसारिजीवनामात्र राज्ये तावन्नरेश्वरः ॥ २५० ॥ साम्यवीर्यामलज्ञानप्रमुखै रत्नराशिभिः । भास्वरैः पुरितस्तत्र कोशश्चात्यन्तपुष्कलः ॥ २५१ ॥ गाम्भीर्यौदार्यशौर्यादिस्यन्दनश्रेणिसुन्दरम् । यशःप्रश्रयसौजन्यप्रमुखेभविभूषितम् ॥ २५२ ॥ वाग्मित्वबुद्धिमत्वादिवाजिराजिविराजितम् । दाक्षिण्यसौमनस्यादिपदातिपरिपूरितम् ॥२५३॥ क्षीरनीरधिसंकाशं भुवनानन्ददायकम् । चतुरङ्गं महासैन्यं राज्ये तत्र च सुन्दरम् ॥ २५४ ॥ विशेषकम् ॥ संसारिजीवराजेन्द्रहितकारी चतुर्मुखः । तत्र चारित्रधर्म्मश्च भूपतिः प्रतिनायकः ॥ २५५ ॥ जैनसात्विकचित्तादिपुरग्रामादिसंभृता । राज्ये च पृथिवी तत्र चित्तवृत्त्यभिधाटवी ॥ २५६ ॥ कपायनोकषायाख्यप्रमादाद्याः सहस्रशः । चौरास्तस्य च राज्यस्य सन्त्युपद्रवकारिणः ॥ २५७ ॥ मध्ये तेषां च चौराणां स्वामिनौ भ्रातरावुभौ । संस्तः कर्म्मपरीणाममहामोहौ

महाबलौ ॥ २५८ ॥ चतुरङ्गबलोपेतौ विक्रमाक्रान्तविष्टपौ । तौ चात्यन्तमदाध्मातौ मन्येते इति चेतसि ॥ २५९ ॥ कोऽयं संसारिजीवोऽत्र ? को वा चारित्रधर्म्मकः ?। अस्मदीयमिदं राज्यं नात्र कोऽप्यपरः प्रभुः ॥ २६० ॥ ततः सर्वेऽपि संभूय चरटास्ते महौजसम् । राज्ये कर्म्मपरीणामं स्थापयामासुराशु तम् ॥ २६१ ॥ राजसतामसचित्त-प्रभृतीनि पुराण्यथ । चित्तवृत्तिमहाटव्यां विष्वक् सोऽपि न्यवीविशत् ॥ २६२ ॥ राज्यस्थितिं विधायान्यामपि सेनां समर्प्य च । अस्थापयच्च तेष्वेव महामोहं महीपतिम् ॥ २६३ ॥ स्वयं पुनरसौ कर्मपरीणामो महानृपः । देव्या समन्वितः कालपरिणत्याख्ययानया ॥ २६४ ॥ पुर्यस्यां मनुजगतौ सदा संसारनाटकम् । वीक्षमाणः परं भुङ्क्ते राज्यसौख्यं निराकुलः ॥ २६५ ॥ युग्मम् ॥ किन्तु कर्म्मपरीणामस्तत्सामर्थ्यं विदन्निव । संसारिजीवराजस्य राज्यं न द्वेष्टि सर्वथा ॥ २६६ ॥ तस्मै हितं च चारित्रधर्म्मं तमनुवर्त्तते । कानिचिच्छुभकृत्यानि सम्भूय कुरुतेऽपि च ॥ २६७ ॥ ततश्चारित्रधर्म्मोऽपि प्रपेदे सपरिच्छदः । मध्यस्थोऽयमिति कृत्वा स्वामिभावेन तं नृपम् ॥ २६८ ॥ महामोहस्तु संसारिजीवराजं मदोद्धुरः । चारित्रधर्म्मसैन्यं च न तृणायापि मन्यते ॥ २६९ ॥ ततः संसारिजीवोऽसौ यावद्राज्यं निजं न तत् । जानाति कोशसैन्यादिसमृद्धिपरिपूरितम् ॥ २७० ॥ प्राप्तान्तरो महामोहः स तावत्सपरि-च्छदः । तस्य राज्यं तदाक्रम्य प्रेष्यप्रायं करोति तम् ॥ २७१ ॥ यदा पुनः स संसारिजीवो राज्यं कथञ्चन । वेत्ति तत् तादृगात्मीयं विगृह्णाति तदा [4]द्विपम् ॥ २७२ ॥ स च तं विग्रहारूढो महामोहमनेकशः । निजौजसा विजयते

१ °गेष न्य° ख० । २ °या तया ग० । ३ स्वयं तु मनु° ख० । ४ द्विषाम् ग० ।

तेनाप्येष विजीयते ॥ २७३ ॥ यदा विजयते यावत्तावदाप्नोति शं तदा । विजीयते यदा यावद् दुःखं तावत्तदा पुनः ॥२७४॥ यदा तु वीर्यमतुलं स प्राप्याभ्यासयोगतः । महामोहपुरोगांस्तान् सर्वान् विजयते रिपून् ॥२७५॥ तदा निष्कण्टकं राज्यमासाद्य तदसौ निजम् । निःशेषक्लेशनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं सुखम् ॥ २७६ ॥ युग्मम् ॥ तदेवं तस्य तद्राज्यं कारणं सुखदुःखयोः । पालनापालनाज्जातमेकमेव शुभाशय ! ॥ २७७ ॥ स्वामिन् ! संसारिजीवस्य तस्य किं वर्त्ततेऽधुना । सौराज्यमुत दौराज्यमिति शिष्योऽवदत्ततः ॥ २७८ ॥ सिद्धान्तः प्राह दौराज्यं वर्त्तते तस्य संप्रति । वराकोऽद्यापि तद्राज्यं न वेत्त्येष निजं यतः ॥ २७९ ॥ बहिरङ्गेषु देशेषु स हि संप्रति दुःखभाक् । सागरेण भ्रम्यमाणो मैथुनेन च विद्यते ॥ २८० ॥ तत्पुनस्तस्य चारित्रधर्म्माद्यं निखिलं बलम् । निरुद्धं परितोऽप्यस्ति महामोहादिवैरिभिः ॥ २८१ ॥ अप्रबुद्धः पुनः प्राह श्रुतं तावदिदं मया । सामान्येनैकधा राज्यं सुखदुःखकृदान्तरम् ॥ २८२ ॥ अथ पूज्यैर्यदा(°र्यथा°)ख्यातं यत्तदेव विशेषतः । अनेकरूपं तच्छ्रोतुमहमिच्छामि सांप्रतम् ॥ २८३ ॥ सिद्धान्तोऽप्याह संसारिजीवेनायं महीभुजा । चक्रे कर्म्मपरीणामः प्रमाणं सर्वकर्म्मसु ॥ २८४ ॥ ततश्च स्वेच्छया राज्यमिदमेव पृथक् पृथक् । स तेभ्यो निजपुत्रेभ्यः सर्वेभ्योऽपि प्रयच्छति ॥२८५॥ अनन्तेषु ततस्तेषु तदत्तं तेन गच्छति । अनेकरूपतां सौख्यदुःखहेतुर्यथोचितम् ॥ २८६ ॥ तदेवमन्तरङ्गं तन्महाराज्यं विशेषतः । अनेकरूपं जानीहि बहुत्वात् तत् तनूभुवाम् ॥ २८७ ॥ अप्रबुद्धोऽवदत्कर्म्मपरिणामतनूरुहाम् ।

१ °दितम् ख० ।

तद्राज्यं कुर्वतां तेषां संपन्नं कस्य किं प्रभो ? ॥ २८८ ॥ सिद्धान्तोऽवोचदाख्यातमेव यत्तस्य सूनवः । अनन्तास्ते ततस्तेषां कियतां कथ्यते कथा ? ॥ २८९ ॥ तथापि यदि कल्याण ! महत्कौतूहलं तव । व्यापकः कथनोपायस्ततोऽस्त्येषं निशम्यताम् ॥ २९० ॥ सन्ति कर्म्मपरीणामभूपतेरस्य सुन्दर ! । मुख्याः षडङ्गजन्मानो जगत्त्रितयविश्रुताः ॥ २९१ ॥ निकृष्टः प्रथमस्तेषु ततोऽधमविमध्यमौ । मध्यमश्चोत्तमश्चैव वरिष्ठश्चेति नामतः ॥ २९२ ॥ तेषां कर्म्मपरीणामं समभ्यर्थ्य कथञ्चन । एकैकं वत्सरं राज्यं दापयिष्याम्यहं क्रमात् ॥२९३॥ षण्णामप्यथ राज्यानां तेषां वीक्षणहेतवे । प्रेष्यो वितर्कनामायमात्मीयोऽनुचरस्त्वया ॥२९४॥ विज्ञातेषु ततस्तेषु षट्सु राज्येषु तन्मुखात् । पृष्टोऽयमर्थः सर्वोऽपि प्रतीतस्ते भविष्यति ॥ २९५ ॥ अप्रबुद्धोऽथ तद्वाचं तथेति प्रत्यपद्यत । विदधे सर्वमप्याशु सिद्धान्तोऽपि यथोदितम् ॥ २९६ ॥ अप्रबुद्धगिरा वीक्ष्य वितर्कोऽथ समाययौ । तन्मनुष्यजन्माभिख्ये वर्षषट्केऽतिलङ्घिते ॥ २९७ ॥ अप्रबुद्धं प्रणम्याथ स प्रोचे रचिताञ्जलिः । इतस्तावदहं देव ! राज्ये तत्रान्तरेऽगमम् ॥ २९८ ॥ तन्मनुष्यभवावेदनाख्यडिण्डिमताडनात् । अश्रौषं चैतदुद्घुष्यमाणं तत्र पुरादिषु ॥ २९९ ॥ निकृष्टो वर्त्तते राजा प्राक्प्रवाहेण हे जनाः! । समाचरत कृत्यानि तथा पिबत खादत ॥ ३०० ॥ ततस्तां घोषणां श्रुत्वा तत्र सर्वेऽपि ते जनाः । कीदृक् स्यादेष राजेति चिन्तया चुक्षुभुस्तराम् ॥ ३०१ ॥ ते च सर्वेऽपि संभूय चरटा[1] निजसंसदि । महामोहादयो देव ! पर्यालोचमिति व्यधुः ॥ ३०२ ॥ विषयाभिलापमन्त्री महामोहमदोऽवदत् ।

१ °व नि° ग० ।

निकृष्टेऽत्र नृपे जाते वृथैव वयमाकुलाः ॥३०३॥ यत्कर्म्मपरिणामेन निकृष्टस्तादृगेव सः। जनितो यादृशोऽस्माकं वशवर्त्ती भुजिष्यवत् ॥३०४॥ तत्कर्म्मपरिणामेन चेत्तस्मै विनियोजितम्। इदं राज्यं ततो देव! वयमेवात्र नायकाः ॥ ३०५ ॥ लब्धे निष्कण्टके राज्ये तदेवं देव! संप्रति। हर्षस्थाने किमस्माभिरातुरैर्व्रत भूयते? ॥ ३०६ ॥ निकृष्टो जनितः कर्म्मपरिणामेन कीदृशः?। महामोहेनेति पृष्टो मन्त्री प्रोचे निशम्यताम् ॥ ३०७ ॥ कुरूपो दुर्भगः क्रूरः परलोकपराङ्मुखः। धर्म्मार्थकाममोक्षैश्च दूरतः परिवर्जितः ॥ ३०८ ॥ देवतागुरु-विद्वेषी दोषैरन्यैरपि श्रितः। गाम्भीर्यौदार्यधैर्यादिगुणनाम्नोऽपि दूरगः ॥ ३०९ ॥ युग्मम् ॥ न वेत्ति च वराकोऽसौ निजं राज्यं न वा बलम्। न समृद्धिं न वा मूढः स्वरूपमपि तत्त्वतः ॥ ३१० ॥ न चास्मानेष जानाति चरटान् राज्यहारकान्। प्रत्युत स्वामिभूतांश्च बन्धुभूतांश्च मन्यते ॥ ३११ ॥ स ईदृशो महाराज्ये लब्धेऽ-प्यत्राधमाधमः। निःशेषशक्तिशून्यात्मा किमस्माकं करिष्यति? ॥ ३१२ ॥ तदेवं संस्थिते देव! विहायाकुलतां हृदि। महावर्द्धनकं कर्तुं युज्यते निजनीवृति ॥ ३१३ ॥ तच्छ्रुत्वाथ महामोहो निजराज्ये[1] व्यधापयत्। महावर्द्धनकं हृष्टः सर्वतस्करतोपकृत् ॥ ३१४ ॥ इतश्चारित्रधर्म्माद्याः श्रुत्वा तां राज्यघोषणाम्। कीदृक् स्यादेष राजेति मन्त्रं संभूय चक्रिरे ॥ ३१५ ॥ सद्बोधः प्राह चारित्रधर्म्मं विज्ञातमेव ते। निकृष्टस्यास्य यद्रूपमेकान्तेन दुरात्मनः ॥ ३१६ ॥ नास्माकं न च राज्यस्य नामाप्यस्यैष बुध्यते। मित्रीयति महामोहप्रभृतींस्तु रिपूनपि ॥ ३१७ ॥

---

१ निजराज्यस्य ग०।

निकृष्टराज्यं तद्देव ! यदेतद्दैवदोषतः। जज्ञे तदयमस्माकं युगावर्त्तो ह्युपस्थितः ॥ ३१८ ॥ एकं तावत्पराभूता महामोहादिभिर्वयम्। द्वितीयमीदृशो राजा धिग् दैवमसमञ्जसम् ॥ ३१९ ॥ ततसमाकर्ण्य चारित्रधर्म्माद्याः पृथिवीभुजः। जज्ञिरे सहसा ते च शोकम्लानमुखाम्बुजाः ॥ ३२० ॥ चारित्रधर्म्मदेशेऽपि ये जनाः सन्ति तेऽप्यथ। निकृष्टराज्यं विज्ञाय बभूवुः शोकविह्वलाः ॥३२१॥ अथाहं चिन्तयामास निकृष्टः क्व स वर्त्तते ? । एकैः प्रमुदितं यस्माद्विद्राणमपरैः पुनः ॥ ३२२ ॥ यदि वालोकयिष्यामि राज्यार्थं तमिहागतम्। चिन्तयन्निति तन्मार्गं पेश्यन्नस्थां तदा क्षणम् ॥३२३॥ यावत्तस्य निकृष्टस्य तत्र राज्ये प्रवेशनम्। न दत्तमेव तैर्देव ! महामोहादि-तस्करैः॥ ३२४ ॥ किन्तु चारित्रधर्म्मादीन्हत्वा निर्वास्य तं तथा। तद्राज्यमान्तरं विष्वक् स्वीचक्रुः स्वयमेव ते ॥ ३२५ ॥ ततस्तत्तादृशं दृष्ट्वा महामोहादिचेष्टितम्। अगां जनेषु वाह्येषु दिदृक्षुस्तं निकृष्टकम् ॥ ३२६ ॥ निज-राज्यपरिभ्रष्टः कुरूपो विश्वगर्हितः। कुचेलो मलिनः क्रूरः पुरुषार्थविवर्जितः ॥ ३२७ ॥ जन्तुघातकुकर्म्माद्यैः कुर्वन्नु-दरपूरणम्। मातङ्गम्लेच्छभिल्लादिरूपं नानाविधं भजन् ॥ ३२८ ॥ निधानं सर्वदुःखानां पापराशिरिवाङ्गवान्। दृष्टो मया निकृष्टोऽथ नृपस्तत्र स पर्यटन् ॥३२९॥ विशेषकम् ॥ किञ्च दुष्पालितं राज्यं विदधेऽनेन पापिना। इति कर्म्मपरीणामस्तस्योपर्यन्यदाकुपत् ॥ ३३० ॥ ततस्तं स हठान्नीत्वा दुष्पुरे पापिपञ्जरे। यातनाभिरनेकाभिरपी-डयदिति श्रुतम् ॥३३१॥ मयाथ चिन्तितं देव ! निकृष्टस्यास्य पाप्मनः। अन्धङ्करणमज्ञानविजृम्भितमहो ! महत्

१ पश्यन्तस्थौ तदा ख०।

॥ ३३२ ॥ यत्प्रभावान्महाराज्यं हारयित्वैष तन्निजम् । इह तत्र च दुःखौघभाजनं समभूत् परम् ॥ ३३३ ॥ यद्वा तच्चिन्तया किं मे राजादेशो मया परम् । कर्त्तव्योऽतः प्रपश्यामि द्वितीयस्यापि चेष्टितम् ॥ ३३४ ॥ अथाधमस्य तद्राज्यं द्वितीये देव ! वत्सरे । संजज्ञे घोषितं प्रोच्चैः पटहेन च पूर्ववत् ॥ ३३५ ॥ क्षुभिते च जने विष्वग् महामोहनरेश्वरः । सभायां निषसादाथ मन्त्राय सपरिच्छदः ॥ ३३६ ॥ विषयाभिलाषः प्रोचे देवास्मादधमादपि । नैवास्ति भयमस्माकं श्रूयतां यादृगस्त्यसौ ॥ ३३७॥ इहलोकरतो गाढं परलोकपराङ्मुखः । धर्म्ममोक्षकृतद्वेषः कामार्थविहितादरः ॥ ३३८ ॥ वत्सलोऽस्मासु चारित्रधर्म्मादिषु तु मत्सरी । अस्यान्तरङ्गराज्यस्य नामाप्येष न बुध्यते ॥ ३३९ ॥ युग्मम् ॥ तदेतस्यापि यद्राज्यं राज्यमस्माकमेव तत् । किन्त्वेतस्यापि राज्येऽत्र न दातव्यं प्रवेशनम् ॥३४०॥ प्रविष्टो ह्येष जानीयादस्माकमिह चेष्टितम् । किञ्चिन्मात्रं यतो देव ! वीर्यमेतस्य विद्यते ॥३४१॥ बहिष्करणमेवातो युज्यतेऽस्य दुरात्मनः । तदुपायश्च कामार्थप्रतिबद्धो ह्यसौ किल ॥३४२॥ ततः सर्वेऽपि संभूय वयं तं धनकामयोः । आसक्तं बाह्यदेशेषु धारयामो बहिष्कृतम् ॥ ३४३ ॥ भवत्त्वेवमिति प्रोच्य महामोहादयोऽथ ते । अधमं तं बहिष्कर्तुं त्वरन्ते यावदुन्मदाः ॥३४४॥ सुता तावदमात्यस्य निजसामर्थ्यगर्विता । दृष्टिर्नाम समुत्थाय सप्रगल्भमदोऽवदत् ॥ ३४५ ॥ सोऽधमः कियती मात्रा ? देव ! यं प्रति गामुकाः । यूयं वशीकृताशेषसुरासुरनरेश्वराः ॥ ३४६ ॥ तदीयतां ममैवायमादेशो येन तं जवात् । एकाप्यहं करोम्येषा व्रजित्वा धशवर्त्तिनम् ॥ ३४७ ॥ किञ्च मे प्रसरो यत्र तत्रैते मत्सहोदराः । स्पर्शनाद्या भवन्तश्च गवेयुर्भावतोऽन्तिके ॥ ३४८ ॥ एव-

मुक्तवती साथ महामोहमहीभुजा । विसृष्टा प्रययौ तत्र यत्रास्ते सोऽधमो नृपः ॥ ३४९ ॥ ते च चारित्रधर्म्माद्याः पूर्ववच्छोकसंकुलाः । बभूवुरधमस्यापि राज्ये कुत्साभिभावतः ॥ ३५० ॥ दृष्टिस्तु योगिनी कृत्वान्तरर्द्धानमधमाक्षिणी । भेजे स तद्बलाच्चाभूद् रूपालोकनलोलुभः ॥ ३५१ ॥ नारीमद्भुतसौन्दर्यां तद्विलासांश्च हारिणः । चित्राद्यन्यच्च चक्षुष्यं स पेश्यन्नैव तृप्यति ॥३५२॥ एवं रात्रिंदिवं रूपदर्शनाक्षिप्तमानसः । सोऽन्यत्किञ्चिन्न जानाति वराको हितमात्मनः ॥ ३५३ ॥ तथा च वर्त्तमानस्य तस्य तैः स्पर्शनादिभिः । महामोहादिभिश्चैत्य स्वं स्वं वीर्यमदर्श्यत ॥ ३५४ ॥ ततस्तैर्लुप्तसंज्ञानः प्रसक्तो धनकामयोः । बहिश्चक्रे बलादेव ! सोऽधमो निजराज्यतः ॥ ३५५ ॥ चारित्रधर्म्ममुख्यांस्तान्विनिर्जित्य स्वयं पुनः । तद्राज्यमुररीचक्रुः सर्वतस्ते निरङ्कुशाः ॥ ३५६ ॥ भ्रष्टराज्यसहायोऽपि परिभूतोऽपि चारिभिः । मन्यते परमं सौख्यमात्मनः सोऽधमः पुनः ॥ ३५७ ॥ द्यूतकृन्नटवैन्द्यादि[3]रूपं नानाविधं दधत् । दूषयन् धार्मिकं लोकं प्रशंसन् भोगिनं पुनः ॥ ३५८ ॥ चारुरूपेक्षणप्रह्वः प्रद्युम्नद्युम्नलम्पटः । बहिरङ्गेषु देशेषु भ्राम्यन् कालं निनाय सः ॥ ३५९ ॥ युग्मम् ॥ अन्येद्युः कापि मातङ्गी रूपयौवनशालिनी । ददृशे तेन भेजे च तद्रूपाकृष्टचेतसा ॥ ३६० ॥ ततस्तं हतमर्यादं दुराचारं स्वदेशतः । बहिरङ्गा अपि जनाः क्रोशन्तो निरवासयन् ॥ ३६१ ॥ क्लेशयित्वा बहिर्लोके चिरं तमधमं ततः । निन्ये कर्म्मपरीणामो दुष्पुरे पापिपञ्जरे ॥ ३६२ ॥ रॉज्यदुष्पालकस्तेन रोषणेन निकृष्टवत् । विविधं बाध्यते सोऽपि तत्रोचैरिति च श्रुतम्

१ भूपा° क० ग० घ० । २ पश्यन्नेव ग० । ३ °बन्द्या° ख० ग० । ४ राज्ये डु° ता० क० घ० ।

॥ ३६३ ॥ मयाथ चिन्तितं देव ! यदेषोऽपीह तत्र च । दुःखभागभवत् तत्राज्ञानमेव निबन्धनम् ॥ ३६४ ॥ संवत्सरे तृतीयेऽथ जज्ञे राजा विमध्यमः । घोषणादौ कृते मन्त्री महामोहमुवाच च ॥ ३६५ ॥ वत्सलोऽस्मासु देवायमपि राजा विमध्यमः । किन्तु चारित्रधर्माद्यांस्तानप्ययमपेक्षते ॥ ३६६ ॥ अत एव यथामुष्य सर्वदा धनकामयोः । प्रतिबद्धं मनो देव ! तथा धर्मेऽपि किञ्चन ॥ ३६७ ॥ देवानां चैषं सर्वेषां सर्वेषां च तपस्विनाम् । धर्म्माणामपि सर्वेषां स्तोता मध्यस्थमानसः ॥ ३६८ ॥ तदेवं मन्यते बन्धूभूतानस्मानयं यथा । तथा चारित्रधर्म्माद्यानपि जानाति किञ्चन ॥ ३६९ ॥ प्रवेशोऽस्यापि तद्राज्ये न देयोऽत्र यतो भवेत् । प्रविष्टोऽयं स्वसैन्यस्य पालकोऽस्मद्विबाधया ॥ ३७० ॥ बहिर्भूतस्तु यद्येष स्वसैन्यपरिपालनम् । कुर्यात् तथापि नास्माकं भवेदत्यन्तबाधकः ॥ ३७१ ॥ ततो दृष्टिं पुरस्कृत्य सत्वरं पृथिवीपतिः । एषोऽप्यधमवद्देव ! राज्यतः क्रियते बहिः ॥ ३७२ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते महामोहमहीभुजा । बहिश्चक्रे स तैश्चौरै राज्याद् दृष्टिपुरस्सरैः ॥ ३७३ ॥ वशीकृतं च तद्राज्यं किन्तु नात्यन्तपीडितम् । चारित्रधर्म्मसैन्यं च मनागेतैरुपेक्षितम् ॥ ३७४ ॥ तस्माद्राज्याद्बहिःस्थोऽपि स तु राजा विमध्यमः । नित्यं धर्म्मार्थकामेषु यथाकालं प्रवर्त्तते ॥ ३७५ ॥ क्षत्रियब्राह्मणादीनामाकारं देव ! बिभ्रता । तेऽपि चारित्रधर्माद्यास्तेनैवं प्रीणिता मनाक् ॥ ३७६ ॥ तथा च वर्त्तमानोऽयं श्लाघां बाह्यजनेष्वपि । प्राप कर्म्मपरीणामस्तुतोष च मनाग् नृपः ॥ ३७७ ॥ ततस्तं मानवा-

१ °क्ष्यते क० ख० ग० । २ °व स° ता० ।

चासमुरूपेषु सुखहेतुषु । अनैपीन्नगरेष्वेष मयेत्याकर्णितं तदा ॥ ३७८ ॥ मध्यमेऽथ नृपे जाते तुर्येऽब्दे घोषणादिकम् । बभूव पूर्ववद् यावत्स मन्त्री नृपमाह तम् ॥ ३७९ ॥ देवास्माकमयं नैव सुन्दरो मध्यमो नृपः । तेनास्मद्विद्विषा यस्य सिद्धान्तेनास्ति सङ्गमः ॥३८०॥ ततस्तत्कथनात् किञ्चित् स्वरूपं वेत्त्यसौ नृपः । स्वराज्यस्यास्य चारित्रधर्म्मादीनां च नस्तथा ॥ ३८१ ॥ अत एवैष निःशेषक्लेशराशिनिशुम्भनम् । तत्त्वतो मन्यते मोक्षं धर्म्मं चैतस्य साधकम् ॥ ३८२ ॥ उदारसत्त्वविरहात् केवलं त्यक्तुमक्षमः । कामार्थौ सेवते नित्यमेष तद्दोषवेद्यपि ॥ ३८३ ॥ तदत्रावहितैर्देव ! भाव्यमस्माभिरन्वहम् । नो चेन्निहत्य नः सर्वान्निजराज्यं ग्रहीष्यति ॥ ३८४ ॥ निशम्य तदमात्योक्तं महामोहादयोऽथ ते । बभूवुर्माध्यमे राज्ये किञ्चिच्चकितचेतसः ॥ ३८५ ॥ ते तु स्तोकीभवच्छोकाः कोका इव दिनोदये । चारित्रधर्म्मराजाद्याः प्रापुरीषत्तदा मुदम् ॥ ३८६ ॥ मध्यमस्तु महामोहादीन् दुन्वंस्तांश्च पोषयन् । चारित्रधर्म्मादीन् राज्यं कियदप्याददे निजम् ॥ ३८७ ॥ श्रावकाणां दधद्रूपं भूयसीं जिनशासने । स प्राप परमां श्लाघां बहिरङ्गजनेष्वपि ॥ ३८८ ॥ ततः कर्म्मपरीणामस्तत्पिता विबुधालये । पुरे तं नीतवान् हर्षादिति चाकर्णितं मया ॥ ३८९ ॥ पञ्चमे हायनेऽथाभूदुत्तमः पृथिवीपतिः । घोषणायां च जातायां परितश्चुक्षुभुर्जनाः ॥ ३९० ॥ संधीरणाय लोकानां निजानामथ तोषभाक् । चारित्रधर्म्मराजेन्द्रं सद्बोधः प्राह पर्षदि ॥ ३९१ ॥ चिरान्नः फलितं देव ! भाग्यैरद्य यदुत्तमः । बभूव भूमिपालोऽयं सर्वाद्भुतगुणास्पदम् ॥३९२॥ स्वराज्यमिदमस्मांश्च महामोहादीरींश्च तान् । नामतो गुणतश्चापि सर्वं जानात्यसौ यतः ॥३९३॥ संसारा-

द्विरतश्चायमर्थकामपराङ्मुखः । मन्यते धर्म्ममेवैकं तत्त्वं मोक्षैकमानसः ॥ ३९४ ॥ ततोऽयं पोषयन्नस्मान्निरस्यं-
स्तांस्तु तस्करान् । पालयिष्यत्यदः सम्यग् निजराज्यं महामनाः ॥ ३९५ ॥ तदस्य यदिदं राज्यं तद्राज्यं
तत्त्वतोऽस्ति नः । कार्यतामुत्सवस्तस्माद्विदधे तत्तथा नृपः ॥ ३९६ ॥ महामोहादयस्ते तु श्रुत्वा राज्यं तदोत्तमम् ।
प्रलीना वयमित्युच्चैर्मुक्तप्राणा इवाभवन् ॥ ३९७ ॥ इतः कर्म्मपरीणामात् पितुः प्राप्योत्तमेन तत् । राज्यं पृष्टः स
सिद्धान्तः स्थितिं राज्यस्य तद्यथा ॥३९८॥ कथमत्र प्रवेष्टव्यं ? हन्तव्याश्चरटाः कथम् ? । कथं चैतद्वशे कार्यं ? क
नियोज्यं च पौरुषम् ? ॥ ३९९ ॥ सिद्धान्तः प्राह राज्येऽत्रान्तरे प्रविशता त्वया । कार्यं गुरुवचो भक्त्या पाल्या
पञ्चमहाव्रती ॥ ४०० ॥ यतिवेषेण निःसङ्गेन चानियतवासिना । भाव्यं शब्दादिषु तथा रागद्वेषविवर्जिना
॥४०१॥ परात्मनि मनो न्यस्यं मान्याः समितिगुप्तयः । परीषहोपसर्गाश्च सोढव्या धीरचेतसा ॥४०२॥ ततश्चा-
भ्यासवैराग्याह्वसहायवता त्वया । निहन्तव्या यथादर्शं महामोहादयो द्विषः ॥ ४०३ ॥ पोषणीयं च चारित्रधर्म्म-
सैन्यं ततस्त्वया । राज्ये तत्र प्रवेष्टव्यं पूर्वद्वारेण सुन्दर ! ॥ ४०४ ॥ वामे तस्य च दिग्भागे महामोहादयो द्विषः ।
चारित्रधर्म्मराजाद्या विद्यन्ते दक्षिणे पुनः ॥ ४०५ ॥ सर्वाधारा पुनस्तेषां चित्तवृत्तिमहाटवी । पश्चिमे तामतिक्रम्य
भागे पुर्यस्ति निर्वृतिः ॥ ४०६ ॥ इतश्च तत्र यातस्य तव वत्स ! भविष्यति । पालितस्यास्य राज्यस्य परिपूर्णं
फलं ध्रुवम् ॥ ४०७ ॥ तस्यां च प्रेप्सुना सेव्यस्त्वयौदासीन्यनामकः । राजाध्वा समतायोगनलिकादत्तदृष्टिना
॥ ४०८ ॥ तत्रास्पृष्टे महामोहादिभिस्ते व्रजतः सतः । आदावेवाध्यवसायाभिधानोऽस्ति महाह्रदः ॥ ४०९ ॥

पुण्णाति स महामोहसैन्यं पङ्केन कश्मलः। प्रसादितस्तु चारित्रधर्म्मसैन्यं स्वभावतः ॥ ४१० ॥ ततश्च कार्ये यो यत्र कुशलस्तत्र तं सुधीः। नियुञ्जीतेति भवता तं प्रसादयितुं ह्रदम् ॥ ४११ ॥ चतस्रोऽपि महादेव्यो नियोज्यास्तत्र कर्म्मठाः। उपेक्षाकरुणामैत्रीमुदिताख्या नरोत्तम ! ॥ ४१२ ॥ युग्मम् ॥ प्रवृत्तास्ति ह्रदात्तस्माद् धारणा नामतो नदी। सा च स्थिरासनस्थेन निरुध्य श्वाससंचयम् ॥ ४१३ ॥ जितेन्द्रियेण च प्राप्या त्वया यत्नेन तत्र च। विकल्पवीचयः प्रेर्या महामोहादिनिर्मिताः ॥ ४१४ ॥ युग्मम् ॥ द्रक्ष्यसि त्वं ततो धर्म्मध्यानदण्डोलकं पुरः। स च सबीजयोगाख्ये महामार्गे पतिष्यति ॥ ४१५ ॥ तेन ते गच्छतश्चाशु महामोहादिशत्रुषु। क्षीणप्रायेषु तद्ग्रामेषूच्चैरुच्चलितेषु च ॥ ४१६ ॥ चारित्रधर्मसैन्ये च प्रबलत्वमुपेयुषि। धारयिष्यति शुक्लत्वं राज्यभूर्विरजस्तमाः ॥ ४१७ ॥ युग्मम् ॥ ततस्त्वं लप्स्यसे शुक्लध्यानदण्डोलकं पुरः। भविता केवलालोकस्तेन ते गच्छतः सतः ॥ ४१८ ॥ स च दण्डोलको गत्वाऽवश्यमेव मिलिष्यति। मार्गे बृहति निर्बीजयोगनामनि निर्मले ॥ ४१९ ॥ तत्रस्थेन समीकर्तुं भवता विषमानरीन्। केवलिसमुद्घाताख्यः प्रयत्नः कार्य एव हि ॥ ४२० ॥ हन्तव्याश्च त्रयो दुष्टवेताला योगनामकाः। ततः परं च भविता शैलेशी नाम वर्त्तनी ॥ ४२१ ॥ तया व्रजन्नवश्यं तां पुरीं प्राप्स्यसि निर्वृतिम्। ततोऽन्तरङ्गराज्यस्य फलमुत्तम ! भोक्ष्यसे ॥ ४२२ ॥ चारित्रधर्म्मराजाद्या ये तु त्वदनुजीविनः। तत्र त्वद्धयतां सर्वे तेऽपि यास्यन्त्यभेदतः ॥ ४२३ ॥ तद् गच्छ वत्स ! सिद्धिस्ते कुरु राज्यं मनोहरम्। त्वया राज्यफले प्राप्ते सफलो मे परिश्रमः

॥ ४२४ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ हृष्टः सिद्धान्तशासनम्। तथैव विदधे सर्वं तदुत्तममहीपतिः ॥ ४२५ ॥ यावज्जित्वा महामोहादिकान् दृष्टिं च तामयम्। तां पुरीं निर्वृतिं प्राप जन्मादिक्लेशवर्जिताम् ॥ ४२६ ॥ यो राज्यदाताऽऽसीत्कर्म्मपरिणामः पितास्य च। तस्यापि कृतकृत्योऽयं न ढौकं तत्र यच्छति ॥ ४२७ ॥ जज्ञेऽथ वत्सरे षष्ठे वरिष्ठो नाम भूपतिः। घोषणायां च जातायां पूर्ववच्चुक्षुभुर्जनाः ॥ ४२८ ॥ मुदं चारित्र-धर्म्माद्याः प्रापुर्जातेऽत्र राजनि। महामोहादयस्ते तु मुमूर्षव इवाभवन् ॥ ४२९ ॥ यश्चोत्तमस्य संपन्नो वृत्तान्तो राज्यसाधने। स एवापि वरिष्ठस्य विशेषस्तु निगद्यते ॥ ४३० ॥ सिद्धान्तवचनात् कृत्यं ज्ञातवानुत्तमः किल। वरिष्ठोऽयं पुनः सर्वं स्वयमेव विवेद तत् ॥ ४३१ ॥ निजज्ञानबलेनैव राज्यं पालयतस्ततः। बहिरङ्गा महात्मानो जातास्तस्य पदातयः ॥ ४३२ ॥ बहिरङ्गपदातीनां धारयन्ति यतो गणम्। ततस्ते विश्रुता लोके नाम्नेति गण-धारिणः ॥ ४३३ ॥ ततस्तेन वरिष्ठेन तैरात्मगणधारिभिः। उपकारीति विज्ञाय स सिद्धान्तो निरूपितः ॥ ४३४ ॥ राजादेशेनोपलभ्य सिद्धान्तं तेऽपि तं जवात्। अङ्गोपाङ्गादिसंस्कारान्ससज्जुः शुद्धबुद्धयः ॥ ४३५ ॥ ततोऽसौ नित्यरूपोऽपि सिद्धान्तः परमार्थतः। कारितोऽयं वरिष्ठेन ख्यातिमेवं जने ययौ ॥ ४३६ ॥ किञ्चास्य कुर्वतो राज्यं महात्मैकशिरोमणेः। चतुस्त्रिंशदतिशया बभूवुर्भुवनाद्भुताः ॥ ४३७ ॥ अम्भोजसुरभिः श्वासो वपुर्नीरोग-निर्म्मलम्। अदृश्याहारनिहारौ धवले मांसशोणिते ॥ ४३८ ॥ क्षेत्रे योजनमात्रेऽपि कोटिकोटिजनस्थितिः। सर्वभाषानुगा वाणी पृष्ठे भामण्डलं वरम् ॥ ४३९ ॥ सपादे योजनशते न रुग् न स्वान्यचक्रभीः। न वैरमारि-

दुर्भिक्षातिवर्षात्रर्षणेतयः ॥ ४४० ॥ चामराः सिंहपीठं च छत्रत्रितयमुज्ज्वलम् । रत्नध्वजो धर्म्मचक्रं वप्रत्रितय-मुत्तमैः ॥ ४४१ ॥ संचारिनवपद्मानि कंकेल्लिश्चतुरङ्गता । अनुकूलोऽनिलो वृक्षानतिर्दुन्दुभिनिस्वनः ॥ ४४२ ॥ पुष्पवृष्टिः सुगन्धाम्बुवृष्टिर्न्यङ्मुखकण्टकाः । कचश्मश्रुनखावृद्धिः शकुनाश्च प्रदक्षिणाः ॥ ४४३ ॥ जघन्यतोऽपि देवानां कोटिर्निकटवर्त्तिनी । ऋतूनामिन्द्रियार्थानामानुकूल्यममी च ते ॥ ४४४ ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥ एतैश्चा-तिशयैर्युक्तो विश्वविश्वैकवत्सलः । प्रदिशन्नपरेभ्योऽपि तं निर्वृतिपथं निजम् ॥४४५॥ स्वा(सा°)त्मीभावपरिणता-त्मीयान्तरमहाबलः । वरिष्ठः स नृपश्रेष्ठश्चिरं राज्यमपालयत् ॥ ४४६ ॥ युग्मम् ॥ सर्वानपि महामोहादीन्निहत्याथ वैरिणः । तेनैव वर्त्मना प्राप निर्वृतौ स महीपतिः ॥ ४४७ ॥ तदेवं भवदादेशात्तेषां षण्णामपि प्रभो ! । राज्यानि प्रविलोक्याहमायातस्तव सन्निधौ ॥ ४४८ ॥ अप्रबुद्धो वितर्कस्य श्रुत्वा तदेथ भाषितम् । अचिन्तयदहो ! सर्वं तथैव तदभून्ननु ॥ ४४९ ॥ किलैकमपि तद्राज्यं कारणं सुखदुःखयोः । भवेत्पालनमाश्रित्येत्याचख्यौ यद् गुरु र्मम ॥ ४५० ॥ यतो निकृष्टमुख्यानां तेषां षण्णां महीभुजाम् । भिन्नं फलमभूद्राज्यं त्राणात्राणविभेदतः ॥ ४५१ ॥ एतद्वार्षिकराज्यानां षट्कं कलयता मया । सर्वमेव च विज्ञातं यतः प्रोक्तं मनीषिभिः ॥ ४५२ ॥ येन संवत्सरो दृष्टः सकृत्कामश्च सेवितः । तेन सर्वमिदं दृष्टं पुनरावर्त्तकं जगत् ॥ ४५३ ॥ तत्सिद्धान्तप्रसादेन विज्ञाय सुखदुःखयोः । हेतुं जातः प्रबुद्धोऽहं विनष्टैवाप्रबुद्धता ॥ ४५४ ॥ एवं च परितुष्टा-

१ कङ्किल्लि° ता० क० ख० घ० । २ स्वामी° ग० । ३ °हान् निहत्याथ स्ववैरिणः ख० । ४ °नष्टा चाप्र° ख०, °नष्टेवा° ग० ।

त्मा स प्रबुद्धो महामनाः । तद्राज्यषट्कं निश्चित्य ज्ञानाज्ञातो निरातुरः ॥ ४५५ ॥ दृष्टिकथानकम् ॥
प्रसङ्गात्सर्वमेतच्च तुभ्यं हरिनरेश्वर ! । निवेदितं मया योऽर्थः प्रस्तुतः स निशम्यताम् ॥ ४५६ ॥ तस्या-
घमस्य भूभर्तुर्महामोहादिशत्रवः । सा च दृष्टिर्विशेषेण यथा दोषाय जज्ञिरे ॥ ४५७ ॥ तथान्येऽप्यान्तरा
लोका दुष्टा दोषाय निश्चितम् । अज्ञानध्वान्तलीढानां जायन्ते भवचारिणाम् ॥ ४५८ ॥ ततः सोऽपि
वराको यत् क्लिश्यते धनशेखरः । ताभ्यामान्तरमित्राभ्यां पापाभ्यां तन्न कौतुकम् ॥ ४५९ ॥ हरिराहोदिताः
कर्म्मपरिणामस्य ये सुताः । षडमी तेषु पातेषु परतः किमभूत्प्रभो ! ॥ ४६० ॥ किं षडेव हि जातानि
तानि राज्यानि नापरम् ? । किं वा भवन्ति तादृंशि राज्यान्यत्र पुनः पुनः ? ॥ ४६१ ॥ सूरिराह महाराज !
य एते भुवनोदरे । विद्यन्ते देहिनः केचिन्नानाकाराश्चराचराः । ॥ ४६२ ॥ ते कर्म्मपरिणामस्य नरेन्द्रस्याखिला
अपि । विज्ञेयाः षड्विधाकारास्तनयाः परमार्थतः ॥ ४६३ ॥ ततस्तेषु गतेष्वेवं तद्राज्यमपरे सुताः । तादृशा
एव भुञ्जन्ति तेन दत्तं पुनः पुनः ॥ ४६४ ॥ यद्वा तिष्ठन्तु दूरेऽन्ये तनयास्तस्य तत्सुतम् । मामेवोत्तममुर्वीश !
विद्धि स्वं तु विमध्यमम् ॥ ४६५ ॥ यतः स्वरूपमाख्यायि यत् त्वदग्रे तयोर्मया । दृश्यते मयि तद् व्यक्तमशेषं
त्वयि च क्रमात् ॥ ४६६ ॥ हरिः प्रोचेऽथ यद्येवं कृतं वैमध्यमेन मे । राज्येन दाप्यतां मह्यमप्येतद्राज्यमौत्तमम्

१ °तस्तत्रिश° ख० । २ ततः सोऽपि हि सजातः सर्वतो धनशेखरः । पीडितस्ताभ्यामान्तरमित्राभ्यां तन्न कौतुकम् ॥ ख०
३ °न्येवं पुनः ग० । ४ त्वां च वि° ख० । ५ °ख्यातं यत् ख० । ६ तयोर्नृपयोर्मया क० ख०, त्वदग्रेऽनयोर्मया ग० ।

॥ ४६७ ॥ अभ्यधान्मुनिराजोऽथ साधु साधूदितं नृप ! । विज्ञातपरमार्थानां युक्तमेतद्भवादृशाम् ॥ ४६८ ॥ किन्तु भागवतीं दीक्षां विना नैतदवाप्यते । ततस्ते तत्र यद्यस्ति वाञ्छा तद्गृह्यतामियम् ॥ ४६९ ॥ ततो हरिनृपोऽवोचदेतावन्मात्रतो यदि । तदाप्यते महाराज्यं ततः कस्माद्विलम्ब्यते ? ॥ ४७० ॥ इत्युक्त्वा स गृहे गत्वा पौरामात्यादिसंमतम् । स्वराज्ये स्थापयामास सुतं शार्दूलनामकम् ॥ ४७१ ॥ कृत्वान्यदपि कर्त्तव्यं गत्वाऽन्ते स गुरोस्ततः । दीक्षां मयूरमञ्जर्या प्रधानैश्च सहाऽऽददे ॥ ४७२ ॥ विहरन्गुरुणा सार्द्धमथ तद्राज्य-मौत्तमम् । स चिरं पालयामास क्रमाच्च प्राप निर्वृतिम् ॥ ४७३ ॥ इतो बहुषु देशेषु सागरो मैथुनः स च । धन-स्त्रीलोलुभं सुभ्रु ! भ्रमयामास मां चिरम् ॥४७४॥ अन्येद्युश्च महारण्ये पतितोऽहं श्रमाकुलः । उपाविक्षं कुरङ्गाक्षि ! बिल्वपादपसन्निधौ ॥ ४७५ ॥ तच्छाखानिर्गतं दृष्ट्वा प्रारोहं भूमिगामिनम् । नूनं निधानमत्रास्तीत्यतर्क्यत मया ततः ॥४७६॥ खातेऽथ सागरादेशान्मया तत्र महीतले । रत्नपूर्णो महानेकः कुम्भो रम्भोरु ! निर्ययौ ॥४७७॥ तमाददामि यावच्च तावद्भीषणरूपभृत् । प्रादुर्बभूव वेतालः कालस्येवानुजः क्षणात् ॥४७८॥ क्रकचाभस्फुरद्दंष्ट्रे क्षिप्त्वा वदनकोटरे । कटत्कटि('टे')ति कुर्वाणः पाटयामास सोऽथ माम् ॥ ४७९ ॥ अत्रान्तरे च जीर्णायां पूर्वस्यां भवितव्यता । ममान्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ ४८० ॥ तस्यां पापिष्ठवासायां पुर्यां सप्तमपाटके । गतोऽ-थानुबभूवाहं महादुःखानि भूरिशः ॥ ४८१ ॥ ततोऽपि सर्वस्थानेषु भ्राम्यता मयका मुहुः । दुःखं नास्त्येव तद्विश्वे यत्तदा नान्वभूयत ॥ ४८२ ॥ प्रादुष्कृत्य तमन्येद्युर्मित्रं पुण्योदयं पुनः । किञ्चिद्विहितसत्कर्म्मा प्रोचेऽहं भार्यया

तया ॥ ४८३ ॥ साह्लादाख्ये पुरे वाह्येऽधुना गम्यं त्वया प्रिय ! । अयं तु पूर्ववद्भावी सुहृत् पुण्योदयस्तव ॥४८४॥ स्वीकृत्याथ तदादेशं दत्तान्यगुटिकस्तया । पुण्योदयसमेतोऽहं प्रतस्थे तत्पुरं प्रति ॥ ४८५ ॥ इत्यवेत्य हरिशेखरसूनोर्दुर्विपाकमधमस्य च वृत्तम् । लोभमैथुनविलोक(°च°)नलौल्यं मुञ्चतेच्छत सुखं यदि भव्याः ! ॥ ४८६ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे लोभमैथुनचक्षुरिन्द्रियविपाकवर्ण्णनो नाम षष्ठः प्रस्तावः समाप्तः ।

सप्तमः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतौ महीमण्डलमण्डनम् । जनताजनिताह्लादं साह्लादं नाम तत्पुरम् ॥ १ ॥ दोषस्तत्रैक एवायं चोरयन्ति यदुद्भटाः । यूनां हृदयसाराणि युवतीजनतस्कराः ॥ २ ॥ तत्राभूद्भूपतिः शूरराजतेजःकृतक्षतिः । अर्थिचातकजीवातुर्जीमूत इति विश्रुतः ॥ ३ ॥ सिक्ता विवेकनीरेण यस्य नीतिलताद्भुता । यशःप्रसूनं सुषुवे वासिताशेषदिङ्मुखम् ॥ ४ ॥ शुद्धपक्षद्वया तस्य लीलागमनशालिनी । हंसीव राजहंसस्य जज्ञे लीलाभिधा प्रिया ॥ ५ ॥ गुटिकायाः प्रयोगेण साथ मां भवितव्यता । तस्याः कुक्षौ प्रचिक्षेप क्षणादेव मृगेक्षणे ! ॥ ६[२]॥ संपूर्णे

१ °वः क० ख० । २ °क्षितिः क० ख० ग० घ० ।

समये सापि मां पुण्योदयसंयुतम् । नन्दनं जनयामास मलयोर्वीव चन्दनम् ॥ ७ ॥ जन्मोत्सवं विधायाथ पितरौ हृष्टमानसौ । घनवाहन इत्याख्यां चक्रतुः समये मम ॥ ८ ॥ इतोऽस्ति मत्पितुर्भ्राता कनिष्ठो नीरदाभिधः । देवी पद्माभिधा तस्याकलङ्काख्यस्तयोः सुतः ॥ ९ ॥ ततोऽहममुना सार्द्धमधीत्य सकलाः कलाः । क्रमादवाप तारुण्यमपूर्तं मूर्त्तिभूषणम् ॥ १० ॥ स चाकलङ्कः संजज्ञे बाल्यादप्यमलाशयः । सुसाधुदेशनाश्रुत्या कुशलो जिनशासने ॥ ११ ॥ अथ क्रीडितुमन्येद्युरुद्याने बुधनन्दने । गतावावामपश्याव: सुन्दरं जिनमन्दिरम् ॥ १२ ॥ नत्वा तत्राथ तीर्थेशं यावदावां विनिर्गतौ । साधवः सुन्दराकाराः केचित्तावदुपाययुः ॥ १३ ॥ ते च तत्राष्टमीं मत्वा नत्वा जिनमुपोषिताः । सिद्धान्तं गुणयन्ति स्म बहिर्भूत्वा पृथक् पृथक् ॥ १४ ॥ तद्दर्शनसमुद्भूतहर्षोत्कर्षो मया सह । अकलङ्को जगामाथ साधोरेकस्य सन्निधौ ॥ १५ ॥ नत्वोपविश्य तेनाथ पृष्टो वैराग्यकारणम् । स साधुरभ्यधादेवं महाशय ! निशम्यताम् ॥ १६ ॥ ग्रामे लोकोदरे तावद् वास्तव्योऽहं कुटुम्बिकः । लग्नं प्रदीपनं विष्वग् रात्रौ तत्र च भैरवम् ॥ १७ ॥ धूमज्वालाकलापाढ्यं वंशस्फोटरवाकुलम् । लोककोलाहलाकीर्णं तच्च वातेन वर्द्धते ॥ १८ ॥ रुदन्त्यर्भाः स्त्रियो धावन्त्यारटन्त्यन्धपङ्गवः । पिङ्गाः किलकिलायन्ते[1] मुष्णन्ति च मलिम्लुचाः ॥ १९ ॥ सर्वस्वानि च दह्यन्ते शोचन्ति कृपणास्तथा । अभूदमातापुत्रीयमित्युच्चैस्तत्प्रदीपनम् ॥ २० ॥ युग्मम् ॥ विबुद्धः कोऽपि गोचन्द्रे ग्राममध्यस्थिते ततः । कृत्वा[2]त्मकवचं मन्त्रवादी मण्डलमालिखत्

१ °लिकि° ता० । २ कृतात्म° क० ख० ग० ।

॥ २१ ॥ तेनाहूतास्ततः केचिदल्पास्तत्रायय्युर्जनाः । प्रदीपनकनिष्काशाज्ञाताश्च सुखभाजिनः ॥ २२ ॥ ग्रहग्रस्ता इवान्ये तु मूढास्तत्र प्रदीपने । क्षिपन्ति तत्प्रशान्त्यर्थं तृणकाष्ठघृतादिकम् ॥ २३ ॥ मण्डलस्थैर्जनैस्तैश्च वारिता बहुधापि ते । न तिष्ठन्त्युपहासादि तेषां प्रत्युत कुर्वते ॥ २४ ॥ विदधत्यपि तद्वाक्यं पुण्यभाजस्तु केचन । भवितव्यतया भातं वचस्तेषां ममाप्यथ ॥ २५ ॥ उत्प्लुत्य मण्डले तत्र गतेनाथ मयेक्षिताः । रटन्तो दह्यमानास्ते ग्राम्यलोकाः समन्ततः ॥ २६ ॥ मण्डलस्था जनास्ते तु कियन्तो व्रतिनस्ततः । तेषु व्रत्यहमप्येतत्[1] तन्मे वैराग्यकारणम् ॥ २७ ॥ तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽथ द्वितीयमुनिसंमुखम् । प्रस्थितः स मया भद्रे ! जगदे नीरदात्मजः ॥ २८ ॥ किं साधुनाऽमुनाऽऽख्यातं भ्रातर्वैराग्यकारणम् ? । मुदितस्त्वमभूरेवं यच्छ्रुत्वा सोऽप्यथावदत् ॥ २९ ॥ भ्रातर्लोकोदरो ग्रामो निवासस्थानमात्मनः । मुनिना यः समाख्यातः स संसारः प्रतीयताम् ॥ ३० ॥ रागद्वेषाग्निना तत्र मोहरात्रौ प्रदीपनम् । धूमोऽत्र तामसो भावो ज्वालाटोपस्तु राजसः ॥ ३१ ॥ कलिर्वंशभिदारावो लोककोलाहलैसदृक्[2] । अशुद्धाध्यवसायश्च पवनः प्रेरको मतः ॥३२॥ कषायाः शिशवो ज्ञेया दुष्टलेश्याश्च योषितः । अन्धा मूर्खा जनाः प्रोक्ताः क्रियाहीनास्तु पङ्गवः ॥३३॥ पिङ्गास्तु नास्तिकाः ख्याता इन्द्रियाणि च तस्कराः । तथात्मगेहसाराणि सर्वस्वानि मतान्यहो ! ॥ ३४ ॥ हीनसत्त्वास्तु कृपणास्तातोऽत्र च परस्परम् । न कोऽप्यस्तीदमाख्यातममातापुत्रकं ततः ॥ ३५ ॥ मन्त्रवाद्यत्र बोद्धव्यः स्वयम्बुद्धो जिनेश्वरः ।

१ °तन्मम वै° ख० । २ °लः स° ता० क० ग० घ० ।

तीर्थमण्डलकन्मध्यलोके गोचन्द्रकोपमे ॥ ३६ ॥ कृतात्मकवचेनैव सूत्रमन्त्रस्य रेखया । आह्वानं जीवलोकानां धर्म्मदेशनया कृतम् ॥ ३७ ॥ ततस्तत्राऽऽययुः केऽपि भव्या जाताश्च निर्वृताः । स्तोकास्ते किन्तु यद्भागेऽनन्ते ते भवचारिणाम् ॥ ३८ ॥ कषायान् विषयांश्चैव विपर्यस्तधियोऽपरे । घृतकुम्भेन्धनप्रख्यांस्तच्छमाय प्रयुञ्जते ॥ ३९ ॥ विदधत्युपहासादि तीर्थस्थैर्वारिताश्च ते । केचिदेव वचस्तेषां कुर्वन्त्येष मुनिर्यथा ॥ ४० ॥ तीर्थेऽत्र च प्रविष्टेनामुना संसारचारिणः । दह्यमाना जना दृष्टा रागद्वेषप्रदीपने ॥४१॥ श्रावकश्राविकासाधुसाध्वीभेदाच्चतुर्विधाः । तीर्थस्थास्ते च तन्मध्ये प्रव्रज्यैषोऽप्यभूद् व्रती ॥ ४२ ॥ ततः प्रदीपनमिदं स्वस्य वैराग्यकारणम् । मुनिनाऽऽख्यायि तच्चाहं बुबुधे मुदितस्ततः ॥ ४३ ॥ प्रदीपनकमेतच्च सर्वसाधारणं मतम् । आवयोरपि तद्भ्रातः ! स्थातुं नैवात्र युज्यते ॥ ४४ ॥ मयि तूर्णींस्थिते पापे ! सोऽथ नीरदनन्दनः । गत्वा द्वितीयमप्राक्षीन्मुनिं वैराग्यकारणम् ॥४५॥ शशंसाथ मुनिर्लोकाकाशभूमिप्रतिष्ठितम् । अस्त्यापानकमस्तोकमत्तबालकसंकुलम् ॥ ४६ ॥ भूरिमद्यासवसुरासरकापूर्णभाजनम् । नीलनीरजसंच्छन्ननानाचषकसङ्कुलम् ॥ ४७ ॥ मृदङ्गकंसीकंसालवंशवीणारवाकुलम्[1] । विलासहासनृत्ताद्यैर्भावैर्बहुविधैर्युतम् ॥ ४८ ॥ विशेषकम् ॥ जनास्तत्र च ते मद्यपायिनो मदघूर्णिताः । दशामनुभवन्त्युच्चैः शोचनीयां सचेतसाम् ॥ ४९ ॥ यतोऽत्र मद्यपाः सर्वक्रियाशून्या मृता इव । एकेऽव्यवहारिवनस्पतिवत् सन्त्यनन्तकाः ॥ ५० ॥ अपरे संव्यवहारिवनस्पतिनिभाः पुनः । अनन्ता एव विद्यन्ते व्यवहारजुषो

१ °हारव° क० ख० ग० ।

मनाक् ॥५१॥ अन्ये पुनरसंख्याताः पृथ्व्यम्बुशिखिवायुवत् । विद्यन्ते तादृशा एव मद्यपा मदविह्वलाः ॥५२॥ द्विहृषीका इवासंख्या आरटन्तः परे पुनः । न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति नापि शृण्वन्ति किञ्चन ॥ ५३ ॥ अन्ये तु मद्यदोषेणासंख्यास्त्रिकरणा इव । जिघ्रन्ति किञ्चिन्न पुनः पश्यन्त्याकर्णयन्ति वा ॥ ५४ ॥ चतुरक्षा इवासंख्याः शृण्वन्त्यपि न चापरे । एके त्वसंज्ञिपञ्चाक्षवदसंख्या अमानसाः ॥५५॥ असंख्याश्चापरे स्पष्टचेतना नारका इव । छेदभेदादिभिर्बाढं क्लिश्यन्ते मदविह्वलाः ॥ ५६ ॥ एके पुनरसंख्येयाः पञ्चाक्षपशुसन्निभाः । कृत्याकृत्यमजानन्तो भजन्ति जननीमपि ॥ ५७ ॥ लोलन्ति भूतले केचित्केचिदुत्प्लुत्य यान्ति खे । केचिज्जले निमज्जन्ति नानादुःख-समाकुलाः ॥५८॥ लुठन्तो भूतलेऽन्ये[1] च संमूर्च्छनजमर्त्यवत् । वान्तं पित्तं शकृन्मूत्रमसंख्या भक्षयन्त्यलम् ॥५९॥ स्तेयाब्रह्ममृषाहिंसाद्यासक्ता मरणादिकम्[3] । संख्येयाश्चाप्नुवन्त्युच्चैर्दुःखं गर्भजमर्त्यवत् ॥ ६० ॥ असंख्याः पुनरन्ये च चतुर्वृन्दव्यवस्थिताः । सन्ति लोका मदाध्माताश्चतुर्विधसुरा इव ॥ ६१ ॥ विषयैः सुखितंमन्यास्ते च यद्यपि पञ्चभिः । तथापि दुःखिता एव शोकेर्ष्याभिभवादिभिः ॥ ६२ ॥ संख्याताश्चापरे लोकाः सन्ति संयतसन्निभाः । ये नो पिबन्ति तन्मद्यं मध्यस्थाः परमासते ॥ ६३ ॥ ततस्ते तेन लोकेन सततं मद्यपायिना । अपिबन्तोऽभिधी-यन्ते ब्राह्मणा इत्यसूयया ॥ ६४ ॥ तस्मादापानकादन्ये बहिर्भूता मदोज्झिताः । लोका मुक्ता इवानन्ता विद्य-न्तेऽनन्तसम्पदः ॥ ६५ ॥ इतश्चाद्येषु लोकेषु स्थित्वाहं मदघूर्णितः । लुठन्नितस्ततः प्राप्तो द्वितीयेषु कदाचन

---

१ °टन्त्यपरे ख० । २ °द्यवि° क० ख० ग० । ३ मार° ता० ।

॥ ६६ ॥ एवं च ये मया भद्र ! कथितास्ते त्रयोदश । लोकभेदाः समासेन स्वरूपेण च वर्णिताः ॥ ६७ ॥ तेषां प्रथममन्त्यौ च मुक्त्वान्येषु दशस्वपि । अनन्तवाराः पापोऽहमटितो मदविह्वलः ॥ ६८ ॥ युग्मम् ॥ अन्येद्युरतिबीभत्से तस्मिन्नापानके भ्रमन् । बाधितो विविधैर्दुःखैर्दृष्टस्तैर्ब्राह्मणैरहम् ॥ ६९ ॥ ततस्तैर्जातकारुण्यैश्चिन्तितं यदसाविह । वराकोऽनुभवत्युच्चैरसुखं मद्यदोषतः ॥ ७० ॥ तदेनं मद्यविरतिं कारयामः कथञ्चन । सुखभाजनमस्मद्वद् येनायमपि जायते ॥ ७१ ॥ ध्यात्वेति तैस्तथा यत्नो विदधे मत्प्रबोधने । यथा मद्यस्य विरतिं कारितोऽहं शनैः शनैः ॥ ७२ ॥ जातोऽहमपि तादृक्षो ब्राह्मणो ब्राह्मणाश्च ते । सर्वे प्रव्रजितास्तत्तन्मध्येऽहमपि तादृशः ॥ ७३ ॥ किन्तु जीर्यति नाद्यापि मद्याजीर्णं ममाखिलम् । जरयिष्यामि तदपीदं मे वैराग्यकारणम् ॥ ७४ ॥ तच्छ्रुत्वा किमनेनोक्तं विमृशन्निति नैरदिः । जातजातिस्मृतिः पूर्वभवात्तं श्रुतमस्मरत् ॥ ७५ ॥ ततो विज्ञातसाधूक्तभावार्थो मुदिताशयः । तं नत्वा स तृतीयस्य मुनेरभिमुखं ययौ ॥ ७६ ॥ मया च पूर्ववत्पृष्टोऽकलङ्कः प्रत्यभाषत । प्रोक्तः संसार एवायमनेनापानकच्छलात् ॥ ७७ ॥ अस्मिंश्च गदिता जीवा अनन्ता मत्तवालकाः । ज्ञेयं मद्यं तु कर्माणि कषायाः पुनरासवाः ॥ ७८ ॥ सुरा च घातिकर्माणि सरका नोकषायकाः । तदाधारतयायूंषि भाजनानि मतानि तु ॥ ७९ ॥ चषकाः कर्ममद्योपभोगाङ्गत्वेन देहिनाम् । देहाः प्रोक्ता हृषीकाणि पुनस्तद्रूपणत्वतः ॥ ८० ॥ लौल्यहेतुतया चात्र नीलोत्पलनिभानि च । मर्दलाः कलहा दैन्यरुदितानि च कंसिकाः ॥ ८१ ॥ खला झगझगायन्तः कांस्यतालनिभा मताः । वीणारवाः सदुःखानां परिदेवन-

कानि च ॥ ८२ ॥ वंशस्वनाः सशोकानां लोकानां कूजितानि तु । विलासहासनृत्ताद्या भावा ज्ञेयास्तथैव ते ॥ ८३ ॥ त्रयोदशभिदा ये च लोकास्तत्र प्ररूपिताः । ते दृष्टान्तमिषादेव सूचिता देहिनो मताः ॥ ८४ ॥ आख्यायि लेशतस्तेषां स्वरूपं च तथात्मनः । मत्तबालकता कर्म्ममद्यपानात् तदन्तरे ॥ ८५ ॥ अव्यवहारिजीवेषु पूर्वं स्वस्य न्यवेद्यत । अवस्थानं ततस्तेभ्योऽनन्तकालाच्च निर्गमः ॥ ८६ ॥ अव्यवहारिकयतिसिद्धवर्जं दशस्वपि । स्थानेषु भूयो भूयोऽपि भ्रमणं कथितं ततः ॥ ८७ ॥ संसारापानके भ्राम्यंस्तीव्रदुःखार्दितस्ततः । दृष्टोऽयमपरेद्युस्तैः संयतैर्ब्राह्मणोपमैः ॥ ८८ ॥ तैश्च संजातकारुण्यैर्बोधितोऽयं शनैः शनैः । प्रव्रज्य कर्म्मरूपस्य मद्यस्य विरतिं व्यधात् ॥ ८९ ॥ प्रव्रज्यया च तत्कर्म्ममद्याजीर्णमयं मुनिः । जरयित्वा भवापानाद् बहिर्भूतो भविष्यति ॥ ९० ॥ तदिदं स्वस्य वैराग्यकारणं मुनिनामुना । प्रोक्तमेतच्च सर्वेषां सामान्यं घनवाहन ! ॥ ९१ ॥ संसारापानके स्थातुं तदीदृश्यावयोरपि । न युक्तमथ तच्छ्रुत्वा पापोऽहं मौनमाश्रयम् ॥ ९२ ॥ अथ पृष्टोऽकलङ्केन तृतीयमुनिराख्यत । वैराग्यकारणं स्वस्यारघट्टं भवनामकम् ॥ ९३ ॥ तथाहि नित्यवाह्येष तत्र सारथयो मताः । चत्वारः कर्षका रागद्वेषमिथ्यात्वमन्मथाः ॥९४॥ महामोहः सीरपतिः कषायाख्याश्च षोडश । विनापि चारिपानीयं वेगवन्तो वृषाः स्मृताः ॥ ९५ ॥ हास्यादयः कर्म्मकरा रत्याद्याः कर्मकारिकाः । दुष्टयोगप्रमादाख्यं तत्र तुम्बद्वयं महत् ॥ ९६ ॥ विलासोल्लासविव्वोकरूपास्तत्रारकाः स्मृताः । कूपः पापाविरत्यम्बुपूर्णो जीवस्त्वसंयतः ॥ ९७ ॥ पापाविरतितोयौघमग्नपूरितरेचितम् । जीवलोको घटीयन्त्रं स्फुरन्मरणखात्कृतिः ॥ ९८ ॥ अज्ञानमलिनात्माख्यो

ज्ञेयस्तत्र प्रतीच्छकः । दृढं मिथ्याभिमानाख्यं तत्र दार्विटकं मतम् ॥ ९९ ॥ संक्लिष्टचित्तता निर्वहणी कुल्या तु लोलता । क्षेत्रं जन्मततिर्वप्राः परापरजनूंपि तु ॥ १०० ॥ कर्माणि बीजं तज्जीवपरिणामस्तु वापकः । असद्बोधाभिधः पानान्तिकः सिञ्चति तत्सदा॥१०१॥ ततस्तेनारघट्टेनोप्तं सिक्तं सिद्धिमागतम् । सुखदुःखादिशस्यौघजनकं तदुदाहृतम्॥१०२॥ भवारघट्टे तत्राहं प्रसुप्तः सुचिरं स्थितः । ततः प्रबोधितोऽनेन गुरुणा करुणावता ॥१०३॥ तदादेशादहं दीक्षां जगृहे पारमेश्वरीम् । भवारघट्टत्यागायैतन्मे वैराग्यकारणम् ॥१०४॥ ततोऽकलङ्कस्तच्छ्रुत्वा वन्दित्वा तं मुनिं मुदा । प्रशस्य च मया सार्द्धं तुर्यसाधुं समासदत् ॥ १०५ ॥ ततस्तमपि मद्बोधकृते वैराग्यकारणम् । अपृच्छदकलङ्कोऽथ स चट्टमठमाख्यत ॥ १०६ ॥ तथाहि चट्टैस्तिष्ठद्भिर्नानारूपैः क्वचिन्मठे । कुटुम्बमेकं संप्राप्तं मुख्यमानुपपञ्चकम् ॥ १०७ ॥ हितबुद्ध्या प्रतिपेदे तच्च वैर्यपि तैर्जडैः । अन्येद्युर्भोजनं तेन चित्रं छात्रकृते कृतम् ॥ १०८ ॥ संस्कृत्य मन्त्रयोगैस्तत्तेभ्यो दत्तं ततो महान् । सन्निपातस्तथोन्मादस्तेषामत्यशनादभूत् ॥ १०९ ॥ तद्वशेन च ते चट्टाः केचिद्विगतचेतनाः । भूतग्रस्ता इवाभूवन्नन्ये चासत्प्रलापिनः ॥ ११० ॥ अन्नदोपादहमपि तन्मध्ये तद्विधोऽभवम् । दृष्टो महात्मनानेन चायुर्वेदविदान्यदा ॥ १११ ॥ अपाकृत्य ततः सन्निपातोन्मादौ स्वभेपजैः । अनुकम्पावतानेन कृतोऽहं स्पष्टचेतनः ॥ ११२ ॥ गुरोरस्योपदेशेन भद्र ! सांप्रतमप्यमूम् । प्रव्रज्यामाचरन्नस्मि भोजनाजीर्णशोधिनीम् ॥ ११३ ॥ यां यां चोपदिशत्येप क्रियां मे मुनिपुङ्गवः । तां तामहं करोम्येतन्मम वैराग्यकारणम् ॥ ११४ ॥ ततोऽकलङ्कस्तच्छ्रुत्वा व्रजन्नन्यमुनिं प्रति । मया प्रोक्तोऽस्य भावार्थं

कथयेत्यथ सोऽवदत् ॥ ११५ ॥ अनेनापि मुनीन्द्रेण संसारो घनवाहन ! । हट्टश्चट्टमठाकारः स चेत्थं मे निवेदितः ॥ ११६ ॥ परस्परमसम्बद्धास्तत्र चट्टाश्च जन्तवः । रागादिककुटुम्बं च तैरिदं वैर्यपि स्फुटम् ॥ ११७ ॥ प्रमादो योगमिथ्यात्वे कषायाविरती तथा । अमीभिः पञ्चभिर्मुख्यैर्मानुषैर्युक्तमाहतम् ॥ ११८ ॥ युग्मम् ॥ तत्प्रदत्तं च कर्मान्नभोज्यमश्नन्ति सर्वदा । ते महामोहमन्त्राद्यं ज्ञानावरणयौगिकम् ॥ ११९ ॥ ततश्चात्यशनोद्भूत-गाढाजीर्णवशादमी । गृह्यन्ते सन्निपातेन मिथ्यात्वाज्ञानरूपिणा ॥ १२० ॥ अतत्त्वाभिनिवेशाख्योन्मा-देन च ततोऽङ्गिनः । धर्माधर्मौ न जानन्ति जानन्ति व्यत्ययेन वा ॥ ॥ १२१ ॥ तन्मध्ये साधुरेषोऽपि तथा-रूपो विलोकितः । गुरुणा वैद्यकल्पेनानल्पानुक्रोशशालिना ॥ १२२ ॥ सिद्धान्तवैद्यशास्त्रोक्तविविधार्हद्वचोऽगदैः । अज्ञानसन्निपातोऽयमस्य दूरीकृतस्तदा ॥ १२३ ॥ अतत्त्वाभिनिवेशाख्य उन्मादश्चापि नाशितः । तद्दीक्षा-क्रियया कर्माजीर्णं च जरयत्ययम् ॥ १२४ ॥ आवयोरपि तद्दीक्षाविधानाद् घनवाहन ! । विधातुमधुना युक्तं कर्मान्नाजीर्णशोधनम् ॥ १२५ ॥ मयि तूर्ष्णींस्थिते पापेऽकलङ्केनाथ पञ्चमः । गत्वा नत्वा मुनिः पृष्टः किं ते वैराग्यकारणम् ? ॥ १२६ ॥ मुनिः प्राह ममाख्यातं गुरुणैकं कथानकम् । तदेव मम संजातं भद्र ! वैराग्य-कारणम् ॥१२७॥ तथाहि वसन्तपुरे चत्वारः सुहृदः पराः । चारुर्योग्यो हितज्ञश्च मूढ इत्याह्वयाभवन् ॥ १२८ ॥ पारावारमपारं तेऽन्यदा प्रोल्लङ्घ्य दुस्तरम् । रत्नानामर्जनकृते रत्नद्वीपमुपाययुः ॥ १२९ ॥ तत्रानेकविधोपायैर-

प्रमत्तेन चारुणा। अर्जितैर्भूरिभी रत्नैर्वोहित्थं पूरितं निजम् ॥१३०॥ योग्यः पुनः काननादिकौतुकी सोऽन्तरान्तरा। संगृह्णन् भूरिकालेन स्तोकरत्नान्यमेलयत् ॥ १३१ ॥ हितज्ञस्तु स्वयं रत्नपरीक्षायामदक्षधीः। अन्यस्य कथिते धत्ते स्वचित्ते प्रत्ययं पुनः ॥ १३२ ॥ ततो रत्नधिया तेन काचशङ्खनकादयः। अगृह्यन्त धूर्त्तलोकवञ्चितेनर्जुभावतः ॥ १३३ ॥ अजस्रं ह्रियते सोऽपि काननादिकुतूहलैः। न वेत्ति यदयं याति दिनैः सार्थो निरर्थकः ॥ १३४ ॥ लाति रत्नधिया मूढः पुनः कानादि धूर्त्ततः। ह्रियते कौतुकैश्चोपदेशं न बहु मन्यते ॥ १३५ ॥ मन्मित्रैः किं कृतमितिधिया चारुरथाऽऽययौ। योग्यस्यान्ते रत्नभृतवोहित्थो गन्तुमुद्यतः ॥ १३६ ॥ कथितश्च समस्तोऽपि स्वाभिप्रायोऽस्य चारुणा। पृष्टश्चायं कियन्ति त्वं मित्र! रत्नान्यमीलयः? ॥ १३७ ॥ प्रदर्शितेषु योग्येन निजरत्नेषु तेष्वथ। चारुः प्रोवाच किमिति स्तोकान्येवार्जयद्भवान्? ॥ १३८ ॥ ततो योग्येन कथितं मर्वमात्मीयचेष्टितम्। परिदूनमनास्तच्च श्रुत्वा चारुरभाषत ॥ १३९ ॥ रत्नद्वीपागतस्यापि वृथा गमयतो दिनान्। स्वार्थभ्रंशो न युक्तस्ते कौतुकैः काननादिभिः ॥ १४० ॥ एवं च शिक्षया चारोर्योग्यो मनसि लज्जितः। तमुवाच दिनानि त्वं कत्यपि प्रतिपालय ॥ १४१ ॥ चारुणा प्रतिपन्नेऽथ कौतुकानि विमुच्य सः। योग्यः सर्वप्रयत्नेन रत्नानामर्जनेऽलगत् ॥ १४२ ॥ अथ पृष्टो हितज्ञोऽपि चारुणा मित्र! किं त्वया। रत्नद्वीपममुं प्राप्य मीलितं मम

---

१ ॰वोंचिस्थं ता० क०, ॰र्वोधिस्थं ग० घ०। २ ॰नसार्थो ता० क० ख० घ०। ३ ॰वोचिस्थो ता० क०, ॰वोधिस्थो ग० घ०। ४ प्रत्यपालयः क० घ०, प्रत्यपालय ग०।

दर्शय ॥ १४३ ॥ तेनाथ दर्शितं काचशुक्तिशङ्खनकादिकम् । कथितं च स्वचरितं काननादिविहारवत् ॥ १४४ ॥ चारुणोक्तं त्वया भद्र ! काननादिषु कौतुकम् । न कर्त्तव्यं ध्रुवं धूर्त्तैरसि त्वं विप्रतारितः ॥ १४५ ॥ अमूदृशानि रत्नानि वयस्य ! न भवन्ति यत् । रत्नानां लक्षणं ह्येतदेतच्च ननु बुध्यताम् ॥ १४६ ॥ ततः परीक्ष्य रत्नानि स्वीकार्याण्यथ तद्वचः । प्रतिपद्य हितज्ञेन तथैव विदधेऽखिलम् ॥ १४७ ॥ मूढस्यापि निजं भावं स्वस्थानगमनादिकम् । चारुराख्यत्ततो मूढस्तं प्रत्येवमभाषत ॥ १४८ ॥ गमनेन कृतं मित्र ! स्थातुमत्रैव युज्यते । द्वीपेऽतिरुचिरक्रीडाकाननादिककौतुके ॥ १४९ ॥ मयास्ति नानारत्नौघैर्यानपात्रं च पूरितम् । इत्युक्त्वाऽदर्शयन्मूढः काचखण्डादिशालि तत् ॥ १५० ॥ चारुणोक्तं न ते युक्तं वञ्चनं कर्तुमात्मनः । कौतुकैः काननादीनां रत्नद्वीपेऽत्र दुर्लभे ॥ १५१ ॥ तथैतानि न रत्नानि यानि रत्नानि मन्यसे । तच्छ्रुत्वा कुपितो मूढश्चारुमेवमवोचत ॥ १५२ ॥ गच्छ त्वं गच्छ नो कार्यं मित्रेणापीदृशा त्वया । यस्त्वं मदीयरत्नानि न रत्नानीति भाषसे ॥ १५३ ॥ नाहं समं समेष्यामि त्वद्रत्नैः पूर्यतां[2] च मे । तच्छ्रुत्वाचिन्तयच्चारुर्नैष शिक्षोचितः कुधीः ॥ १५४ ॥ रत्नानां यानपात्राणि पूरयित्वा निजान्यथ । सार्द्धं योग्यहितज्ञाभ्यां चारुः स्वस्थानमागतः ॥ १५५ ॥ रत्नानां विनियोगं च कुर्वाणास्तत्र ते त्रयः । अनन्तानन्दसन्दोहपूरिताः सुखमासते ॥ १५६ ॥ मूढस्तु दुःखदारिद्र्यभाक् क्रुद्धेन महीभुजा । प्रक्षिप्तः सागरे घोरेऽनन्तयादःप्रपूरिते ॥ १५७ ॥ तदिदं ते मयाख्यातं सूरिप्रोक्तं कथानकम् । यत्तदा

१ °मत् क० ग० घ० । २ पर्याप्तम् इत्यर्थः ।

मम संजातं भद्र ! वैराग्यकारणम् ॥ १५८ ॥ अकलङ्कस्ततो नत्वा मुनिमन्यमुनिं व्रजन् । मया भावार्थमाख्यानस्यास्य पृष्टोऽभ्यधादिति ॥ १५९ ॥ वसन्तपुरतुल्योऽयमत्रासांव्यवहारिकः । जीवराशिर्वाणिजकाः पुनरस्तस्माद्विनिर्गताः ॥ १६० ॥ जीवाश्चतुर्विधाश्चार्वादयः सान्वयनामकाः । समुद्रः पुनरत्रैष ज्ञेयः संसारविस्तरः ॥ १६१ ॥ समस्तगुणरत्नानां हेतुत्वेनेह दुर्लभः । रत्नद्वीपसमानोऽयं ज्ञेयो मर्त्यभवः पुनः ॥ १६२ ॥ लघुकर्मा तमासाद्य कश्चिच्चारुसमोऽसुमान् । यतिधर्माख्यवाणिज्येनार्जयेद्रत्नसंनिभम् ॥ १६३ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रक्षमाब्रह्मव्रतादिकम् । तेन पोतोपमं जीवस्वरूपं पूरयेच्च सः ॥ १६४ ॥ युग्मम् ॥ योग्यतुल्यः पुनर्देशविरतः श्रावको मतः । वनादिकौतुकप्रख्ये सैजन् भोगसुखादिके[2] ॥ १६५ ॥ दाक्षिण्यादेव साधूनां यतमानश्च भूयसा । कालेन गुणरत्नानि ज्ञानादीनि चिनोत्यपि ॥ १६६ ॥ युग्मम् ॥ कश्चिद्धितज्ञतुल्यस्तु मिथ्यादृग् भव्यभद्रकः । अजानानः स्वयं ज्ञानादिकरत्नपरीक्षणम् ॥ १६७ ॥ आदत्ते धूर्त्तसदृशैर्विप्रलब्धः कुतीर्थिकैः । कपर्दकाचतुल्यानि यज्ञहोमादिकान्यलम् ॥ १६८ ॥ युग्मम् ॥ हितं हितैषिणा कथ्यमानं वेत्त्येष किं पुनः । ह्रियते कौतुकौपम्यैः[3] सुखैर्विषयसम्भवैः ॥ १६९ ॥ अभव्यो दूरभव्यो वा कश्चिन्मूढसमः पुनः । स्वयं नैव विजानाति धर्मरत्नपरीक्षणम् ॥ १७० ॥ धर्मरत्नधिया यागहोमादीनि स मोहतः । गृह्णाति काचशकलशुक्त्यादिसदृशान्यतः ॥ १७१ ॥ हितोपदेशदातारमपि द्वेष्टि द्विषं यथा । मन्यते मित्रवद्भोगान् भोगिभोगनिभानपि ॥ १७२ ॥ यथा च चारुणा तेन स्वस्थानं गच्छता

१ भजन् क० ख० ग० घ० । २ °खादिकम् क० ख० ग० घ० । ३ °तुकोपम्यैः क० ख० ग० घ० ।

सता । पृष्टो योग्यः परिज्ञाततद्वृत्तान्तेन चादरात् ॥ १७३ ॥ रत्नद्वीपममुं प्राप्य स्वार्थभ्रंशो न युज्यते । तवेत्याद्युपदेशेन शिक्षयित्वा प्रवर्त्तितः ॥ १७४ ॥ युग्मम् ॥ तथैव यतिरात्मानं गुणैर्ज्ञानक्रियादिभिः । परिपूर्णं विधायोच्चैर्यियासुः परमं पदम् ॥ १७५ ॥ श्रावकं प्रेरयत्येवं कृतस्तोकगुणार्जनम् । यथा न युज्यते कर्तुं तवैवं विशदाशय ! ॥ १७६ ॥ धनभोगसुखादीनां व्याक्षेपेणातिमूर्च्छितः । दुष्प्रापं प्राप्य मानुष्यं स्वार्थभ्रंशं करोषि यत् ॥ १७७ ॥ ततः साधुक्रियावाणिज्येन सोऽपि प्रवर्त्तते । गुणरत्नान्युपादातुं धनभोगपराङ्मुखः ॥ १७८ ॥ यथा च चारुणा पृष्टो हितज्ञः शिक्षितश्च सः । काचादिपूरिते पोते स्वकीये दर्शितेऽमुना ॥ १७९ ॥ तथा भद्रकमिथ्यादृगपि [1]प्रेर्येत साधुना । यथा भोगेष्वभिष्वङ्गस्तव नैव समञ्जसः ॥ १८० ॥ धूर्त्तैः कुतीर्थिकैरेभिर्वञ्चयित्वार्पितानि च[2] । काचतुल्यान्यहो ! यज्ञहोमादीनि परित्यज ॥१८१॥ परीक्ष्य श्रुतशीलादिलक्षणैस्त्वं गृहाण च । धर्मतत्त्वानि रत्नानि कुरुते सोऽपि तत्तथा ॥ १८२ ॥ यथा च मूढः स्वस्थानगमनं प्रति चारुणा । भाषितः सन् द्वीपवासमेव श्लाघितवान् भृशम् ॥ १८३ ॥ पुनः पुनः शिक्षितोऽपि काचशङ्खनकादिषु । रत्नबुद्धिं कुबुद्धिः स कथञ्चिदमुचच्च न ॥ १८४ ॥ तथा मूढनिभो दूरभव्योऽभव्योऽथवा पुमान् । उत्साहितोऽनगारेणापुनर्भवगतेः कृते ॥ १८५ ॥ श्लाघां करोति संसारनिवासस्यैव केवलम् । यागहोमादिपापेषु धर्मबुद्धिं च नोज्झति ॥ १८६ ॥ भोगादिषु निषिद्धश्च क्रुद्धः सन्वदतीदृशम् । मोक्षे भवन्तो गच्छन्तु तेन मे न प्रयोजनम् ॥ १८७ ॥ तं

१ प्रेर्येते सा° क० ग० घ०, प्रेर्येत सा° ता० । २ तु ग० ।

विमुञ्चाथ ज्ञानादिरत्नैः सश्राद्धभद्रकः । जीवस्वरूपपोतानापूर्य साधुः शिवं व्रजेत् ॥ १८८ ॥ ज्ञानादिफलभूतं च तत्रानाबाधमक्षयम् । प्राप्नोति परमानन्दं ज्ञानदर्शनवीर्ययुक् ॥ १८९ ॥ अभव्यं तु भावरत्नहीनत्वाद् दौस्थ्यदुःखितम् । क्रुद्धः कर्म्मपरीणामः क्षिपते भववारिधौ ॥ १९० ॥ एवं कथानकस्यास्य ज्ञात्वा भावार्थमीदृशम् । अयं प्रव्रजितो जातः साधुर्भो ! घनवाहन ! ॥ १९१ ॥ इत्थं कथानके ह्यत्र श्रुते को न मुनिर्भवेत् । रत्नैर्भृत्वात्मबोहित्थं निर्वाणं कश्च न व्रजेत् ? ॥ १९२ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! शृण्वतो मे तदेदृशम् । अकलङ्कवचो बह्वी कर्मणां ह्रसिता स्थितिः ॥ १९३ ॥ अकलङ्को मया सार्द्धमथ षष्ठमुनिं ययौ । नत्वापृच्छच्च वैराग्यकारणं सोऽप्यचीकथत् ॥ १९४ ॥ योऽयं ध्यानस्थितः साधुस्तेन मे भद्र ! दर्शितः । दृष्टाध्वा संस्रुतेः पुर्याः सोऽभूद्वैराग्यकृन्मम ॥ १९५ ॥ तथाह्यस्ति समायुक्तो भवाख्यापणपङ्क्तिभिः । भूरिभिः सुखदुःखाख्यैः पण्यैश्च परिपूरितः ॥ १९६ ॥ जीववाणिजकैर्नित्यं स्वार्थनिष्ठैश्च सेवितः । हट्टमार्गो महान् जन्मसन्तान इति नामतः ॥ १९७ ॥ युग्मम् ॥ तत्र पापिजीवचोरे(°रैः) लभ्यान्युद्घाटितापणे । पण्यानि सुखदुःखानि पुण्यापुण्याख्यवेतनैः ॥ १९८ ॥ महामोहो बलाध्यक्षस्तत्र कामादिपत्तियुक् । विलसन्ति कषायाख्यास्तत्र चोन्मत्तडिम्भकाः ॥ १९९ ॥ किञ्च जीवाधमर्णानां कर्माख्यैर्धनिकैरिह । क्रियते धरणं घोरं तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः ॥ २०० ॥ अथान्येद्युरयं साधुः कृपापूरितमानसः । विलोचने ममानञ्ज ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥ २०१ ॥ ततो हट्टानमयोत्तीर्णो

१ °वोचिस्थं ता० क०, °बोधिस्थं ग० घ० । । २ °खाद्यैः प° ता० ।

मठो नाम्ना शिवालयः । व्यलोकि तत्र चानन्ता मुक्ताख्याः सुखिनो जनाः ॥ २०२ ॥ निर्विण्णोऽहं ततो हट्टमार्गात् तत्र यियासया । तत्प्रापिकां गुरुप्रोक्तां दीक्षामेनां समाददे ॥ २०३ ॥ गुरुः प्रोचे च मां सौम्य ! वासार्थं त्वत्परिग्रहे । कायाख्योऽस्त्यपवरकः पञ्चाक्षाख्यगवाक्षयुक् ॥ २०४ ॥ तत्र कार्मणदेहाख्यं गर्भगेहं च विद्यते । कायपञ्चाक्षाभिमुखक्षयोपशमरन्ध्रयुक् ॥ २०५ ॥ तत्र वानरलीवं च चित्ताख्यमतिचञ्चलम् । त्वया सुरक्षितं तच्च करणीयं निरन्तरम् ॥ २०६ ॥ तत्रस्थं भक्ष्यते तद्धि कषायाभिधमूषकैः । वृश्चिकैर्नोकषायाख्यैः क्रियते चातिचञ्चलम् ॥ २०७ ॥ रागद्वेषसंज्ञकोलोन्दुराभ्यां च विलुप्यते । महामोहौतुना संज्ञामार्जारीभिश्च भक्ष्यते ॥ २०८ ॥ परीषहोपसर्गैश्चार्द्यते[1] मशकदंशकैः । विह्वलीक्रियते दुष्टाभिप्रायोल्बणमत्कुणैः ॥ २०९ ॥ अलीकचिन्तासंज्ञाभिरत्यन्ताशुभहेतुभिः । गृहकोकिलिकाभिश्च सर्वदाप्युपताप्यते ॥ २१० ॥ प्रमादाख्यकृकलासै-रजस्रमभिभूयते । घनाविरतिजम्बालयूकाजालेन तुद्यते[2] ॥ २११ ॥ तथान्धीक्रियते मिथ्याज्ञानध्वान्तेन तत्ततः । रौद्रध्यानाभिधेऽङ्गारकुण्डे पतति पीडितम् ॥ २१२ ॥ कुतर्कलूतिकातन्तुजालावद्धमुखे तथा । कदाचित्प्रवि-शत्येतदार्तध्यानमहाबिले ॥ २१३ ॥ तदेतदप्रमत्तेन रक्षितव्यं त्वया सदा । मया तद्रक्षणोपायं पृष्टः प्राह पुनर्गुरुः ॥ २१४ ॥ तत्रापवरके भद्र ! गवाक्षाः पञ्च सन्ति ये । तद्द्वारे पञ्च विद्यन्ते विषयाख्या विषद्रुमाः ॥ २१५ ॥ ते चातिदारुणा गन्धदर्शनस्पर्शनाशनैः । श्रवणस्मरणाभ्यां च निश्चितं मारयन्त्यदः ॥ २१६ ॥ इदं

१ ॰र्ग्यते ता० । २ दूयते ता० ।

वानरलीनं तु तानाम्रत्वेन मन्यते । ततो गवाक्षैर्निर्गत्य तेषां व्रजति संमुखम् ॥ २१७ ॥ ततश्च सुन्दराणीति बुद्ध्या क्वापि रज्यते । फलेष्वसुन्दराणीति द्वेषं धत्ते च केषुचित् ॥ २१८ ॥ लुठत्यतितरामेतत् तथार्थनिचयाभिधे । पत्रपुष्पकचवरे तदधोभूमिवर्त्तिनि ॥ २१९ ॥ तद्वु भ्राम्यत्यतिलौल्येनाशेषशाखान्तरेष्वपि । ततश्च गुण्ड्यते कर्म्मपराणुसुमरेणुना ॥ २२० ॥ तथार्द्रीक्रियते भोगस्नेहाख्यमधुबिन्दुभिः । ततो विज्ञाततद्वाक्यभावार्थोऽहमचिन्तयम् ॥ २२१ ॥ वृक्षाः शब्दादयः पुष्पाण्येषामेव विशेषकाः । फलं स्फुटतराः शाखान्तराणि तु तदाश्रयाः ॥ २२२ ॥ तेषु संचरणं चित्तस्योक्तं लोकोपचारतः । यदाहुर्लौकिकाश्चित्तमसुकत्र गतं मम ॥ २२३ ॥ एवं स्थिते मया बुद्धमिदं सर्वं मुनेर्वचः । विचिन्त्येति मया प्रोक्तं यद्भदन्त ! ततस्ततः ? ॥ २२४ ॥ गुरुराह ततो भद्र ! स्नेहार्द्रेऽस्य शरीरके । रजसो भेदकत्वेन संभूतैः पीड्यते क्षतैः ॥ २२५ ॥ रजसा विषरूपेण तस्य दग्धस्य कृष्णता । रक्तता च भवेत् तैस्तैश्चार्द्यते तदुपद्रवैः ॥ २२६ ॥ तत् त्वया भद्र ! तन्निर्यन्निजवीर्याभिधे करे । अप्रमादं वज्रदण्डमादायास्फोट्यमुच्चकैः ॥ २२७ ॥ यथा न विषयद्रूणां निर्याति फललिप्सया । अन्यथा चिरकालीनं चक्रमस्य भविष्यति ॥ २२८ ॥ तथाह्युपद्रवैस्तैस्तैः पीडितं मूषकादिभिः । वेदनाविह्वलं मोहादाम्रकेषु प्रवर्त्तते ॥ २२९ ॥ गुण्ड्यते रजसा भूयो भिद्यते स्यन्दबिन्दुभिः । ततः क्षतानि जायन्ते बाध्यते मूषकादिभिः ॥ २३० ॥ ततस्तद्भक्षणासक्ता वर्द्धन्ते मूषकादयः । भूयश्च बाध्यमानं तैराम्रकेष्वेव धावति ॥ २३१ ॥ पुनर्गुण्डनमेवास्य

१ गम्यते ग० । २ ततो भ्राम्यति लौ° ग० । ३ गुरोर्वचः क० ख० ग० । ४ तन्निर्यान्नि° ता० क० ।

स्नेहेन पुनरार्द्रता । पुनश्च क्षतसंपत्तिः पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥ २३२ ॥ रक्षिते निर्गमे त्वस्य भोगस्नेहार्द्रतैष्यति । शोषां(°षं) शुष्कशरीराच्च रजः परिम(°श°)टिष्यति ॥ २३३ ॥ ततः क्षतानि रोक्ष्यन्ति नङ्क्ष्यतो रक्तकृष्णते । भविष्यति वपुःस्थैर्यं नैर्मल्यं दर्शनीयता ॥ २३४ ॥ किञ्चाप्रमाददण्डेन चूर्ण्या ओत्वादयोऽपि ते । येन गर्भगृहस्थस्य तस्य न स्युरुपद्रवाः ॥ २३५ ॥ तदस्य रक्षणोपायो भद्रैषोऽथ मयोदितम् । भदन्त ! रक्षितेनैवं किमेतेन भविष्यति ? ॥ २३६ ॥ गुरुराह तवाभीष्टा शिवालयमठे गतिः । तस्या हेतुरिदं चित्तवानरं हि सुरक्षितम् ॥ २३७ ॥ ततो ध्यातं मया हन्त चित्तं रागाद्युपद्रुतम् । विषयेषु प्रवर्त्तेताऽथादत्ते कर्मसंचयम् ॥ २३८ ॥ स्नेहार्द्रताथ संसारसंस्काराः स्युः क्षतोपमाः । ततस्ते प्रभवन्त्यत्र भूयो रागाद्युपद्रवाः ॥ २३९ ॥ तद्भूयो विषयेष्वेति पौनःपुन्यात् तथैव तत् । तदेवं चक्रके मग्नं चित्तमेतन्न मुच्यते ॥ २४० ॥ अप्रमादः स्ववीर्येण गुरुणास्य च रक्षकः । प्रोक्तो मे युज्यते कर्तुं ध्यात्वेत्यस्मि करंस्तथा ॥ २४१ ॥ अभ्यधादकलङ्कोऽथ साधु बुद्धं गुरोर्वचः । दृढारम्भेण चारम्भि साध्वस्याचरणं त्वया ॥ २४२ ॥ ततो मुनिमनुज्ञाप्य निजाभ्यूहितचक्रकम् । मुनिचक्रकसङ्काशमकलङ्कोऽभ्यधादिति ॥ २४३ ॥ चित्तमेतद् द्विधा तावद् द्रव्यतो भावतस्तथा । आद्यं पर्याप्तियुक्तात्मगृहीतं पुद्गलात्मकम् ॥ २४४ ॥ तत्रोपयुक्तो जीवस्तु भावचित्तं निगद्यते । तत्कार्मणशरीरस्थं तेन भिन्नं [3]निवेद्यते ॥ २४५ ॥ तच्चित्तं नियमाज्जीवो जीवश्चित्तं न वा भवेत् । यतः केवलिनो जीवा भावचित्तविवर्जिताः ॥ २४६ ॥

१ °ता च सं° क० ख० ग० । २ तद् भयाद् विषयेष्वेति ता० ख० । ३ न विद्यते क० ख० ग० घ० ।

एवं स्थिते विपर्यासाज्जीवो रागादिसंगतः। दुःखरूपेषु भोगेषु सुखबुद्ध्या प्रवर्त्तते ॥ २४७ ॥ ततः कर्माणुसंघातमादत्ते स्नेहतन्तुभिः। ततो जन्मान्तरारम्भं विधत्ते तद्वशादयम् ॥ २४८ ॥ पुनस्तत्र विपर्यासः पुना रागादिसंततिः। पुनश्च विषयाकाङ्क्षा पुनस्ते स्नेहतन्तवः ॥ २४९ ॥ पुनश्च कर्मग्रहणं पुनर्जन्मसमुद्भवः। पुनस्तत्र विपर्यासः पुना रागादिकक्रमः ॥ २५० ॥ एवं यावदविच्छिन्नं विपर्यासादिचक्रकम्। जीवस्य वर्त्तते तावदनिष्टा भवपद्धतिः ॥ २५१ ॥ प्रोचे साधुस्ततः साधु भवताभ्यूहि चक्रकम्। अकलङ्क! भवादक्षा यन्नान्यादक्षवीक्षिणः ॥ २५२ ॥ अथ प्रोचेऽकलङ्कस्तं केनोपायेन तत् क्षमम्। शिवालयमठं नेतुं गुरुणा ते प्ररूपितम् ॥ २५३ ॥ मुनिः प्रोवाच मां प्रोचे गुरुर्यद् गर्भगेहके। तत्र गोत्रेण विख्याता लेश्या इति षडङ्गनाः ॥ २५४ ॥ ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लिकाः। नाम्ना गर्भगृहे तत्रोत्पन्नास्तेनैव वर्द्धिताः ॥ २५५ ॥ तद्बुद्धेश्च विधायिन्यस्तन्मध्ये तिस्र आदिमाः। क्रूरतमक्रूरतरक्रूरा नार्यः स्वरूपतः ॥ २५६ ॥ वानरस्यारिभूतास्ता गर्भवेश्माशुभैषिकाः। प्रवर्त्तिका हट्टमार्गे मठप्राप्तिनिवारिकाः ॥ २५७ ॥ अन्यास्तिस्रः शुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः पुनः। प्रकृत्याद्याङ्गनावृत्तवैपरीत्यविधायिकाः ॥ २५८ ॥ ताभिः षड्भिश्च नारीभिस्तत्र गर्भगृहे कृतः। स्वतलादूर्ध्वमारोढुं परिणामाख्यदर्दरः ॥ २५९ ॥ असंख्यास्तत्र चैताभिः प्रत्येकं पदिकाः कृताः। अध्यवसायस्थानाख्याः स्वस्वनामसमद्युतः ॥ २६० ॥ तत्राद्यस्त्रीत्रयकृतपदिकासु स्थितः कपिः। उत्प्लुत्य धावति गवाक्षकैराभ्रकसंमुखम् ॥ २६१ ॥ ततः पूर्वोदितानर्थप्राप्तेर्दुःखमवाप्नुयात्। तच्चाभ्यः पदिकाभ्यस्तन्निःसार्यारोह्य-

मूर्ध्वतः॥ २६२ ॥ तुर्यस्त्रीपदिकारोहेऽस्य तापोऽल्पीभविष्यति । यास्यन्त्युपद्रवाः कार्श्यमास्रेच्छापि त्रुटिष्यति
॥ २६३ ॥ रोक्ष्यन्तीषत् क्षतान्यस्य रजः परिस(°श°)टिष्यति । ततः सुखासितं तेजोभासि वर्ण्णेन भावि तत्
॥ २६४ ॥ पञ्चमस्त्रीपदिकास्वारोहात्पूर्वोदिता गुणाः । भाविनो विशिष्टतरास्तस्य शुद्धस्य वर्ण्णतः ॥ २६५ ॥
षष्ठस्त्रीपदिकारोहात् ते विशिष्टतमा गुणाः । भाविनोऽस्य पराह्लादस्फटिकोज्ज्वलभाजुषः ॥ २६६ ॥ किञ्चात्र
स्त्रीत्रयकृते चटतः पदिकाध्वनि । धर्म्मध्यानाख्यपवनः शीतोऽस्याङ्गे लगिष्यति ॥ २६७ ॥ मिलिष्यति तथैतस्य
नितान्तहितकारकम् । बोधसंयमसंतोषशमप्रमुखवानरम् ॥ २६८ ॥ धृतिश्रद्धाधारणादिवानरीभिः समन्वितम् ।
ब्रह्मवैराग्यधैर्याद्यैर्युतं वानरलीवकैः ॥ २६९ ॥ शुद्धधर्म्ममहाशाखामृगेण समधिष्ठितम् । स्वाभाविकं मनोहारि
निजं वानरयूथकम् ॥ २७० ॥ विशेषकम् ॥ त्वच्चित्तवानरस्यैतत्कपियूथं करिष्यति । शुक्लध्यानाख्यगोशीर्षचन्दनेन
निषेचनम् ॥२७१॥ ततोऽर्द्धमार्गेऽतिक्रान्ते तद् गाढानन्दनिस्सहम् । आरोढुमुपरितनपदिकासु न शेक्ष्यति ॥२७२॥
तत्रारूढे च भद्र ! त्वमप्यारूढो भविष्यसि । यतस्तद्वानरं तेऽन्तर्द्धनमात्मा च जीवितम् ॥ २७३ ॥ ततश्च निःस-
हीभूतं तद्विमुच्य त्वयोपरि । पदिकासु स्वयमेवारोहणीयमनुक्रमात् ॥ २७४ ॥ ततोऽन्ते पदिकास्त्यक्त्वा स्थित्वा
काशे स्वशक्तितः । पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारमात्रं कालमनाश्रयः ॥ २७५ ॥ मुक्त्वापवरकं गर्भगेहं वानरकं तथा ।
उत्प्लुत्य त्यक्तहट्टाध्वा शिवालयमठं व्रज ॥ २७६ ॥ तत्रानन्दमनन्तं च लप्स्यसेऽनन्तकालिकम् । इत्याकर्ण्य

१ °मुर्द्धतः क० ख० ग० घ० । २ शिक्ष्यति क० ख० ग० घ० । ३ व्रजे ता०, व्रजः क० ग० घ० ।

गया प्रोक्तं यदाज्ञापयति प्रभुः ॥ २७७ ॥ उपायेन ततोऽनेन मठं नेतुं शिवालयम् । क्षमं वानरकं भद्र ! गुरुणा मे निवेदितम् ॥ २७८ ॥ अथाकलङ्को निश्चित्य सभावार्थं मुनेर्वचः । भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! मद्वचोधाया-स्यधादिति ॥ २७९ ॥ एवं स्फुटाक्षरैः सर्वं यदनेन निवेदितम् । तत् त्वया विदितं भद्र ! किं वा नो घनवाहन ! ॥ २८० ॥ कथितं मुनिनानेन चित्तमेव हि केवलम् । प्रवर्त्तमानं दोषेषु भवानन्त्यनिबन्धनम् ॥ २८१ ॥ निर्दोषं तु तदेव स्यान्मोक्षसौख्यैककारणम् । रक्षेदं चित्तसद्रत्नं तस्मादन्तर्द्धनं परम् ॥ २८२ ॥ अर्थार्थं भोगलौल्येन यावद् धावति सर्वतः । चित्तं कुतस्त्यस्ते तावत् सुखगन्धोऽपि विद्यते ? ॥ २८३ ॥ यदेदं निःस्पृहं भूत्वा परित्यज्य बहिर्भ्रमम् । स्थिरं संपत्स्यते चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २८४ ॥ भक्ते स्तोतरि कोपान्धे निन्दाकर्त्तरि चोत्थिते । यदा समं भवेच्चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २८५ ॥ स्वजने स्नेहसम्बद्धे रिपुवर्गेऽपकारिणि । स्यात् तुल्यं ते यदा चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २८६ ॥ शब्दादिविषयग्रामे सुन्दरेऽसुन्दरेऽपि च । एकाकारं यदा चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २८७ ॥ गोशीर्षचन्दनालेपिवासीच्छेदकयोर्यदा । अभिन्ना चित्तवृत्तिः स्यात् तदा ते परमं सुखम् ॥ २८८ ॥ सांसारिकपदार्थेषु जलकल्पेषु ते यदा । अश्लिष्टं चित्तपद्मं स्यात् तदा ते परमं सुखम् ॥ २८९ ॥ दृष्टेषूद्दामला-वण्यबन्धुराङ्गेषु योषिताम् । निर्विकारं यदा चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २९० ॥ यदा सत्त्वैकसारत्वादर्थकाम-पराङ्मुखम् । धर्मे रतं भवेच्चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २९१ ॥ रजस्तमोविनिर्मुक्तं स्तिमितोदधिसन्निभम् । निष्कल्लोलं यदा चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २९२ ॥ मैत्रीकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रमोदोद्दामभावनम् । यदा

मोक्षैकतानं तत् तदा ते परमं सुखम् ॥ २९३ ॥ इति चित्तं विहायान्यो नास्ति भो ! घनवाहन ! । नरस्य सुख-सन्दोहे सिद्धो हेतुर्जगत्त्रये ॥ २९४ ॥ एवं तदा मेऽकलङ्कवाक्सुधाऽप्रीणयन्मनः । दृष्टान्तमुद्गरैर्भिन्ना बह्वी कर्म्मततिस्तथा ॥ २९५ ॥ कर्मस्थितिमतीत्याहं भूयिष्ठां पूर्ववर्त्तिनीम् । अभ्यर्ण्णः संस्थितो भद्रे ! कर्म्मग्रन्थेः सुदुर्भिदः ॥ २९६ ॥ इतश्च वामदेवस्य प्रस्तावे यन्मयोदितम् । बुधसूरिवचस्तत्किं स्मरसि त्वं ? यथा किल ॥ २९७ ॥ मम पुत्रो विचाराख्यो भवचक्रं निरीक्ष्य तत् । मार्गानुसारितायुक्तः समायातो न्यवेदयत् ॥ २९८ ॥ चारित्रधर्म्मसैन्यं यन्महामोहमहीभुजा । रुद्धं दर्पवता तच्च वीक्ष्यायातोऽस्मि तेऽन्तिके ॥ २९९ ॥ प्राहागृहीत-सङ्केता घ्राणदोषक्षणे त्वया । प्रोक्तं मेऽदः स्मृतं तस्मान्महामाख्याह्यतः परम् ॥ ३०० ॥ ततः संसारिजीवेन प्रोक्तं यच्चित्तवृत्तिगम् । चारित्रधर्मसैन्यं तत् तस्थौ कालमनन्तकम् ॥ ३०१ ॥ ततोऽकलङ्कपार्श्वस्थे मयि तत्र बले तदा । चारित्रधर्म्मभूपालं सद्बोधसचिवोऽवदत् ॥३०२॥ देव ! मा स्म विषीदस्त्वं जितमेव बलेन नः । यतः संसारिजीवोऽस्मान्साम्प्रतं बहु मन्यते ॥३०३॥ दृश्यते चित्तवृत्तिर्यदुज्ज्वला नष्टतामसा। मन्ये मनाक् प्रसन्नस्तदस्माकं स महाप्रभुः ॥ ३०४॥ ततः कर्म्मपरीणाममालोच्य प्रेष्यतां प्रभो ! । प्रभोः संसारिजीवस्य समीपेऽसौ सदागमः ॥ ३०५ ॥ यतः परिचयोऽनेन भविष्यति यदा बहुः । तदा संसारिजीवो नः पक्षं कक्षीकरिष्यति ॥३०६॥ वयं परिगृहीताश्च तेन शत्रुनिसूदने । भविष्यामः क्षमा देवाथ नृपोऽमंस्त तद्वचः ॥ ३०७ ॥ अभ्यधत्त च सद्बोधं किमेषोऽपि प्रहीयताम् ? । सम्यग्दर्शननामास्य सन्निधाने महत्तमः ॥ ३०८ ॥ सद्बोधोऽथावदद्देव ! प्रस्तावे

प्रेषयिष्यते । मद्रत्तमोऽपि संसारिजीवे दृष्टे मदागमात् ॥ ३०९ ॥ ततोऽभ्युपगते वाक्ये मन्त्रिणस्तेन भूभुजा । समागतः क्रमेणायं मत्समीपं सदागमः ॥ ३१० ॥ तद्भीत्यान्तर्निलीनोऽस्थान्महामोहादिभिः पुरा । व्यापारितो ममोपान्ते ज्ञानसंवरणो नृपः ॥ ३११ ॥ अथाकलङ्कः संप्राप्तः कोविदाख्यस्य सन्निधौ । सूरेस्तस्य मया सार्द्धं व्यधाच्च पदवन्दनम् ॥ ३१२ ॥ ध्यानं समाप्य दत्त्वा चाशिषं सोऽथ मुनीश्वरः । अकलङ्केन पृष्टः सन् विदधे धर्मदेशनाम् ॥ ३१३ ॥ तदा तस्यान्तिके सोऽथ मया दृष्टः सदागमः । ज्ञापितश्चाकलङ्केन विविधस्तद्गुणोच्चयः ॥३१४॥ ततस्तदुपरोधेन मया भद्रे ! सदागमः । प्रतिपन्नस्तदा किञ्चित् तुष्टेने("नै")वान्तरात्मना ॥३१५॥ किञ्च तस्योपरोधेन नमन्देवान् गुरूनहम् । श्रद्धाविवर्जितो जातो नमस्कारादिपाठकः ॥ ३१६ ॥ अकलङ्कः पुनर्दीक्षां कोविदाचार्यसन्निधौ । गृहीत्वा सममेतेन सशिष्येण गतोऽन्यतः ॥ ३१७ ॥ इतश्चोक्तो महामोहो रागकेशरिमन्त्रिणा । ज्ञानसंवरणं ज्ञात्वा सदागमभयद्रुतम् ॥ ३१८ ॥ स्थिता वयमियत्कालं निश्चिन्ता देव ! यद्बलात् । त्रासितः सदागमेन ज्ञानसंवरणोऽस्ति सः ॥ ३१९ ॥ तच्छ्रुत्वा देव ! घात्योऽसौ मया पापः सदागमः । इत्येकैको महायोधो महामोहमभापत ॥ ३२० ॥ तेनापि गदितं वत्साः ! कुर्वन्त्येतद्भवादृशाः । किन्तु स्वयं मया गत्वा स हन्तव्यो दुरात्मकः ॥ ३२१ ॥ किञ्च मेऽन्तर्गताः सर्वे भवन्तः सर्वदा ततः । प्रतिजागरणीयोऽहं सर्वैरप्यन्तरान्तरा ॥३२२॥ ततो यूयं स्थ किन्त्वेष सहायोऽस्तु परिग्रहः । रागकेशरिपुत्रस्य सागरस्य वयस्यकः ॥३२३॥ स्वयोधाननुशिष्यैवं महामोहोऽथ मेऽन्तिकम् । परिग्रहयुगायातः सदागमजिघांसया ॥ ३२४ ॥ ततस्तौ वीक्ष्य मे स्नेहः

सार्द्धं ताभ्यां सुनिर्भरः । अनाद्यभ्यासयोगेन संजातस्तारलोचने ! ॥ ३२५ ॥ इतश्चोपरते ताते जीमूतेऽहं तदाऽभवम् । पुण्योदयवशादुग्रशासनोऽवनिशासनः ॥ ३२६ ॥ सदागमोऽथ मां वक्ति यद्राज्यविषयादिकम् । क्षणिकं सर्वमेतत् तत् मूर्च्छा कार्या त्वयात्र न ॥ ३२७ ॥ महामोहस्तु मे सर्वं तदाख्याति चिरं स्थिरम् । तथा नास्तिकताहेतुमुपदेशं प्रयच्छति ॥ ३२८ ॥ परिग्रहस्तु मां ब्रूते यथा भो ! घनवाहन ! । हिरण्यधान्यरत्नादिष्वसन्तुष्टः सदा भव ॥३२९॥ ततस्त्रयाणामप्येषां शृण्वतो वचनानि मे । ईषद्दोलायितं चित्तं यावदस्ति सुलोचने ! ॥३३०॥ तावन्महामोहबलाद् ज्ञानसंवरणो मम । आविर्भूतस्ततो बुद्धा न सदागमवाग् मया ॥३३१॥ यदाहतुः पुनर्भद्रे ! महामोहपरिग्रहौ । तल्लग्नं मामके चित्ते यथा रङ्गः सुपासिते ॥ ३३२ ॥ ततोऽहं तत्परित्यज्य देववन्दनपूजनम् । नमस्कारादिपाठं च संजातो भोगमूर्च्छितः ॥३३३॥ दानं च साधुवर्गादौ विनिवार्य ततः परम् । धनसंग्रहणोद्युक्तः पीडयामि करैर्जनम् ॥ ३३४ ॥ रोचते मे महामोहात् तदा नैव सदागमः । परिग्रहाच्च नो वाञ्छा पूर्णा सर्वधनैरपि ॥ ३३५ ॥ ततो मां तादृशं मत्वा दूरीभूतः सदागमः । लब्धात्मलाभौ सन्तुष्टौ महामोहपरिग्रहौ ॥ ३३६ ॥ स चान्यदाययौ सूरिरकलङ्कादिसाधुयुक् । मयाकलङ्कदाक्षिण्याद् भद्रे ! गत्वाथ वन्दितः ॥ ३३७ ॥ ततश्च ज्ञानतो ज्ञातं तेन कोविदसूरिणा । मदीयं चरितं लोकादकलङ्केन चाखिलम् ॥ ३३८ ॥ ततः प्रोक्तोऽकलङ्केन सूरिराख्यत्कथां मम । सदागमे गुणं दुष्टसङ्गे दोषं च तन्वतीम् ॥ ३३९ ॥ पुरे क्षमातले मलनिचयाख्योऽस्ति भूपतिः । देवी तदनुभूत्याख्या पुत्रौ कोविदबालिशौ ॥ ३४० ॥ इतश्च कोविदस्यासीत्

तस्य जन्मान्तरेऽमुना । सार्द्धं सदागमेनोच्चैः पुरा परिचयश्चिरम् ॥ ३४१ ॥ जातिस्मृतया ततोऽमुष्य गुणान् ज्ञात्वा स कोविदः । तमग्रहीद् बन्धुबुद्ध्या तदुक्तोऽपि न बालिशः ॥ ३४२ ॥ इतश्च कर्म्मपरिणामेन प्रैषि स्वयंवरा । श्रुतिर्नाम कन्यका कोविदबालिशयोस्तयोः ॥ ३४३ ॥ कर्तुं तस्याश्च सम्बन्धं सङ्गाख्यो दासदारकः । प्रहितोऽथ तयागत्य बन्धू द्वावपि तौ वृतौ ॥ ३४४ ॥ ताभ्यां सा परिणीताथ तयोश्चास्ति परिग्रहे । पर्वतो निजदेहाख्यस्तत्कूटं मूर्द्धनाम च ॥ ३४५ ॥ तस्य चोपान्तवर्त्तिन्योः सपरिक्षेपयोरियम् । ताभ्यामपवरिकयोः स्थापिता श्रवणाख्ययोः ॥ ३४६ ॥ इतश्च तां समासाद्य दध्यौ हृष्टः स बालिशः । धन्योऽहं यस्य सम्पन्ना भार्या सर्वोत्तमा श्रुतिः ॥ ३४७ ॥ ततस्तं स्नेहलं तस्यां मत्वा सङ्गः समालपत् । देव ! देव्या समं योगो योग्योऽयं भवतोऽभवत् ॥ ३४८ ॥ यतो वयः कुलं शीलं रूपं च युवयोः समम् । सत्वं पुण्यादभूत्प्रेमाबन्धो वर्द्धयस्तु केवलम् ॥ ३४९ ॥ तद्बुद्धिः प्रियसेवाया बालिशः प्राह किं प्रियम् ? । सङ्गेनोक्तं यथा देव ! प्रियोऽस्या मधुरो ध्वनिः ॥ ३५० ॥ मया स एव सेव्यस्तद् बालिशेनेति भाषिते । हृष्टः सङ्गोऽथ तं स्नेहाद्बालिशो निदधे हृदि ॥३५१॥ ततः स वेणुवीणादिनादश्रावणतः श्रुतिम् । लालयन् बालिशोऽजस्रं सुखिनं मन्यते स्वकम् । ॥३५२॥ त्यक्तं तेनापरं कृत्यं धर्म्माद् दूरतरे स्थितः । पिङ्गप्रायतया जातो हास्यश्चासौ विवेकिनाम् ॥ ३५३ ॥ इतः सदागमं प्रोचे कोविदः किं हिता मम ? । भार्येयं सोऽप्यथोवाच ससङ्गेयं हिता न हि ॥ ३५४ ॥ इयं हि प्रहिता पूर्वं रागकेशरिमन्त्रिणा । इदं जगद्वशीकर्त्तुं पञ्चमानुपमध्यगा ॥ ३५५ ॥ स च कर्म्मपरीणामभ्रातृव्यो

रागकेशरी । प्रसिद्धश्चरटो लोके तस्यामात्यो विशेषतः ॥ ३५६ ॥ स कर्म्मपरिणामस्तु शुभाशुभकरो नृपः । लोके विश्वास्यतां यातस्ततश्चैवं स्थिते सति ॥ ३५७ ॥ इयं चरटकन्येति मत्वा नाङ्गीकरिष्यति । अयं जनस्ततस्तेन रागकेशरिमन्त्रिणा ॥ ३५८ ॥ निजं दत्त्वाग्रतो दासं सङ्गं संबन्धकारकम् । महाराजसुतात्वेन ख्यापितेयं श्रुतिः पुरा ॥ ३५९ ॥ युग्मम् ॥ तेन ते न हिता हन्त भार्येयं भर्तृवञ्चिका । त्वया तदस्या (°स्यां) विश्वस्यं न कदापि हि कोविद ! ॥ ३६० ॥ इयं च नाधुना हातुं शक्या सङ्गस्तु सर्वथा । हेयः सानेन हीना च ते[1] सत्यपि हि दोषकृत् ॥ ३६१ ॥ यदिष्टानिष्टशब्दानां श्रवणेऽपि न कोविद ! । मध्यस्था सङ्गहीनेयं भविता तव बाधिका ॥ ३६२ ॥ इत्थं सदागमगिरा स श्रुतिं श्रावयन्नपि । शब्दान्सङ्गोज्झनाज्जज्ञे जने[2] श्लाघ्यः सुखी तथा ॥३६३॥ एवं च ललमानौ तौ श्रुत्या कोविदबालिशौ । सङ्गत्यागग्रहाज्जातौ सुखदुःखप्रपूरितौ ॥ ३६४ ॥ अथास्ति बहिरङ्गोऽद्रिस्तावारूढौ तमन्यदा । तत्र दिव्यगुहारन्ध्रमस्त्यदृष्टतलं जनैः ॥ ३६५ ॥ तदन्तः कैन्नरं युग्मं गान्धर्वं च परस्परम् । बद्धस्पर्द्धं सभाध्यक्षं गीतं गातुं प्रचक्रमे ॥ ३६६ ॥ मधुरं च स्वरं श्रुत्वा तयोः कोविदबालिशौ । अद्रेः शिखरमारूढौ श्रुत्या गाढं प्रबोधितौ ॥ ३६७ ॥ अथ चित्तस्थसङ्गेन बालिशेन श्रुतिः कृता । तच्छ्रुतौ तत्परा किञ्चिन्न रसाचेतयत्त्ययम् ॥ ३६८ ॥ ततः स तेन सङ्गेन स्ववीर्येण तथा कृतः । गण्डशैलसमो रन्ध्रे द्राक्कृत्य पतितो यथा ॥ ३६९ ॥ वृहद्दास्फोटपातेन तेन गन्धर्व-

---

१ सत्यपि न हि दो° ख० । २ लोके श्ला° ख० ।

किन्नराः । क्रुद्धास्तं बालिशं बद्ध्वा संभूयावधिषुः क्षणात् ॥३७०॥ इतः सदागमादेशात् त्यक्तसङ्गः स कोविदः। तं तथा वीक्ष्य वेगेनापक्रान्तो गिरिशृङ्गतः ॥ ३७१ ॥ स धर्म्मघोषनामानं गुरुं प्राप्याभवन्मुनिः । कृतश्च स्वपदे तेन सोऽस्म्यहं कोविदो नृप ! ॥ ३७२ ॥ श्रुतिकथानकम् ॥ तस्मात् कुमित्रसङ्गः स्याद्बालिशस्येव दुःखकृत् । सदागमस्तु सुखकृद्यथा मे घनवाहन ! ॥ ३७३ ॥ तदाकर्ण्य मया ध्यातं महामोहपरिग्रहौ । विमोच्य कारयत्येष मां प्रयत्नं सदागमे ॥ ३७४ ॥ ततः किं करवाणीति ध्यायन्तं मामवोचत । अकलङ्को यथा बुद्धं गुरोर्वाक्यं त्वया न वा ? ॥ ३७५ ॥ मया प्रोचे सुष्ठु बुद्धं स प्राह क्रियतामिदम् । ततो मयाकलङ्केन सार्द्धं स्निग्धतया भृशम् ॥ ३७६ ॥ ग्रन्थिस्थानासन्नतया गुरोश्चापि प्रभावतः । प्रत्युत्तराक्षमत्वाच्च भूयोऽग्राहि सदागमः ॥ ३७७ ॥ युग्मम् । प्रक्रान्तं द्रव्यतश्चैत्यवन्दनं दानमादृतम् । दूरीभूतौ च तौ किञ्चिन्महामोहपरिग्रहौ ॥ ३७८ ॥ विहृते सूरिणा सार्द्धमकलङ्केऽथ तौ पुनः । आयातौ मां ततश्चाहं समस्तं कृत्यमत्यजम् ॥ ३७९ ॥ ततो भोगपिपासातः स्त्रीसहस्राण्यमेलयम् । संचिन्वंश्च धनं धात्रीं विदधे निर्द्धनामहम् ॥ ३८० ॥ पापं यच्चापरमपि तत्सर्वं विदधे मया । ततः सदागमो नष्टो रुष्टः पुण्योदयो मनाक् ॥ ३८१ ॥ ततश्च मे महादेवी नाम्ना मदनसुन्दरी । अत्यन्तवल्लभा भद्रे ! मृता शूलेन विह्वला ॥ ३८२ ॥ समागतो महामोहप्रतिजागरकस्तदा । शोको नत्वा प्रभुं च स्वं मामाश्लिक्षेत् तदाज्ञया ॥ ३८३ ॥ स्मृत्वा स्मृत्वा ततोऽहं तां विलपामि मुहुर्मुहुः । तच्च श्रुत्वा जनश्रुत्याऽ-

१ ॰ध्यत् ग० घ० ।

कलङ्को मामुपागमत् ॥ ३८४ ॥ ततः मां महाभागो दृष्ट्वा शोकवशीकृतम् । विमुक्ताशेषसत्कृत्यं कृपयेदमभाषत ॥ ३८५ ॥ सर्वेऽमी जन्तवो नित्यं कृतान्तमुखकोटरे । वर्त्तन्तेऽतः क्षणं भूप ! यज्जीवन्ति तदद्भुतम् ॥ ३८६ ॥ स हि नापेक्षतेऽवस्थां प्रेमाबन्धनसुन्दर(°रा°)म् । दलयत्येव भूतानि मत्तवद्गन्धवारणः ॥ ३८७ ॥ इत्यादि देशनां तस्मिन् कुर्वाणेऽपि महात्मनि । सविलापमहं तारस्वरं रोदिमि शोकतः ॥ ३८८ ॥ मुनिर्मां पुनरप्याह यथा भो ! घनवाहन ! । न युक्तं बालवृत्तं ते मुञ्च शोकं स्थिरो भव ॥ ३८९ ॥ विस्मृतस्ते कथं साधुकथितोऽप्यधुना भवः । प्रदीपनापानकारघट्टचट्टमठोपमः ॥ ३९० ॥ इत्यादिभिरहं वाक्यैरकलङ्कस्य किञ्चन । सचेतनोऽभवं शोको महामोहमथावदत् ॥ ३९१ ॥ देव ! व्रजाम्यहं सोऽथ प्राहैवं कुरु किन्तु नो । प्रतिजागरणं कार्यं केनापि भवतां ननु ॥ ३९२ ॥ तथेत्युक्त्वा गते शोके मया मेने मुनेर्वचः । ततः सदागमश्चक्रे मया हृदयवल्लभः ॥ ३९३ ॥ अकारयं जिनस्याथ बिम्बानि भवनानि च । यात्रास्नात्रपात्रदानादीनि प्रावर्त्तयं तथा ॥ ३९४ ॥ ततः कृतस्तावदेष निःशेषगुणभाजनम् । मयेति चित्ते संतुष्टः सोऽकलङ्कमहामुनिः ॥ ३९५ ॥ अत्रान्तरे कृताज्ञो रागकेशरिभूभुजा । परिग्रहस्नेहाद् बहुलिकाकृपणतायुतः ॥ ३९६ ॥ प्रतिजागरकोऽभ्यागान्महामोहस्य सागरः । तं दृष्ट्वा हृदि हृष्टौ च महामोहपरिग्रहौ ॥ ३९७ ॥ युग्मम् ॥ ततः कृपणताश्लेषान्मयाऽरक्षि घनव्ययः । चिन्तितं चाकलङ्कोऽयं कामं कारयति व्ययम् ॥ ३९८ ॥ तदत्र किं करोमीति ध्यायन्तं मां समाश्लिपत् । तदा बहुलिकाथाभूदीदृशी कुमतिर्मम ॥ ३९९ ॥ यत्प्रेपया-

ऽयकलङ्कं वचोयुक्त्या कयाप्यहम्। येनायं न भवेद् द्रव्यव्ययोऽथ स मयोदितः ॥ ४०० ॥ ममोपकारोऽभूत् पूर्णः कल्पस्तेऽपि ततोऽन्यतः। यूयं विहरताहं तु करिष्ये भगवद्वचः ॥ ४०१ ॥ तदाकर्ण्य ययौ भद्रे-ऽकलङ्को गुरुसन्निधौ। ततोऽहं सागरादेशात्पुनः सक्तः परिग्रहे ॥ ४०२ ॥ ततः परिग्रहेणोक्तः सागरो रक्षितो-ऽस्म्यहम्। त्वया त्वत्तोऽपि मे प्राणदात्री कृपणताभवत् ॥ ४०३ ॥ ज्ञेया बहुलिकाप्येषा गाढं मदुपकारिणी। सोऽकलङ्को महाशत्रुर्दूरं निर्वासितो यया ॥ ४०४ ॥ एवं वदन्तं प्रोवाच महामोहः परिग्रहम्। यदयं सागरो वत्स! सर्वस्वं जीवितं च मे ॥ ४०५ ॥ मद्बलं सर्वमस्त्यत्र भक्तोऽयं मयि सत्यतः। मत्पुत्रराज्ययोग्योऽयमयं ते रक्षणक्षमः ॥४०६॥ एवं चोल्लासितस्तेन सागरो मय्यजृम्भत। ततोऽहं पूर्ववद्भद्रे! सर्वं सत्कृत्यमत्यजम् ॥४०७॥ तच्चाकर्ण्याकलङ्केन मद्बोधायाऽऽयियासुना। यामीति सूरयो विज्ञापितास्तेऽथ तमभ्यधुः ॥ ४०८ ॥ वत्स! व्यर्थस्तत्र क्लेशोऽत्र तावत् घनवाहने। यावदस्य समीपस्थौ महामोहपरिग्रहौ ॥ ४०९ ॥ आयान्ति च तयोः पार्श्वे सर्वदा सागरादयः। ततोऽस्य क्वोपदेशः? क्व धर्म्मः? क्व च सदागमः? ॥ ४१० ॥ बोधितस्यापि नो तस्य संस्कारः कोऽपि ते पुनः। स्वाध्यायक्षतिरुर्वी स्यात् कृतं तत्र गतेन तत् ॥ ४११ ॥ अकलङ्कस्ततोऽवादीद् भदन्तास्य तपस्विनः। विरहोऽनर्थहेतुभ्यामाभ्यां भावी कदा पुनः? ॥ ४१२ ॥ गुरुणोक्तं विजानन्ति तं प्रायेण भवादृशाः। चारित्रधर्म्मराजस्य प्रसिद्धो यो महत्तमः ॥ ४१३ ॥ चारित्रधर्म्मयुक्तेन स्ववीर्येण विनिर्मिता। तेनास्ति मानसी कन्या विद्या नाम मनोहरा ॥ ४१४ ॥ तथा चारित्रधर्म्मस्य विरतेः कुक्षिसंभवा। निरीहता

नामधेया कन्यान्या विद्यतेऽनघा ॥ ४१५ ॥ यदा कर्म्मपरीणामदापिते ते उभे अपि । परिणेष्यति भाव्यस्य सहाभ्यां विरहस्तदा ॥ ४१६ ॥ अधुना तु प्रयासोऽयं सर्वस्तेऽस्मिन्निरर्थकः । गुरोर्वाक्यं तदाकर्ण्याकलङ्को मामथात्यजत् ॥ ४१७ ॥ अहं तु तौ समाश्रित्य महामोहपरिग्रहौ । आगत्यागत्य तद्भृत्यैरेकैकेन कदर्थितः ॥ ४१८ ॥ तैः सर्वैरपि संभूयानेकधा बाधितं ततः । मामयोग्य इति ज्ञात्वा गतो दूरं सदागमः ॥ ४१९ ॥ यथाभिमतकामांश्च सम्पादयति मे तदा । असौ पुण्योदयोऽहं तु विमूढस्तन्न लक्षये ॥ ४२० ॥ किञ्च भद्रे ! महामोहमहत्तमवशादहम् । कुर्वे धर्म्मधिया हिंसादीन्यदीनः कुकर्मणि ॥ ४२१ ॥ कामान्धश्च पुरे यां यां पश्यामि मृगलोचनाम् । कुलीनामकुलीनां वा तां तां पत्नीं करोम्यहम् ॥ ४२२ ॥ ततः कुकर्म्मणा तेन विरक्ताः पौरबान्धवाः । ममावरजमालोच्य नाम्ना नीरदवाहनम् ॥ ४२३ ॥ मां निबध्याक्षिपन् घोरे चारके नारकोपमे । राज्ये संस्थापयामासुस्तं च भक्तिपुरःसरम् ॥ ४२४ ॥ युग्मम् ॥ हृष्टाः कुस्वामिनाशेन तुष्टाः सुस्वामिनो गुणैः । ते पौरसैनिका लोकास्ततः किं किं न कुर्वते ? ॥ ४२५ ॥ अहं तु चारके तत्र पुरीपमलपिच्छिले । क्षुधा क्षामोदरो बद्धश्चिरं तस्थौ सुदुःखितः ॥ ४२६ ॥ परिवारसमेतस्य महामोहस्य दोषतः । तथाप्यहं न निर्विण्णः संसारात् चारुलोचने ! ॥ ४२७ ॥ रौद्रध्यानपरस्याथ पूर्वा मे गुटिकाऽजरत् । ततो वितीर्णा सा मह्यं भवितव्यतयापरा ॥ ४२८ ॥ ततः पापिष्ठनामायां पूर्यां सप्तमपाटके । अहं तस्याः प्रभावेण जातः पापिष्ठरूपभृत् ॥ ४२९ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरायुःपर्यन्ते भवितव्यता । कृत्वाथ

मत्स्यरूपं मां पुनस्तत्रैव सानयत् ॥ ४३० ॥ एवं कालमनन्तं च महामोहवशस्तया । भुक्त्वाऽसंव्यवहारं तद् भ्रमितोऽहं पुरेष्वहम् (?) ॥ ४३१ ॥ तथा परिग्रहेणाहं संज्ञया निजभार्यया । युक्तेन बहुशो भद्रे ! योनौ योनौ विडम्बितः ॥ ४३२ ॥ गृहकोकिलिकासर्पोन्दुराद्याकारभृद् यतः । दृष्टो निधानमासाद्य तन्नाशे विह्वलो मृतः ॥ ४३३ ॥ ममैवं भ्रमतो भद्रे ! प्रसन्ना भवितव्यता । श्रान्ता इव महामोहादयश्च कृशतामगुः ॥ ४३४ ॥ ततो मनुजगत्यन्तः पाटके भरताभिधे । साकेतेऽहं पुरे नीतो भवितव्यतयान्यदा ॥ ४३५ ॥ वणिजस्तत्र नन्दस्य कृतश्च गुटिकावशात् । भार्यायां घनसुन्दर्यां सुतो नाम्नाऽमृतोदरः ॥ ४३६ ॥ मयाथ यौवनस्थेन वने साधुः सुदर्शनः । दृष्टो देशनया चास्य पुनः प्राप्तः सदागमः ॥ ४३७ ॥ जातोऽहं श्रावकाकारधारको द्रव्यतस्तदा । नीतोऽथ गुटिकायोगात् नगरे विबुधालये ॥४३८॥ तस्मिंश्च भवनव्यन्तरज्योतिष्कल्पवासिनः । पाटकेषु वसन्त्येते विबुधाः कुलपुत्रकाः ॥ ४३९ ॥ दशाष्टपञ्चभेदास्ते त्रयः पूर्वे यथाक्रमम् । कल्पस्थास्तदतीताश्च द्विभेदास्तुर्यपाटके ॥ ४४० ॥ कल्पस्था द्वादशावाससंस्थिताः समुदाहृताः । नवपञ्चनिवासस्थास्तदतीताः प्रकीर्त्तिताः ॥ ४४१ ॥ तत्राद्ये पाटके भद्रे ! जातोऽहं भावनस्तदा । आद्यभेदस्थितेष्वेव विबुधः कुलपुत्रकः ॥ ४४२ ॥ ततश्च तत्र पद्माक्षि ! विस्मृत्याहं सदागमम् । सार्द्धपल्योपमायुष्को लीलयावस्थितः सुखम् ॥ ४४३ ॥ तदन्ते गुटिकां दत्त्वा भवितव्यतया तया । नगरे मानवावासे प्रापितः पुनरप्यहम् ॥ ४४४ ॥ तत्रास्ति बन्धुदत्तस्य वणिजः प्रियदर्शना । भार्या तस्याः सुतत्वेन जातोऽहं बन्धुनामकः ॥ ४४५ ॥ यौवनस्थो मुनेः प्राप्य सुन्द-

शाख्यातसदागमम् । जातश्चाहं तदा भद्रे ! श्रमणो भाववर्जितः ॥ ४४६ ॥ ततस्तदनुभावेन गतो व्यन्तरपाटके । न नीतो विस्मृतत्वेन किन्तु तत्र सदागमः ॥ ४४७ ॥ मयैवं भवचक्रेऽत्र भ्राम्यता दयिताज्ञया । अयं सदागमो दृष्टो विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥ ४४८ ॥ अनन्तवाराः श्राद्धश्च यतिश्च द्रव्यतोऽभवम् । पुनः सदागमत्यागात् प्राप्ता नाना विडम्बनाः ॥ ४४९ ॥ कुतीर्थिकोऽपि जातोऽहं भवचक्रेऽत्र भूरिशः । कर्म्मस्थितिः क्वचिद्दीर्घा क्वचिदल्पा बभूव च ॥४५०॥ क्वचिच्च प्रबला जाता महामोहादिशत्रवः । क्वचित्सदागमो जातः प्रबलस्तन्निवारकः ॥ ४५१ ॥ ततश्चानन्तवाराभिरभ्यस्तेऽस्मिन्सदागमे । सा मनाग् निर्म्मलीभूता चित्तवृत्तिर्महाटवी ॥ ४५२ ॥ ततश्चारित्र-धर्मेण सद्बोधामात्यवाक्यतः । प्रहितो मेऽन्तिके सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः ॥ ४५३ ॥ तेनोक्तं देव ! विद्येयं नीयतां कन्यका मया । तस्य संसारिजीवस्य प्राभृतं तोषहेतवे ॥ ४५४ ॥ सद्बोधः प्राह नाद्यापि प्रस्तावोऽस्या महत्तम ! । त्वद्रूपे तात्त्विके ज्ञाते किन्तु भावी तदस्त्वसौ ॥ ४५५ ॥ यदा स्यात्तेन विज्ञातं रूपं तव परिस्फुटम् । तदाहमागमिष्यामि विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥ ४५६ ॥ अविद्येऽपि त्वयि गते मित्रवृद्धिरिपुक्षयौ । भाविनाविति सद्बोधेनोक्तोऽचालीन्महत्तमः ॥ ४५७ ॥ इतश्चाहं तदा भद्रे ! नगरे जनमन्दिरे । सूनुरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥ ४५८ ॥ यौवनस्थोऽगमं चित्तनन्दने काननेऽन्यदा । धर्म्मघोषं गुरुं तत्र विलोक्याहं ननाम च ॥ ४५९ ॥ ततश्च प्रतनूभूतमहामोहादिवैरिकः । निषण्णोऽहं पुरस्तस्य तेन चक्रे च देशना ॥ ४६० ॥ सुदुर्लभमिदं प्राप्य मर्त्यजन्म सुमेधसा । तत्रापि शासनं जैनमर्जनीयं परं पदम् ॥ ४६१ ॥ तां चाकर्ण्णयतः प्रत्यक्षीभूतो

मे सदागमः । ततो मया मुनिः प्रोक्तो यन्मे कर्त्तव्यमादिश ॥ ४६२ ॥ मुनिराह त्वया भद्रात्रधीर्यो भवनिस्तरः । आराध्यः परमात्मा न वन्दनीयाः सुमाधवः ॥ ४६३ ॥ भावतो नवतत्त्वानि प्रतिपद्यानि सर्वदा । हेयं च कुमतं स्थेयं निश्चलेन सदागमे ॥ ४६४ ॥ एवं चोपदिशत्युच्चैर्धर्म्मघोषगुरौ तदा । स मामुपाययौ सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः ॥ ४६५ ॥ निरीक्षितः कर्म्मग्रन्थिभेदद्वारा मयाथ सः । ततः स्वरुच्या श्रद्धानं संजातं मुनिवाचि मे ॥ ४६६ ॥ महत्तमं नन्धुबुद्ध्या प्रपद्याभिहितो मुनिः । नाथो यदाज्ञापयति करिष्येऽहं तदेव हि ॥ ४६७ ॥ इत्युदित्वा च नत्वा च तं मुनिं स्वगृहं गतः । ततः प्रभृति जातश्च सम्यग्दर्शनसंयुतः ॥ ४६८ ॥ तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा विशिष्टज्ञानवर्जितः । जिनेन्द्रगदितं सत्यमिति मन्ये च ह्यहम् ॥ ४६९ ॥ न संजातास्तदा सूक्ष्मविविक्तज्ञानहेतवः । गुरवः पटुवाचोऽपि विना मे निजयोग्यताम् ॥ ४७० ॥ यतः स्वयोग्यतैव स्यात् श्रद्धानज्ञानकारणम् । गुरवः केवलं तस्यां भवन्ति सहकारिणः ॥ ४७१ ॥ पल्योपमपृथक्त्वे च क्षीणे कर्म्मस्थितेस्तदा । गृहिधर्म्मो मया दृष्टः सामान्यो न विशेषतः ॥ ४७२ ॥ तदादेशात्पालितानि व्रतान्येतत्प्रभावतः । कल्पवासिषु नीतोऽहं भार्यया विबुधालये ॥४७३॥ जातश्च प्रथमे कल्पे तेजसा भासुरः सुरः । तत्र चातिसुखी किञ्चिदूनमब्धिद्वयं स्थितः ॥ ४७४ ॥ तदन्ते मानवावासमानीय विहितस्तया । आभीरोऽहं कलन्दाख्यः सूनुर्मदनरेणयोः ॥ ४७५ ॥ तदा च विस्मृतौ तौ मे सदागममहत्तमौ । विस्मृतो गृहिधर्म्मोऽपि न स्यात्ताभ्यां विना हि सः ॥ ४७६ ॥ पूर्वाभ्यासात्परं पापभीरुर्भद्रकभावभाक् । ज्योतिश्चारिषु नीतोऽहं गुटिकायोगतस्तया ॥ ४७७ ॥ तत्र

स्थितेन दृष्टौ च महामोहपरिग्रहौ । मया तौ विस्मृतौ तेन महत्तमसदागमौ ॥ ४७८ ॥ ततोऽन्यगुटिकादानात् कृतोऽहं भार्यया तया । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने दर्दुराकारधारकः ॥ ४७९ ॥ ततः परं पुनर्भूरि भ्रमयित्वा स्वभार्यया । नीतोऽहं मानवावासे पुरे काम्पिल्यनामके ॥ ४८० ॥ धराया वसुबन्धोश्च वासवाख्यः सुतः कृतः । सूरेः शान्त्यभिधाल्लेभे महत्तमसदागमौ ॥ ४८१ ॥ ताभ्यां परिचयाज्जाता महामोहादयः कृशाः । ईशानेऽथाभवं स्मृतमदागममहत्तमः ॥ ४८२ ॥ पुनर्मनुजगत्यन्तर्मोहतो विस्मृताविमौ । इत्थं संख्यानिगा वारा जातं मम सुलोचने ! ॥ ४८३ ॥ श्राद्धत्वे श्रमणत्वे च यत्र यत्र विलोकितः । महत्तमः पुनर्दृष्टस्तत्र तत्र सदागमः ॥ ४८४ ॥ गृहिधर्मोऽपि तन्मूले दृष्टः सामान्यरूपतः । क्वचित् क्वचिन्न दृष्टोऽपि स महत्तमपार्श्वगः ॥ ४८५ ॥ तदेते बहुशो दृष्टास्त्रयोऽपि वरबान्धवाः । जाताश्च सुखदातारो विमुक्ताश्चान्तरान्तरा ॥ ४८६ ॥ दृष्टश्च केवलोऽप्येषोऽनन्तवाराः सदागमः । न त्वनेन विना दृष्टः स सम्यग्दर्शनः क्वचित् ॥ ४८७ ॥ अन्यच्च यत्र यत्राभूत्समीपे मे महत्तमः । तत्र तत्र सखा पुण्योदयोऽभूत्सुखदो मम ॥ ४८८ ॥ यत्र यत्र पुनर्जाताः प्रबला भावशत्रवः । नष्टे पुण्योदये तत्र तत्राप्ता दुःखपद्धतिः ॥ ४८९ ॥ कियद्वा कथ्यते तन्वि ! विशेषस्त्वेष कथ्यते । स सम्यग्दर्शनो मिथ्यादर्शनेन हतः क्वचित् ॥ ४९० ॥ ज्ञानसंवरणेनापि दूरं नीतः सदागमः । मदीयपक्षपाताच्च तौ ताभ्यां निर्जितौ क्वचित् ॥ ४९१ ॥ अन्यदा मानवावासे पुरे सोपारकाभिधे । नीतोऽगृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया ॥ ४९२ ॥ वणिजः शालिभद्रस्य भार्यास्ति कनकप्रभा । जातस्तस्या अहं सूनुस्तत्र नाम्ना विभीषणः ॥ ४९३ ॥

अथ स्वर्गे सुधाभूतिमासाद्य शुभकानने । पुनर्दृष्टौ मया भद्रे ! महत्तमसदागमौ ॥ ४९४ ॥ तत्त्वश्रद्धानसम्पन्नो भावतो विरतिं विना । जातो गुरूपरोधेन श्रमणोऽहं तदानघे ! ॥ ४९५ ॥ अन्यदा कर्म्मदोषान्मे वैभाग्य-निरतं मनः । अभूत्प्रबलतां प्राप्ता महामोहादयस्ततः ॥ ४९६ ॥ ततो हेतावहेतौ वा जातोऽहं परनिन्दकः । निन्दाम्यथ श्रुतं संघमपि तीर्थकरानहम् ॥ ४९७ ॥ एवं च यतिवेषोऽपि पापोऽहं गुणदूषकः । महामोहवशाज्जातो मिथ्यादृष्टिः सुदारुणः ॥ ४९८ ॥ मयाथ भ्रमता भार्यादेशेन भवचक्रकम् । उपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तस्य परिपूरितम् ॥ ४९९ ॥ एवं वदति संसारिजीवे विस्मितमानसा । जाताऽगृहीतसङ्केता किञ्चिद्भावार्थकोविदा ॥ ५०० ॥ तथा प्रज्ञाविशालापि श्रुत्वा तत्तादृशं वचः । अत्यन्तजातसंवेगा व्यचिन्तयदिति स्फुटम् ॥ ५०१ ॥ अहो ! संसारिजीवस्य महामोहपरिग्रहौ । मन्येऽहं सर्वपापेभ्यः सकाशादतिदारुणौ ॥ ५०२ ॥ क्रोधाद्यैर्निर्गुणस्यास्य यतोऽनर्थततिः कृता । आभ्यां पुनरसौ सर्वा सम्यग्दर्शनमीलके ॥ ५०३ ॥ किञ्च सर्वमयो मोहो लोभेष्टश्च परिग्रहः । तदेतौ गुणघाताय सर्वेषां मूलनायकौ ॥५०४॥ तथापि न त्यजत्येतौ जनोऽयं बोधितोऽपि हि । श्रुतौ च कोविदाख्यातदोषायामपि रज्यते ॥५०५॥ ततः प्रज्ञाविशालां तां गाढं संवीक्ष्य भाविताम् । स भव्यपुरुषोऽवादीदम्ब ! किं चिन्तितं त्वया ? ॥५०६॥ तयोक्तं पुत्र ! ते पश्चात्[3] कथयिष्येऽधुना पुनः । सावधानः शृणु कथां यत्स्वल्पास्यावशिष्यते ॥ ५०७ ॥ ततस्तूष्णींस्थिते तत्र राजपुत्रे स सादरम् । संसारिजीवः प्रोवाच शेषामात्मकथा-

१ अपा॰ ग॰ । २ लाभेष्टश्च ख॰ । ३ ॰दाख्याष्याम्यधुना ता॰ ।

मिति ॥ ५०८ ॥ अन्यदा भार्यया नीतो जातोऽहं भद्रिले पुरे । सुतः स्फटिकराजस्य विशदो विमलाङ्गभूः ॥ ५०९ ॥ सुप्रबुद्धमुनेः प्राप्य सदागममहत्तमौ । गृहिधर्मयुतौ भद्रे ! पालिताश्च व्रतादयः ॥ ५१० ॥ पुण्योदयस्य माहात्म्यादथ कल्पे तृतीयके । नीतः शब्दादिसौख्येन स्थितः सागरसप्तकम् ॥ ५११ ॥ बन्धुत्रययुतेनेत्थं द्वादशापि विलोकिताः । प्रत्येकं[1] ते मया कल्पाः स्वल्पेतरसुखाश्रयाः ॥ ५१२ ॥ ततो द्वादशकल्पस्थो मानवावाससंमुखम् । प्रस्थानं कारितो भद्रे ! भवितव्यतया तया ॥ ५१३ ॥ इति घोरविपाकमवेत्य जना ! घनवाहनबालिशवृत्तमिदम् । घनमोहपरिग्रहशब्दमतिं त्यजतास्ति शिवं यदि वोऽभिमतम् ॥ ५१४ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे मोहपरिग्रहश्रवणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम सप्तमः प्रस्तावः समाप्तः ।

अष्टमः प्रस्तावः

इतोऽस्ति मानवावासे वासवेश्म श्रियः परम् । सप्रमोदजनाकीर्णं सप्रमोदाभिधं पुरम् ॥ १ ॥ विलसद्गुणरत्नाढ्या राजासादितवृद्धयः । जना यत्र महाभोगाः संश्रयन्ति न दीनताम् ॥ २ ॥ प्रत्यनीकमहानीकवनभ-

१ कल्पा एवं चात्रस्थिते सति क० ख० ग० घ० ।

ज्ञनवारणः । बभूव भूपतिस्तत्र नामतो मधुवारणः ॥ ३ ॥ यशोराशिप्रतापाभ्यां सुवर्णरुचिरः स्थिरः । भृशं यः शुशुभे पुष्पदन्ताभ्यां सुरशैलवत् ॥ ४ ॥ मन्दाक्ष्यदाक्ष्यदाक्षिण्यशीलादिगुणमालिनी । बभूव भूभुजस्तस्य देवी नाम्ना सुमालिनी ॥ ५ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः । सार्द्धं पुण्योदयेनाहं भवितव्यतया तया ॥ ६ ॥ निष्क्रान्तश्च ततः काले पुण्योदयसमन्वितः । जन्मोत्सवं च पितरौ कारयामासतुर्मुदा ॥ ७ ॥ गुणधारण इत्याख्यां बिभ्राणः पितृकल्पिताम् । धात्रीभिः पाल्यमानोऽहं क्रमेण ववृधे ततः ॥ ८ ॥ इतो राजा विशालाख्यः सगोत्रो मत्पितुः सुहृत् । तत्राभूत्तनयश्चास्य कुलन्धर इतीरितः ॥ ९ ॥ आवामथ मिथः स्निग्धौ सह क्रीडितवर्द्धितौ । सहाधीतौ च रुचिरं तारुण्यं प्रापि च क्रमात् ॥ १० ॥ अपरेद्युः पुराद् दूरे पुरा बहु निषेविते । आवां क्रीडितुमुद्याने गतावाह्लादमन्दिरे ॥ ११ ॥ ततस्तत्रावयोर्दूरवर्त्ति चूततरोस्तले । योषितोर्द्वितयं किञ्चिद् दृष्टिगोचरमाययौ ॥ १२ ॥ तत्रैका निजरूपास्तकामकान्ता मृगेक्षणे ! । मां भ्रूलताधनुर्मुक्तैर्दृष्टिबाणैरताडयत् ॥ १३ ॥ ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य निर्मिथ्यप्रेमनिर्भराम् । दध्याव्रहमियं किं श्रीः ? किं रतिः ? किं सुराङ्गना ? ॥ १४ ॥ एवं चिन्तयतस्तस्यामत्यन्तमनुरागिणः । कुलन्धरेण मे तेनाभिप्रायः समलक्ष्यत ॥ १५ ॥ ततोऽहं लज्जया यावत्करोम्याकारसंवरम् । स मां तावदभाषिष्ट कलाकौशलकोविदः ॥ १६ ॥ कुमार ! बृहतीं वेलां क्रीडितं गम्यतेऽधुना । वेश्मन्यथ मया प्रोचे क्रियतां भाति यत्तव ॥ १७ ॥ गत्वा गेहमथावाभ्यां विदधे दिवसोचितम् । मया विभावरी सा च कथमप्यतिलङ्घिता ॥ १८ ॥ प्रातः कुलन्धरेणाथ

समेतस्तां मृगीदृशम् । दिदृक्षुः पुनरुद्याने तत्रागच्छं समुत्सुकः ॥ १९ ॥ न वीक्षिता परं तत्र बहुधान्वेषितापि सा । भद्रे ! ततोऽहमत्यन्तं चित्तोद्वेगेन पीडितः ॥ २० ॥ ततोऽहं चूतवृक्षं तं वीक्ष्यमाणो मुहुर्मुहुः । कुलन्धरयुतो यावन्निषण्णस्तस्य भूतले ॥२१॥ तावत्तस्या द्वितीयासीदायाता या तयान्विता । नार्येका मध्यमावस्था सुन्दराङ्गी समागमत् ॥२२॥ अभ्युत्थानादिनावाभ्यां विहितस्वागता ततः । दत्त्वाशिषमभाषिष्ट साऽऽवां मधुरया गिरा ॥२३॥ युवाभ्यां सह वक्तव्यं किञ्चिदस्ति वराननौ ! । निषद्य श्रूयतां तस्मात्ततः सर्वेऽप्युपाविशन् ॥ २४ ॥ ततः सा मां समुद्दिश्य प्रोचे वत्स ! निशम्यताम् । अस्ति विद्याधरावासो वैताढ्यो नाम पर्वतः ॥ २५ ॥ तत्र गन्धसमृद्धाख्ये पुरे खेचरचक्रयभूत् । कनकोदराख्यः कामलताख्या तस्य देव्यहम् ॥ २६ ॥ उपयाचितकाद्यैश्च कृच्छ्राद् वयसि मध्यमे । दुहितैकावयोर्जज्ञे नाम्ना मदनमञ्जरी ॥ २७ ॥ पितृप्रियपत्तिनरसेनवल्लरिकासुता । तस्याश्च समभूदिष्टा सखी लवलिकाभिधा ॥२८॥ सौन्दर्येण कलाभिश्चापश्यन्ती स्वोचितं वरम् । पुरुषद्वेषिणी वत्सा साभूदुद्यौवनाप्यथ ॥२९॥ ज्ञात्वा लवलिकाख्यानात्तच्चाहं तत्पितापि च । विषण्णौ नितरां कार्या कथमेषेति चिन्तया ॥ ३० ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्भूपः स्वयंवरणमण्डपम् । अकारयदथाकार्य सर्वान् विद्याधरेश्वरान् ॥३१॥ न कोऽपि खेचरस्तस्यास्तत्रापि रुरुचे परम् । प्रत्युत श्लाघितेष्वेषु शिरोर्त्तिरभवद् भृशम् ॥ ३२ ॥ विलक्षाः खेचराः सर्वे तस्या अनभिरोचनात् । प्रद्वेषं दधतो राज्ञि गृहीत्वैकां दिशं ययुः ॥ ३३ ॥ शोकातिरेकादस्माकमतीतं कथमप्यथ । तद्दिनं निशि चोर्वीशः

१ ०रास्ते च तस्या क० ख० ग० घ० ।

प्राप निद्रां न चिन्तया ॥३४॥ निशान्ते कथमप्याप्तनिद्रः स्वप्नेऽथ दृष्टवान् । मानुषाणि स चत्वारि द्वौ नरौ द्वे च योषितौ ॥ ३५ ॥ तैः प्रोचे मुञ्च राजेन्द्र ! विषादं पूर्वमेव यत् । आस्ते मदनमञ्जर्या वरोऽस्माभिर्निरूपितः ॥३६॥ ततो भावी स एवास्याः किमन्यवरमार्गणैः १ । अस्माभिरत एवास्या द्वेष्यास्ते खेचराः कृताः ॥ ३७ ॥ एवं तानि ब्रुवाणानि ययुश्चक्षुरगोचरम् । अत्रान्तरे पपाठैवं प्रातर्मङ्गलपाठकः ॥ ३८ ॥ विषादहर्षौ मा कुरुतमुदयादिक्रमो ह्यसौ । सर्वसामान्य इत्येष शंसतीवोदयन् रविः ॥ ३९ ॥ तदाकर्ण्य प्रबुद्धोऽथ तं स्वप्नं तच्च बन्दिनः । सूक्तं विचार्य समभूद्भूमिपालो निराकुलः ॥४०॥ इतश्च किं विधातव्यमिदानीमिति निर्जने । जल्पिता लवलिकया प्रोचे मदनमञ्जरी ॥४१॥ यद्यादिशति मां तातो माता च तदहं महीम् । भ्रान्त्वा वरं वृणोम्यात्मरुचितं स्वयमेव हि ॥४२॥ ततो लवलिका तस्यास्तद्वचो मह्यमाख्यत । मयापि नरनाथाय तच्छ्रुत्वा सोऽप्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥ वत्सया मन्त्रितं साध्वेतद्वरस्यायमेव यत् । तस्य देवोपदिष्टस्य लाभोपायो भविष्यति ॥ ४४ ॥ ध्यात्वेत्यनुमता राज्ञा ततो लवलिकान्विता । वरार्थं निर्ययौ वत्सा समस्तां क्षितिमीक्षितुम् ॥ ४५ ॥ कतिचिद्दिवसान्ते च समेत्यैषा विषादभाक् । न्यजिज्ञपत् लवलिका नृपं मां च समाकुला ॥ ४६ ॥ निर्गत्यावामितस्तावन्नानावृतान्तसंकुलम्। पश्यन्त्यौ भूतलं भूरि सप्रमोदपुरं गते ॥ ४७ ॥ ततस्तद्बहिराह्लादमन्दिरं नाम काननम् । पश्यावः कौतुकवशाद्यावदावां नभःस्थिते ॥ ४८ ॥ तावद्देवकुमाराभौ दृष्टौ राजसुतावुभौ । तयोश्चैकं प्रियसखी वीक्ष्य कामवशं

१ समाकुलम् क० ख० ग० घ० ।

ययौ ॥ ४९ ॥ मया सह महीपीठमवतीर्याथ सा स्थिता । तयोर्दृग्गोचरे चूतवने दूरस्थिते मनाक् ॥ ५० ॥ तमेव राजपुत्रं सा पश्यन्त्यनिमिषेक्षणा । यावत्तत्संमुखं दृष्टिस्तावत्तेनापि पातिता ॥ ५१ ॥ ततः सामृतसिक्तेव क्षिप्तेव सुखसागरे । भजन्ती विविधान् भावान्परं हर्षमुपाययौ ॥ ५२ ॥ ततस्तां तादृशीं दृष्ट्वा हृष्टया चिन्तितं मया । अहो ! दुष्करतोषापि यूनेयं तोषितामुना ॥ ५३ ॥ अहो ! अस्य सुरूपत्वमहो ! लावण्यपूर्णता । अहो ! युक्तोऽनयोर्योगो रतिमन्मथयोरिव ॥ ५४ ॥ अहो ! घटितमेवेदं मिथुनं ननु वेधसा । सद्भावमीलनादेवं तन्नः सिद्धं समीहितम् ॥ ५५ ॥ इतः स सुहृदा सार्द्धं ततः स्थानाद्ययौ युवा । ततो नष्टनिधानेव सा बालाजनि विह्वला ॥ ५६ ॥ मया प्रोचेऽथ सा भर्तृदारिके ! रुचितो यदि । तवायं तरुणस्तातास्त्रान्तिके गम्यतां ततः ॥ ५७ ॥ सप्रमोदपुरेशस्य मधुवारणभूपतेः । अस्यैवायं सुतो भावी रूपमीदृक् कुतोऽन्यथा ? ॥ ५८ ॥ तातेनात्मा ततोऽमुष्मै दाप्यतामविलम्बितम् । तयाप्यूचे लवलिके ! रुचितोऽयं जनो मम ॥ ५९ ॥ साशङ्कं किन्तु मच्चित्तं यदहं रुचिता नहि । प्रायेणास्मै कथमपक्रमणं तूर्णमन्यथा ॥ ६० ॥ मयोक्तं सखि ! मा मैनं वोचः किं न स राजभूः । त्वां निरैक्षिष्ट ? दृष्ट्वा वा किं न जातः प्रमोदभाक् ? ॥ ६१ ॥ अपक्रान्तोऽपि वैदग्ध्यात् ततोऽस्मै रुचितास्यलम् । विमुच्य तस्मादाशङ्कां विधेहि मम भाषितम् ॥ ६२ ॥ स्वस्थीभूताथ सा किञ्चिन्मामूचे सखि ! सर्वथा । न पारयाम्यहं गन्तुमस्वस्थं मे वपुर्यतः ॥ ६३ ॥ मयेदं न च मोक्तव्यमुद्यानं भवती ततः । गत्वा संपादयत्वाशु वार्त्ता ताताम्बयोरिमाम् ॥ ६४ ॥ तन्निर्बन्धं परिज्ञाय गुप्तद्रुगहनान्तरे ।

शीतपल्लवशय्यायां स्थापिता सा मया ततः ॥ ६५ ॥ विरूपाचरणेऽन्यत्र याने च शपथानथ । तां विधाप्या-हमायाता क्रियतामधुनोचितम् ॥ ६६ ॥ तच्छ्रुत्वा मां नृपः प्राह देवि ! त्वं सत्वरं व्रज । संधीरणाय वत्सायाः पश्चादेष्याम्यहं पुनः ॥ ६७ ॥ साशङ्कं मे यतश्चित्तं सकोपाः खेचरा ययुः । तद्वृत्तान्तं मया ज्ञातुं प्रयुक्तश्चटुलोऽस्ति च ॥ ६८ ॥ ततो विधाय सामग्रीं किञ्चिच्चादाय ढौकनम् । पृष्ठतोऽहं समेष्यामि देवी तु व्रजतु द्रुतम् ॥ ६९ ॥ स्वीकृत्याथ तदादेशं लात्वा लवलिकामिमाम् । तथा धवलिकां दासीं वेगेनात्राहमागता ॥ ७० ॥ तत्रैव शून्यचित्ताथ दृष्टा मदनमञ्जरी । तया चालक्षितास्तस्या निषण्णा वयमन्तिके ॥ ७१ ॥ समागतेयमम्बात्र किमेवं सखि ! तिष्ठसि ? । इत्युक्ते लवलिकया साथ सम्प्राप चेतनाम् ॥ ७२ ॥ ससंभ्रममथोत्थाय सापतत्पदयो-र्मम । दत्त्वाशिषं मयोत्थाप्य गाढमालिङ्गिता ततः ॥ ७३ ॥ निजोत्सङ्गे च संस्थाप्य चुम्बित्वाथ मुखाम्बुजे । सा मयाभिदधे वत्से ! विषादं मुञ्च सर्वथा ॥ ७४ ॥ सिद्धमेवेप्सितं पश्यायात एव पितैष ते । वर्त्तते घटिका नूनं जल्पन्त्यत्र प्रयोजने ॥७५॥ भाग्यानि क्व ममेयन्ति ? वदन्तीति शनैस्ततः । बभूवाधोमुखी वत्सा तदा चास्तं ययौ रविः ॥७६॥ वत्सां विनोदयन्तीभिः कथाभिः प्रीतिहेतुभिः । अस्माभिः शर्वरी साथ कथञ्चिदतिवाहिता ॥७७॥ प्रातर्लवलिका प्रोचे मयाथैवं हलेऽम्बरे । स्थित्वा स्वस्वामिनो मार्गं पश्य किं चिरयत्यसौ ? ॥ ७८ ॥ ततश्चेयं क्षणं व्योम्नि स्थित्वा मुदितमानसा । अवतीर्णा मया प्रोचे हले ! प्रमुदितासि किम् ? ॥ ७९ ॥ किंमागतस्तव[2]

१ 'त्वा च मु' क० घ०, 'ता च मु' ख० ग० । २ समा' ख० ।

स्वामी ? ततो गदितमेतया । न स्वामी किन्तु तौ राजपुत्रावम्ब ! समागतौ ॥ ८० ॥ ताभ्यां च वीक्षितं भर्तृदारिकादर्शनेच्छया । सर्वं वनं परं गुप्तदेशस्थेयमदर्शि न ॥ ८१ ॥ विषण्णः सोऽथ मित्रेण प्रोचे स्वामिसुताप्रियः । तले तस्यैव चूतस्य स्थीयतां गुणधारण ! ॥ ८२ ॥ दृष्टासीद्भवता यत्र सा स्मेराम्भोजलोचना । कदाचिद्दैवयोगेन सा तत्रैवाप्यते पुनः ॥ ८३ ॥ एवं भवत्विति ततो गदितेऽनेन तौ गतौ । तत्संमुखमिदं विद्धि हर्षकारणमम्ब ! मे ॥ ८४ ॥ किं मां प्रतारयस्येवमिति प्रोक्तेऽथ वत्सया । तत्प्रत्ययार्थं शपथशतान्येषा विनिर्ममे ॥ ८५ ॥ न प्रत्येति तथाप्येषा ततो लवलिका मया । प्रोचे किं बहुनानेन[1] कुमारं मम दर्शय ॥ ८६ ॥ येन तं स्वयमत्रैवानीय वत्सां प्रमोदये । एषाह प्रगुणास्म्येषा जवादम्बा प्रवर्त्तताम् ॥ ८७ ॥ ततो विमुच्य वत्सायाः पार्श्वे धवलिकामहम् । अनया लवलिकया सहायाता त्वदन्तिके ॥ ८८ ॥ परमार्थस्तदेषोऽत्र तां कण्ठगतजीविताम् । वत्सां मेऽनुग्रहं कृत्वा कुमारो द्रष्टुमर्हति ॥ ८९ ॥ कुलन्धरस्य वदने मयाथ प्रविलोकिते । कुमार ! गम्यतां कोऽत्र विरोधः ? इति सोऽवदत् ॥ ९० ॥ ततो वयं गतास्तत्र मया मदनमञ्जरी । ददृशेऽथ यथाख्याता साभिलापं तथाप्यहम् ॥ ९१ ॥ अन्योन्यालोकनाच्चैवं तदाऽऽवां मुदितौ भृशम् । सुखामृतमहाम्भोधिमग्नाविव बभूविव ॥ ९२ ॥ वत्से ! लवलिकावाक्ये किं जातः प्रत्ययोऽधुना ? । इत्युक्ता कामलतया स्थिता साधोमुखी ततः ॥ ९३ ॥ अत्रान्तरे च रोचिष्णुभूरिखेचरसंयुतः । रत्नैर्भृत्वा विमानानि तत्रागात् कनकोदरः ॥ ९४ ॥ ततो मिथः

१ किं बहुनानेन तावत् कुमारं ख० ।

कृतौचित्याः सर्वेऽपि न्यपदन् क्रमात् । मामैक्षिष्ट चिरं स्निग्धदृष्ट्या च कनकोदरः ॥ ९५ ॥ स एवायमिति ध्यात्वामुना मुदितचेतसा । पृष्टा कामलताचख्यौ तं वृत्तान्तमथाखिलम् ॥ ९६ ॥ तच्छ्रुत्वा सविशेषेण यावत् प्रमुदितोऽभवत् । तावदेत्याशु चटुलस्तत्कर्णे किञ्चिदाख्यत ॥ ९७ ॥ विलम्बेनालमित्युक्त्वा प्रियां सोऽथ कुलन्धरम् । पृष्ट्वा संक्षेपतः पाणिग्रहमावामकारयत् ॥ ९८ ॥ वज्रेन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागादिकानि च । रत्नानि तान्यदान्मह्यमुपरोध्य कुलन्धरम् ॥ ९९ ॥ अत्रान्तरे च सन्नद्धं समायातं नभस्तले । विद्याधरबलं वीक्ष्य जगाद कनकोदरः ॥ १०० ॥ भो ! भो ! विद्याधरास्तूर्णं सज्जीभवत संमुखाः । सोऽयं चटुलवृत्तान्तः साम्प्रतं स्फुटतां गतः ॥ १०१ ॥ सकोपा ये गताः पूर्वं तेऽमी संभूय खेचराः । समागताश्चैर्ज्ञात्वा दत्तां मदनमञ्जरीम् ॥१०२॥ एतेषामिदमाकूतं किलायं गुणधारणः । हीनो भूगोचरोऽसत्तो वयं विद्याधरोत्तमाः ॥ १०३ ॥ तदेते न पतन्त्यत्र यावदाह्लादमन्दिरे । प्रेरयामः क्षणात्तावद् गरुडा इव वायसान् ॥ १०४ ॥ तच्छ्रुत्वा स्वामिनो वाक्यं तेऽथ भूमिष्ठखेचराः । समुत्पतितुमारब्धास्तदा चाहमचिन्तयम् ॥ १०५ ॥ अहो ! न सुन्दरं जातमिदमेतेन हेतुना । यतो मत्कारणोऽमीषां प्रलयोऽत्र भविष्यति ॥ १०६ ॥ एवं मे ध्यायतः केनाप्यन्तरिक्षक्षितिस्थितम् । लेप्यनिर्मितवच्चक्रे स्तम्भित्वा तद्बलद्वयम् ॥ १०७ ॥ समं मदनमञ्जर्या निविष्टं वरविष्टरे । नभःस्थास्ते च मां वीक्ष्य खेचराः पर्यचिन्तयन् ॥१०८॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिर्नरस्यास्य महात्मनः । अहो ! मदनमञ्जर्याः पर्यालोचितकारिता ॥ १०९ ॥ ययायमीदृशो भर्त्ता गृहीतः स्वपरीक्षया । अमुनैव वयं नूनं स्तम्भिता निजतेजसा ॥ ११० ॥

यतो मदनमञ्जर्या वयस्येन च संयुतः। स्वयं मुत्कलदेहोऽयं दृश्यते न तु शेपकाः ॥ १११ ॥ तद्दुष्टं कृतमस्माभिर्नररत्नं यदीदृशम्। जिघांसितं महापापैः प्राप्तमेतद्धि तत्फलम् ॥ ११२ ॥ स्वामी तदयमस्माकं वयमस्य पदातयः। ध्यात्वेति शान्तकोपास्ते केनचिन्मुत्कलीकृताः ॥ ११३ ॥ समेत्य सत्वरं तेऽथ खेचराः क्रमयोर्मम। पतित्वा क्षमयित्वा च भृत्यभावं प्रपेदिरे ॥ ११४ ॥ दृष्ट्वा तच्चेष्टितं सोऽपि ससैन्यः कनकोदरः। शान्तकोपो मुत्कलोऽभूत्खेचराश्च मिथोऽमिलन् ॥ ११५ ॥ तं च विज्ञाय वृत्तान्तं तातो मे मधुवारणः। तत्राजगाम शुद्धान्तामात्यपौरादिसंयुतः ॥ ११६ ॥ ततो मदनमञ्जर्या खेचरैश्च समन्वितः। अभ्युत्थायानमं भक्त्या तातास्वाचरणानहम् ॥ ११७ ॥ ममाथ तादृशीं दृष्ट्वा समृद्धिमतिशायिनीम्। जनको जननी सर्वो लोकश्च मुमुदेतराम् ॥ ११८ ॥ महता च विमर्देन प्राविक्षाम पुरे वयम्। तातोऽथ तोपयामास दानाद्यैः कनकोदरम् ॥ ११९ ॥ गते सौख्यमये तत्र वासरेऽथ मया क्षपा। सार्द्धं मदनमञ्जर्या सुखेनैवातिवाहिता ॥ १२० ॥ प्रातः कुलन्धरोऽथैत्य मामूचे यन्मयैक्ष्यत। मानुपपञ्चकं स्वप्ने द्वे स्त्रियौ पुरुपास्त्रयः ॥ १२१ ॥ तैश्चाहं जगदे सौख्यं यदिदं गुणधारणे। यच्चान्यदपि तत्सर्वमस्मन्मूलं कुलन्धर ! ॥१२२॥ एवं तानि ब्रुवाणानि जग्मुश्चक्षुरगोचरम्। विनुद्रोऽहं कुमाराथ न जाने कानि तानि तु ? ॥ १२३ ॥ मयोक्तं कथ्यतामेप तातादिभ्यस्त्वयाधुना। स्वप्नो विज्ञायते येन भावार्थोऽस्य परिस्फुटः ॥ १२४ ॥ कुलन्धरोऽथ मद्युक्तो गत्वा विद्वद्युतं सदः। तातादिभ्यस्तमाचख्यौ स्वप्नं तेऽपि व्यचारयन् ॥ १२५ ॥ कुमारस्यानुकूलानि देवरूपाणि कानिचित्। वर्त्तन्ते तैर्मुदा स्वप्ने

तन्मित्रायेत्यकथ्यत ॥ १२६ ॥ तच्छ्रुत्वाथ मयाचिन्ति किमेतानि कुलन्धरः। पश्चाद्राक्षीत्पुरा किं वा चत्वारि कनकोदरः ? ॥ १२७ ॥ कथं वा कानि चैतानि ममैवं कार्यचिन्तनम्। कुर्वन्ति ? सर्वमेवेदं गहनं प्रतिभाति मे ॥ १२८ ॥ ततो यदि यतिं कञ्चिद्द्रक्ष्यामि ज्ञानिनं तदा। संदेहमेनं प्रक्ष्यामीत्यालोच्याहं हृदि स्थितः ॥ १२९ ॥ तेऽथ विद्याधराः सर्वे भृत्यभावं प्रपद्य मे। दिनानि कतिचित्तत्र स्थित्वा च स्वं पदं ययुः ॥ १३० ॥ ततो मदनमञ्जर्या सार्द्धं विलसतो मम। पूर्णसर्वाभिलापस्य ययौ कालः कियानपि ॥१३१॥ आह्लादमन्दिरेऽन्येद्युः सभार्यः सकुलन्धरः। गतोऽहं कन्दनामानमपश्यं मुनिपुङ्गवम् ॥ १३२ ॥ तं प्रणम्य न्यपीदं च तत्पुरः शुद्धभूतले। सोऽपि दत्त्वाशिषं मह्यं विदधे धर्म्मदेशनाम् ॥ १३३ ॥ तां चाकर्णयता सम्यक् प्रादुर्भूतौ पुनर्मया। तौ सम्यग्दर्शनसदागमौ दृष्टौ मृगेक्षणे ! ॥ १३४ ॥ ततस्तौ प्रत्यभिज्ञाय बान्धवौ हितकारणौ। गुरुवाक्यप्रबुद्धेन प्रपन्नौ भावतो मया ॥ १३५ ॥ इतश्च यः पुराख्यातो भूपतिर्विबुधालये। वेदनीयनरेन्द्रस्य पदातिः सातनामकः ॥ १३६ ॥ सोऽत्यन्तं मयि रक्तात्मा पुराप्यागान्मया सह। आसीत् तिरोहितः किन्तु प्रादुर्भूतस्तदा पुनः ॥१३७॥ युग्मम् ॥ ततो या प्रेयसीरत्नभोगजन्या सुखासिका। तदानीं गुरुमूले मे सानन्तगुणतां गता ॥ १३८ ॥ कुलन्धरेण मदनमञ्जर्यापि मयेव तौ। प्रतिपन्नावथ मुनिर्विदधे देशनां पुनः ॥ १३९ ॥ अत्रान्तरे चित्तवृत्तिमहाटव्यां प्रकम्पिताः। भयेन रोधकं हित्वा महामोहादयः स्थिताः ॥ १४० ॥ चारित्रधर्म्मराजोऽथ प्रोचे सद्बोधमन्त्रिणम्। अस्माकं तावदार्यैप निवृत्तो रोधकोऽधुना ॥ १४१ ॥ पृष्ट्वा कर्म्मपरीणामं विद्यामादय कन्यकाम्। पार्श्वे संसारिजीवस्य गन्तुं

ते युज्यते ततः ॥ १४२ ॥ कन्दसाधुसमीपस्थः साम्प्रतं स चरैर्मया । विज्ञातस्तत्र चावश्यं भवन्तं प्रतिपत्स्यते ॥ १४३ ॥ मन्त्री प्रोचेऽथ देवात्र विलम्बोऽद्यापि युज्यते । सातपुण्योदयौ मित्रे यतस्तत्रातिवत्सलौ ॥ १४४ ॥ कालं कियन्तमप्येतौ ततस्तं गुणधारणम् । भुञ्जानं विषयान् गेहे प्रसभं धारयिष्यतः ॥ १४५ ॥ ततस्तदनुवृत्त्यासौ यावत्तिष्ठति वेश्मनि । विद्यामादाय तावन्मे न गन्तुं तत्र युज्यते ॥ १४६ ॥ किन्त्वेष प्रेष्यतां देव ! कुमारः सपरिच्छदः । गृहिधर्म्मो यतोऽमुष्यावसरस्तत्र सुन्दरः ॥ १४७ ॥ गतमात्रमिमं यस्मात् स भावेन प्रपत्स्यते । यास्यामोऽवसरे जाते पश्चात्सर्वे वयं पुनः ॥ १४८ ॥ तच्छ्रुत्वा प्रैपि चारित्रधर्म्मेण स निजाङ्गजः । सोऽपि कर्म्मपरीणाममापृच्छ्यागान्मदन्तिके ॥ १४९ ॥ देशनां कुर्वता कन्दमुनिनाथ प्रकाशितम् । सभार्य्यमपरीवारं गृहिधर्म्मं सुभावतः ॥ १५० ॥ कुलन्धरेण मदनमञ्जर्या च समन्वितः । प्रपेदेऽहं विशेषेण बभूव च सुखासिका ॥ १५१ ॥ युग्मम् ॥ तं स्वप्नसंशयं सोऽथ मया पृष्टोऽवदन्मुनिः । विनातीन्द्रियवेत्तारं जायतेऽस्य न निर्णयः ॥ १५२ ॥ गुरवः केवलालोकभास्करा मम सन्ति च । सूरयो निर्मला नाम दूरदेशविहारिणः ॥ १५३ ॥ तत्पादमूलं यास्यामि वन्दनार्थमहं यदा । तदा तान् प्रश्नयिष्यामि त्वत्सन्देहमिमं ततः ॥ १५४ ॥ मयोचे यदि तेऽत्रैव गुरवस्ते कथञ्चन । आगच्छेयुस्ततस्तत् स्यात् सुन्दरादपि सुन्दरम् ॥ १५५ ॥ मुनिराह महाभाग ! गतोऽहं वचनेन ते । गुरून् विज्ञाप्य ते नूनं पूरयिष्ये मनोरथान् ॥ १५६ ॥ अथवा केवलालोकालोकिताखिलचेतसः ।

---

१ स्वभा° ता० । २ °तो मे स्यात् ग० ।

विज्ञाय भवतश्चित्तमागमिष्यन्ति ते स्वयम् ॥ १५७ ॥ केवलं गृहिधर्म्मेऽत्र सम्यग्दर्शनसंयुते । सदागमे च कर्त्तव्यो भवता तावदादरः ॥ १५८ ॥ तद्वचोऽहं प्रपद्याथ प्रेयसीसुहृदन्वितः । तं नत्वा स्वं ययौ गेहं गुरुमूलं मुनिः स तु ॥ १५९ ॥ कालक्रमेण तातेऽथ लोकोत्तरमुपेयुषि । बभूवाहं महाराजः पुरन्दर इवापरः ॥ १६० ॥ परं प्राप्तेऽपि तादृक्षे राज्ये गार्द्ध्यमभून्न मे । मैत्रीं सदागमाद्येषु बिभ्रतस्तेषु निर्भराम् ॥ १६१ ॥ आह्लादमन्दिरेऽन्येद्युस्तेऽथ निर्म्मलसूरयः । एयुस्तदागतिं चाख्यत्कल्याणाख्यः पुमान्मम ॥ १६२ ॥ पारितोषिकदानात् तं तोषयित्वाथ तोषभाक् । नमस्कर्तुमहं सूरिं प्रययौ सपरिच्छदः ॥ १६३ ॥ ततो हेमाम्बुजासीन नरामरनिषेवितम् । मुनिमण्डलमध्यस्थं तं वीक्ष्य मुमुदेतराम् ॥ १६४ ॥ मुक्त्वाथ राजचिह्नानि द्वादशावर्त्तवन्दनम् । दत्त्वा भगवतः शेषसाधूनहमवंदिषम् ॥ १६५ ॥ यथास्थानं निषण्णेषु सर्वेषु भगवानथ । चक्रे कर्म्मविपोत्तारसुधाभां धर्म्मदेशनाम् ॥ १६६ ॥ निशम्य देशनां तां च निःसङ्गसुखशंसिनीम्[1] । दीक्षोत्सुकं मनो मेऽभूत्प्रलघूभूतकर्म्मणः ॥ १६७ ॥ अत्रान्तरे कन्दमुनिः पप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रभुम् । विधातुं भगवन् ! कालविलम्बः कस्य दुःशकः ? ॥ १६८ ॥ प्रभुः प्राह स्वसन्देहं जिज्ञासोर्गुरुसन्निधौ । मुनिरूचे ततश्छिन्त गुणधारणसंशयम् ॥ १६९ ॥ एवं क्रियत इत्युक्ते गुरुणाथ मयोदितम् । महाननुग्रहो मेऽसौ ततः प्राह गुरुः पुनः ॥ १७० ॥ राजन्नयं ते सन्देहः स्वप्ने यत्कनकोदरः । चत्वारि मानुषाण्यद्राक्षीत् पञ्च तु कुलन्धरः ॥ १७१ ॥ कानि तानि ?

१ °शासिनीम् क० ख० ग० घ० ।

कथं वा मत्कार्यनिर्वर्त्तकानि च ? । किं तानि देवरूपाणि ? किं वा स्वप्नौ निरर्थकौ ? ॥ १७२ ॥ युग्मम् ॥ मयोक्तं भगवन्नेवमिदं प्राह गुरुस्ततः । महतीयं कथा राजन् ! सावधानोऽवधारय ॥ १७३ ॥ ततो भगवताऽसंव्यवहारनगरादिकाम् । कथयित्वा कथां सर्वां मदीयामित्यकथ्यत ॥ १७४ ॥ तदेवं चित्तवृत्तौ ते विद्यते राज्यमान्तरम् । महामोहादिभिस्त्वेतदभूदुद्दालितं पुरा ॥ १७५ ॥ ततो वामतया कर्म्मपरिणामनृपोऽप्यसौ । तदेव हि महामोहादिबलं परिपुष्टवान् ॥१७६॥ सम्प्रत्येषोऽनुकूलस्तेऽस्ति तेन प्रगुणीकृता । त्वां प्रति स्वप्रिया कालपरिणत्यभिधानिका ॥ १७७ ॥ प्रसादिता च ते भार्या भूपते ! भवितव्यता । प्रह्वीकृतोऽङ्गभूतश्च स्वभावः स्वमहत्तमः ॥ १७८ ॥ तथा प्रोत्साहितः पुण्योदयः सहचरस्तव । अवज्ञाताश्च ते किञ्चिन्महामोहादयो द्विपः ॥ १७९ ॥ चारित्रधर्म्मराजाद्याः सर्वेऽप्याश्वासिता मनाक् । दर्शिता सुखमाला च पूर्वमप्यन्तरान्तरा ॥ १८० ॥ यदादीष्टौ पुनस्ते सम्यग्दर्शनसदागमौ । तदादिकर्म्मपरिणामोऽनुकूलतरस्त्वयि ॥ १८१ ॥ तेन प्रोत्साहितः पुण्योदयोऽथ सुखसिद्धये । तवेमां दापयामास भार्यां मदनमञ्जरीम् ॥ १८२ ॥ किञ्च सर्वार्थकर्तृण्येतान्येवाहं तु नेति सः । महापुरुषभावेन कनकोदरभूपतेः ॥ १८३ ॥ स्वप्ने कर्म्मपरीणामः कालपरिणतिस्तथा । भवितव्यतया युक्तः स्वभावश्चेति नामतः ॥ १८४ ॥ आस्ते मदनमञ्जर्या वरोऽस्माभिर्निरूपितः । ब्रुवन्तीत्यादि चत्वारि मानुषाण्यप्यदर्शयत् ॥ १८५ ॥ निशेषकम् ॥ अथ भद्र ! त्वयात्मापि प्रकाश्यस्त्वां विना यतः । चत्वार्यपि शुभं कार्यं न वयं कर्तुमीश्महे ॥ १८६ ॥ इति कर्म्मपरीणामादिष्टः पुण्योदयः पुनः । कुलन्धरायादर्शयत् तानि पञ्चात्मना सह ॥ १८७ ॥

॥ युग्मम् ॥ मानुषाणि तदेतानि तान्येतच्च नरेश्वर ! । तेषां चतुर्णां पञ्चानां चेक्षणे विद्धि कारणम् ॥ १८८ ॥ किञ्च कर्म्मपरीणामस्यास्य सेनापती उभौ । विद्येते प्रबलौ पापोदयपुण्योदयाभिधौ ॥ १८९ ॥ तत्रादिमो महामोहभूपालबलपोषकः । चारित्रधर्म्मसैन्यस्य वृद्धिहेतुः परः पुनः ॥ १९० ॥ एवं स्थिते च तान्येव प्रतिकूलानि तेऽनघम् । पापोदयान्मानुषाणि जायन्ते दुःखकारणम् ॥ १९१ ॥ तान्येव चानुकूलानि पुण्योदयवशात्तव । सुखसन्दोहदायीनि भवन्ति गुणधारण ! ॥ १९२ ॥ किञ्च पापोदयो मित्रं मूलादारभ्य तेऽभवत् । तत्रैव ते प्रसिद्धत्वाद्दर्शितः क्वापि भार्यया ॥ १९३ ॥ किं बहुनात्र यत्प्राप्तं प्राप्स्यते च शुभाशुभम् । त्वया तत्रोपयुक्तानि तान्येव ननु कारणम् ॥ १९४ ॥ अत एव च ते पुण्योदयेन प्रेरिता तदा । भूचरद्युचरे सैन्ये तस्तम्भ वनदेवता ॥ १९५ ॥ मयोदितं भदन्ताहं किमकिञ्चित्करस्ततः । सूरिराह महाराज ! मैवं मंस्थाः कदाचन ॥ १९६ ॥ त्वमेव योग्यतापेक्षः प्रधानं कारणं यतः । सुन्दरेतरवस्तूनां सहकारीणि तानि तु ॥ १९७ ॥ मयोक्तं नाथ ! यद्येवं मम कार्यप्रसाधने । किं कारणानीयन्त्येव किं वान्यदपि विद्यते ? ॥ १९८ ॥ सूरिरूचे महाराज ! सर्वज्ञः सुस्थितोऽस्ति यः । निर्वृतौ पुरि तस्याज्ञाप्यत्रार्थे कारणं परम् ॥ १९९ ॥ लङ्घिता सा हि दुःखाय पुराभूदधुना तु ते । पालिता सुखलेशाय ततोऽपृच्छमहं पुनः ॥ २०० ॥ लब्धेष्टभार्यारत्नस्य प्राप्तराज्यस्य च प्रभो ! । उररीकृतसम्यक्त्वगृहिधर्म्मस्य चापि मे ॥ २०१ ॥ विद्यते योऽयमानन्दः सोऽपि सौख्यलवो यदि । परिपूर्णं ततः कीदृक् सौख्यं मम भविष्यति ? ॥ २०२ ॥ युग्मम् ॥ गुरुः प्राह दश भवान् कन्यकाः परिणेष्यति । ततस्ताभिः सह प्रेमाबन्धे किमपि

यत्सुखम् ॥ २०३ ॥ तदीयापेक्षया सौख्यलेश एवायमस्ति ते । मयाथ गदितं पूज्यपादाः किं निर्दिशन्त्यदः ? ॥ २०४ ॥ यतस्तिष्ठाम्यहं त्यक्त्वाप्येतां मदनमञ्जरीम् । दीक्षां जिघृक्षुरन्यास्तत्परिणेष्यामि ताः कथम् ? ॥ २०५ ॥ सूरिराह सहैताभिस्त्वां दीक्षिष्यामहे वयम् । स्थितोऽहमेतच्चाकर्ण्य किमेतदिति विस्मितः ॥ २०६ ॥ ततः कन्दमुनिः प्राह कतमास्ताः सुकन्यकाः ? । याः प्रभो ! परिणेतव्या राज्ञाथ गुरुरब्रवीत् ॥ २०७ ॥ चित्तसौन्दर्यपुरे शुभपरिणामभूपतेः । निष्प्रकम्पताचारुताजाते क्षान्तिदये सुते ॥ २०८ ॥ तथा शुभ्रमानसेशशुभाभिसन्धिभूपतेः । वरतावर्यतोद्भूते मृदुतासत्यते सुते ॥ २०९ ॥ तथा शुद्धाभिसन्धेः स्तो विशदमानसेशितुः । शुद्धपापभीरुतयोः[1] ऋजुताचौरते[2] सुते ॥ २१० ॥ तथा च शुभ्रचित्तेशसदाशयनरेशितुः । सुते वरेण्यतादेव्यां(°व्याः)स्तो ब्रह्मरतिमुक्तते ॥ २११ ॥ तथा सम्यग्दर्शनस्य विद्याख्या मानसी सुता । सुता चारित्रधर्म्मस्य विरत्यां च निरीहता ॥ २१२ ॥ कन्या दशैतास्ताः कर्म्मपरिणामो महिपतिः । स्वकुटुम्बस्य मन्त्रेण राज्ञेऽस्मै दापयिष्यति ॥ २१३ ॥ किन्तु कन्दमुने ! कर्म्मपरिणामानुकूलताम्[3] । राज्ञापि वाञ्छताभ्यस्या मैत्र्यादिगुणसंहतिः ॥ २१४ ॥ षण्मासमात्रकालेन कुर्वतोऽस्य च मद्वचः । विद्यामादाय सद्बोधमन्त्री सम्यक् समेष्यति ॥ २१५ ॥ विवाह्य कन्यकामेतां स्थास्यत्यस्यान्तिके च सः । यदसौ किमपि ब्रूते राज्ञा कार्यं ततश्च तत् ॥ २१६ ॥ प्रभो ! महाप्रसादोऽयमित्युक्त्वाहं प्रणम्य च । प्रविष्टोऽहं पुरे कर्तुमारब्धोऽथ गुरोर्वचः ॥२१७॥ अन्यदा भगवद्वाक्यं भृशं भावयतो निशि । मम सुप्त-

१ शुद्धतापापभीरुतयोरित्यर्थः । २ °चोरते ता० क० ख० घ । ३ °लनम् ता० ।

प्रबुद्धस्य सद्बोधः पार्श्वमाययौ ॥ २१८ ॥ तत्त्वावगमसंवेगस्तन्यास्तिक्यमुखी मया। दृष्टाथ प्रशमारोहा चित्रा
कन्या तदन्तिके ॥ २१९ ॥ तद्दत्ता च मयोढा सा हृष्टाः सदागमादयः। प्रातः पृष्टो मया गत्वा हर्षहेतुं गुरुर्जगौ
॥ २२० ॥ यत्कर्म्मपरिणामेन राजँस्त्वद्भृत्ततोषिणा। विद्यामादाय सद्बोधः ससैन्यः प्रैषि तेऽन्तिकम् ॥ २२१ ॥
ज्ञानसंवरणपापोदयाद्यैरस्य वर्त्म च। अन्तरागत्य रुरुधे ततोऽभूद्दारुणो रणः ॥२२२॥ सद्भावनाप्रवृत्ते च त्वयि
तत्सबलं बलम्। सद्बोधस्याभवत्तेन नष्टाः पापोदयादयः ॥ २२३ ॥ प्रहृत्याथ विशेषेण ज्ञानसंवरणं नृपम्।
सद्बोधस्तेऽन्तिकं लब्धजयो विद्यायुगाययौ ॥ २२४ ॥ तदेष हर्षहेतुस्ते पुनस्ते रणकारिणः। क्षीणोपशान्ता
निर्वास्याः सद्बोधादेशतस्त्वया ॥२२५॥ इत्युक्त्वा सूरयोऽन्यत्र जग्मुर्मेऽथ गुरोर्गिरा। वर्त्तमानस्य सद्बोधश्चित्त-
वृत्तावदर्शयत् ॥ २२६ ॥ नरौ द्वौ स्त्रीत्रययुतौ मामवोचच्च नामतः। धर्म्मशुक्लाविमौ पीतपद्मशुक्ला इमास्तथा
॥ २२७ ॥ युग्मम् ॥ ततो राज्येऽन्तरङ्गे ते नरावेतौ प्रवेशकौ। तथाद्ये योषितावाद्यं पुष्णीतोऽन्यापरं पुनः
॥ २२८ ॥ तदेतयोस्तथैतासु यत्नः कार्यस्त्वया महान्। ततो मयोदितं सर्वं करिष्याम्यार्य! ते वचः ॥ २२९ ॥
ततः कुर्वंस्तदादेशं प्रविशामि पुनः पुनः। चित्तवृत्तौ विलसामि तया च सह विद्यया ॥ २३० ॥ मानयामि
च सद्बोधादीनेवं कुर्वतो मम। गते गुरौ कियन्न्यूनं लङ्घितं मासपञ्चकम् ॥ २३१ ॥ ततस्तुष्टेन मे कर्म्मपरि-
णामेन दापिताः। ताः कन्यास्तत्पितृभ्योऽहं चित्तवृत्तावनैषि च ॥ २३२ ॥ सात्त्विकमानसवर्त्तिविवेकाद्रिस्थितेऽ-

१ °स्तनाऽऽस्ति° ख०। २ प्रशमनितम्बा इत्यर्थः। ३ °स्तद्वृ° ता० क० ग० घ०। ४ °वनीषि च ता० क० ग० घ०।

·र्स्म्यथ। नीतो जैनपुरे शुभपरिणामादयोऽमिलन् ॥२३३॥ तेषां सपरिवाराणामुपचारः कृतस्ततः। गणितं मे विवाहस्य दिनं क्षान्त्यादिभिः सह ॥२३४॥ अत्रान्तरे महामोहादयो युद्धोद्यता अपि। मद्भर्तुरधुना कर्म्मपरिणामोऽनुकूलधीः ॥२३५॥ ततोऽहमेव प्रस्तावं ज्ञापयिष्ये रणस्य वः। भवितव्यतयेत्युक्त्वा सम्परायान्निवारिताः ॥२३६॥ युग्मम् ॥ तथापि दुष्करा दीक्षेत्यादयः कुविकल्पकाः। शत्रुभिर्मे कृतास्तेऽपि सद्बोधस्य गिरा हताः ॥२३७॥ तेन चित्तसमाधाने नीतोऽहं मे च[1] दर्शिताः। चारित्रधर्म्मराजाद्यास्तैः प्रपन्ना च भृत्यता ॥२३८॥ निर्वासिता मदादेशान्महामोहादयोऽथ तैः। शोधिता चित्तवृत्तिश्च भग्नान्यरिपुराणि च ॥ २३९ ॥ विवाहः कर्त्तुमारेभेऽथान्तरैर्बन्धुभिर्मम। स्थापिता मातरस्तत्र चाष्टौ समितिगुप्तयः ॥२४०॥ धर्मेण निर्मितं तत्र वह्निकुण्डं स्वतेजसा। जज्ञे पुरोधाः सद्बोधः कर्म्माणि समिधो हुताः ॥ २४१ ॥ ततः सदागमज्योतिषिकेणाहं विधापितः। क्षान्त्यादिकन्यकोद्वाहं तुष्टास्तत्पितरोऽखिलाः ॥२४२॥ तथा शुभपरीणामतनया अपरा अपि। तन्निष्प्रकम्पताजाता मया बह्वयो विवाहिताः ॥२४३॥ एताश्च ता धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः। मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥२४४॥ ततस्तेन स्वभार्याणां वृन्देन सह लीलया। अत्यर्थं निर्भरीभूता लैलतो[3] मे सुखासिका ॥ २४५ ॥ चिन्तितं च मया सैष सुखस्तोमोऽनुभूयते। यः सूचितो मम पुरः पुरा निर्म्मलसूरिभिः ॥ २४६ ॥ अन्यदा तत्र सम्प्राप्ताः श्रीमन्निर्मलसूरयः। गत्वा तत्राथ वन्दित्वा प्रव्रज्या याचिता मया ॥ २४७ ॥ सूरिराह महाराज!

१ °रिग च ता०। २ ऽथ दर्शिताः ख०। ३ लसतो क० ख० ग० घ०।

भावतोऽस्त्येव सा तत्र । केवलं व्यवहारेण दातव्या द्रव्यतोऽधुना ॥ २४८ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा ततोऽहं जनतारणम् । राज्ये न्यस्य सुतं कृत्यं कृत्वान्यदपि चोचितम् ॥ २४९ ॥ समं मदनमञ्जर्या कुलन्धर-सुहृद्युतः । श्रीमन्निर्म्मलसूरीणां पादान्ते व्रतमाददे ॥ २५० ॥ युग्मम् ॥ ततो मेऽभ्यस्तशिक्षस्य वल्लभोऽभूत्सदागमः । तथा स्थिरतरीभूतः स सम्यग्दर्शनोऽपि हि ॥ २५१ ॥ प्रमत्ततापगादीनि रिपुक्रीडास्पदानि च । भग्नानि सुतरां चित्तवृत्तिश्चक्रेऽतिनिर्म्मला ॥ २५२ ॥ एवं विहृत्य पर्यन्ते विहितानशनस्य मे । भवितव्यतया तोपाद्परा गुटिका ददे ॥ २५३ ॥ तत्तेजसा च नीत्वाहं स्थापितो विबुधालये । कल्पातीतेषु विबुधेष्वाद्यग्रैवेयके सुखम् ॥ २५४ ॥ ततश्चैरवते सिंहपुरे वेणामहेन्द्रयोः । सुतो गङ्गाधरो नाम क्षत्रियो निर्मितस्तया ॥ २५५ ॥ लात्वा जातिस्मृतेर्दीक्षां सुघोषाचार्यसन्निधौ । ग्रैवेयके द्वितीयेऽगां भार्यादेशेन पूर्ववत् ॥ २५६ ॥ परिपाट्यानया भद्रे ! कृताः पञ्च गमागमाः । भावदीक्षां समादाय ग्रैवेयकनिवासिषु ॥ २५७ ॥ एकैकवृद्ध्या जातानि तत्र तत्र ममानघे ! । सागरोपमानि यावत् पञ्चमे सप्तविंशतिः ॥ २५८ ॥ ततश्च पष्ठवारायां भरते शङ्खनामके । पुरे मनुजगत्यन्तधातकीखण्डमण्डने ॥ २५९ ॥ पुत्रो भद्रामहागिर्योर्जातोऽहं सिंहनामकः । राजवंशे शुभाकारः क्रमात्पाप्तश्च यौवनम् ॥ २६० ॥ युग्मम् ॥ अन्यदा धर्म्मबन्ध्वाख्यगुरोः पार्श्वे व्रतं मया । जगृहेऽथ समभ्यस्तो द्वादशाङ्गः सदागमः ॥ २६१ ॥ ततश्च स्थापितः स्थाने निजेऽहं गुरुणा तदा । देवाद्यैरुत्सवश्चक्रे श्लाघितश्चाखिलैर्जनैः ॥ २६२ ॥ ततो मे कुर्वतो व्याख्यां हेलानिर्जितवादिनः । पूजितस्य च राजाद्यैरुल्ललास यशोभरः ॥ २६३ ॥

ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य समृद्धिं भुवनाद्भुताम्। ईर्ष्ययेव महापापा रुष्टा मे भवितव्यता ॥ २६४ ॥ महामोहादि-भिरथ ज्ञापितावसरैस्तया। पर्यालोचेन विषयाभिलाषस्य ममान्तिके ॥ २६५ ॥ मिथ्यादर्शनयुक्तोऽपि ज्ञानसंवरणो नृपः। शैलराजो गौरवाख्यनरत्रययुतस्तथा ॥ २६६ ॥ तदनु प्रेषितो रौद्राभिसन्धिकृतसन्निधिः। आर्त्ताशयाख्यः पुरुषस्ततस्तस्य च पृष्ठतः ॥ २६७ ॥ स्वत एवाययुः कृष्णनीलकापोतनामिकाः। स्त्रियस्तिस्रः स्वयं चैतैर्महामोहादिवैरिभिः ॥ २६८ ॥ प्रमत्ततां प्रवाह्योच्चैर्मण्डपादीनि तान्यलम्। कृतानि विस्मृतं मेऽथ सार्द्धं पूर्वचतुष्टयम् ॥ २६९ ॥ विशेषकम् ॥ ततोऽनन्तानुबन्धाख्यशैलराजोदये सति। मिथ्यादर्शनवश्योऽहमभवं मूढ-चेतनः ॥ २७० ॥ गौरवत्रितयस्यापि मयाथ वशवर्त्तिना। त्यक्तमुग्रविहारित्वं शिथिलत्वं तथादृतम् ॥ २७१ ॥ ततश्चारित्रधर्म्माद्याश्चित्तवृत्तौ तिरोहिताः। जातः श्रमणवेषोऽपि मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥ २७२ ॥ ततो रुष्टेन मे कर्म्मपरिणामेन भूभुजा। पापोदयं पुरस्कृत्य समादिष्टौ मया सह ॥ २७३ ॥ तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधौ मन्त्रि-बलाधिपौ। समन्वितस्ततस्ताभ्यामहं पापोदयेन च ॥ २७४ ॥ भवितव्यतयैकाक्षनिवासे गुटिकावशात्। नीत्वा-ऽवस्थापयाञ्चक्रे वनस्पत्याख्यपाटके ॥ २७५ ॥ विशेषकम् ॥ प्रासादापवरकाणां नीत्या पूर्वोक्तयात्र च। कालं कियन्तमप्यस्थामन्यान्या गुटिका अदन् ॥ २७६ ॥ ततो नीतोऽन्यदान्येषु पाटकेषु पुरेषु च। पञ्चाक्षपशुसंस्था-नेऽथानीतश्च कदाचन ॥२७७॥ ततो विशुद्धभावत्वान्नीतोऽस्मि विबुधालये। मुहुर्गमागमैर्व्यन्तरादिकल्पाष्टकावधि[1]

---

१ °कावधेः ग०।

॥ २७८ ॥ ततश्च मानवावासेऽपि कर्म्माकर्म्मभूमिषु । नीत्वा कल्पोपपन्नेषु कदापि क्वापि निर्म्मितः ॥ २७९ ॥ तथा च लब्ध्वार्हद्दीक्षां तपोनिष्टप्तदेहकः । युक्तः क्रियाकलापेन ध्यानाभ्यासपरायणः ॥ २८० ॥ केवलं किञ्चिदाप्तोक्तं पदं वाक्यमथाक्षरम् । अश्रद्दधदहं जातः सर्वग्रैवेयकेष्वपि ॥ २८१ ॥ युग्मम् ॥ भ्रमण-स्यास्य हेतुश्च भद्रे ! स्वैर्दुष्टचेष्टितैः । यत् सिंहाचार्यताकाले शैथिल्यं विदधे मया ॥ २८२ ॥ अथागृहीतसङ्केता प्राहैतद्धि न केवलम् । दुःखं पूर्वोक्तमपि ते कृतं स्वैरेव दुष्कृतैः ॥२८३॥ संसारिजीवः प्रोचेऽथ सुभ्रु ! त्वं वर्त्तसेऽधुना । नाम्नाऽगृहीतसङ्केता भावतस्तु विचक्षणा ॥ २८४ ॥ तदाकर्णय चार्वङ्गि ! साम्प्रतं येन हेतुना । जातोऽहमीदृशावस्थस्तस्कराकारधारकः ॥ २८५ ॥ ततो ग्रैवेयकादन्त्यादानीतोऽहं महेलया । पुरीं मनुजगत्यन्तःपातिनीं क्षेमनामिकाम् ॥ २८६ ॥ सा च मनुजगत्यन्तर्महाविदेहनामके । हट्टमार्गेऽस्तीत्यग्रेऽपि जानाति भवती किल ॥ २८७ ॥ सुकच्छविजयस्थानमिदं भद्रे ! निगद्यते । यत्र स्थिता वयं यूयं पुरी सा च मनोहरा ॥ २८८ ॥ तत्रास्ति सूर्यवद् धाम्नां धाम राजा युगन्धरः । तद्दृष्ट्योत्फुल्लवक्त्राब्जा देव्यस्य नलिनीति च ॥ २८९ ॥ चतुर्दशमहास्वप्नालोकसूचितचक्रितः । तस्याः कुक्षावहं क्षिप्तो भवितव्यतया ततः ॥ २९० ॥ परिपूर्णेऽथ कालेऽहं जातः पुण्योदयान्वितः । जन्मोत्सवं च पितरौ कारयामासतुर्मुदा ॥ २९१ ॥ ततो महाप्रमोदेन लङ्घिते मासमात्रके । मम प्रतिष्ठितं नाम यथायमनुसुन्दरः ॥ २९२ ॥ ततोऽभ्यस्तकलः प्रापं तारुण्यकमहं क्रमात् । यौवराज्येऽभिषिक्तोऽथ तातेनोत्सवपूर्वकम् ॥ २९३ ॥ पितर्युपरते चाहं षट्खण्डविजयाधिपः । चक्रवर्त्यभवं

भोगसरःकर्दमसूकरः ॥ २९४ ॥ एवं च पूर्वलक्षाणां किञ्चिदूना गता मम। चतुर्भिरधिकाशीतिः राज्य-साम्राज्यशालिनः ॥ २९५ ॥ अन्यदा च ससैन्योऽहं देशदर्शनकाम्यया। प्राप्तश्चित्तरमोद्यानेऽस्मिन् शङ्खपुरमण्डने ॥ २९६ ॥ इतश्च यानि मेऽभूवन् गुणधारणजन्मनि। तद्यथा प्रथमो धर्मदेष्टा कन्दाभिधो मुनिः ॥ २९७ ॥ कुलन्धरो वयस्यश्च भार्या मदनमञ्जरी। तान्यप्येषा भवचक्रेऽभ्रमयद्भवितव्यता ॥ २९८ ॥ सोऽथ कन्दमुनिः क्वापि कृतमायः समाहृतः। अस्यैव विजयस्यान्तर्भूते हरिपुरेऽनया ॥ २९९ ॥ तत्र भीमरथो राजा सुभद्रा तस्य च प्रिया। समन्तभद्रनामा च तयोरस्ति तनूद्भवः ॥ ३०० ॥ ततः कुक्षौ सुभद्रायास्तया कन्दः प्रवेशितः। क्रमाच्च निर्गतो जाता महाभद्राभिधा सुता ॥ ३०१ ॥ समन्तभद्रो जग्राह गृहवासपराङ्मुखः। युवापि हि परिव्रज्यां सुघोपाचार्यसन्निधौ ॥ ३०२ ॥ क्रमादधीतनिःशेषसिद्धान्तं तं महामतिम्। स्वपदे स्थापयामासुर्गुरवो गुणवेदिनः ॥ ३०३ ॥ महाभद्रां च तां रविप्रभपद्मावतीसुतः। राजा गन्धपुराधीशः परिणिन्ये दिवाकरः ॥ ३०४ ॥ दैवात् तस्मिंश्च पञ्चत्वं गते सा व्रतमग्रहीत्। भ्रात्रा समन्तभद्रेण सूरिणा प्रतिबोधिता ॥ ३०५ ॥ प्रवर्त्तिनीपदेऽस्थापि गीतार्था सा च सूरिभिः। विहरन्ती च सम्प्राप पुरे रत्नपुरेऽन्यदा ॥ ३०६ ॥ तस्मिन्मगधसेनाख्यः समस्ति पृथिवीपतिः। सर्वान्तःपुरसारास्य देवी नाम्ना सुमङ्गला ॥ ३०७ ॥ इतः सा तत्सुतात्वेन कृता मदनमञ्जरी। भवितव्यतया साभून्नाम्ना सुललितेति च ॥ ३०८ ॥ उद्यौवनापि पुरुषद्वेषिणी सा नृपात्मजा।

---

१ निर्गमे जाता ग०। २ महीपतिम् ग०। ३ साऽथ सू° क० ख० ग० घ०।

नरं कमपि नैवेप विपण्णौ पितरौ ततः ॥ ३०९ ॥ तत्रायातां महाभद्रां श्रुत्वा तामथ वन्दितुम् । जग्मतुस्तौ सपुत्रीकौ हृष्टौ देवीनरेश्वरौ ॥ ३१० ॥ वन्दित्वाथ यथास्थानं तयोरासीनयोः पुरः । सापि भद्रां महाभद्रा विदधे धर्म्मदेशनाम् ॥ ३११ ॥ मौग्ध्यादबुद्ध्यमानापि स्फुटं भगवतीवचः । तत्र पूर्वभवस्नेहात् तातं सुललितावदत् ॥ ३१२ ॥ भगवत्या मया तात! सेव्यं पादाम्बुजद्वयम् । ततो मामनुजानीहि येन यामि सहैतया ॥ ३१३ ॥ ततः सुमङ्गलारोदीद् राजोचे देवि! मा रुदः । करोत्वेतदियं भाव्यस्या विनोदोऽयमेव यत् ॥ ३१४ ॥ स्थेयं गृहस्थया किन्तु भगवत्यन्तिकेऽनया । दीक्षाग्रहणवार्त्तापि कार्या नास्मदपृच्छया ॥ ३१५ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा ततः सुललितापि सा । प्रावर्त्तत प्रवर्त्तिन्या सार्द्धं विचरितुं धराम् ॥ ३१६ ॥ कर्म्मोदयवशात् किन्तु कथ्यमानमपि स्फुटम् । सामाचार्यादिकं नैव बुध्यते किञ्चिदप्यसौ ॥ ३१७ ॥ आयातात्र महाभद्रा पुरे शङ्ख-पुरेऽन्यदा । नन्दस्य श्रेष्ठिनो पद्मशालायामध्युवास च ॥ ३१८ ॥ इतश्चात्र पुरे राजा श्रीगर्भो मम मातुलः । महाभद्रामातृष्वसा कमलिन्यस्य च प्रिया ॥ ३१९ ॥ उपयाचितकादीनि भूयांसि तनयार्थिनी । चक्रे भूपप्रिया सा च किमार्त्तः कुरुते न हि ? ॥३२०॥ भवितव्यतया सोऽथ कृतपुण्यः कुलन्धरः । तस्याः प्रवेशितः कुक्षौ दृष्टः स्वप्नोऽनया ततः ॥ ३२१ ॥ पुरुषः सुन्दराकारो मुखेनाङ्गं प्रविश्य मे । निर्गत्य च गतः क्वापि नरेण सह केनचित् ॥ ३२२ ॥ स चाख्यातस्तया भर्त्रे स्वप्नस्तेनोदितं ततः । भावी सुतस्ते किन्त्वाप्य गुरुं स प्रव्रजिष्यति ॥ ३२३ ॥ ततः कमलिनी तुष्टा मासेऽथास्यास्तृतीयके । धर्म्मकृत्ये दोहदोऽभूद्भूपेन स च पूरितः ॥ ३२४ ॥ पूर्णे काले ततो

जातः सुतोऽथ नृपतिर्मुदा । जन्मोत्सवं पौण्डरीक इत्याख्यां चास्य निर्ममे ॥३२५॥ इतः समन्तभद्रोऽपि भगवान् जातकेवलः । अत्र चित्तरमोद्याने समेत्य समवासरत् ॥ ३२६ ॥ पौरलोकोऽथ तं नन्तुं महाभद्रा च निर्ययौ । तमायातं सुललिता कथञ्चिद् बुबुधे न तु ॥ ३२७ ॥ वन्दित्वा देशनां श्रुत्वा स्वं स्वं स्थानं जनेष्वथ । गतेषु भगवानेवं महाभद्रामभाषत ॥ ३२८ ॥ आर्ये ! तावन्नृपसुतः पौण्डरीकः क्रमादसौ । भविष्यति हि मे शिष्यः प्रशस्यगुणभाजनम् ॥ ३२९ ॥ ततो राजकुलं गत्वा राजसूनुरसौ त्वया । प्रतिचर्यः प्रतिदिनं तत्पित्रोरनुवर्त्तनात् ॥ ३३० ॥ तथेति प्रतिपद्याथ तद्वचः सा स्वमाश्रयम् । ययौ तच्च गुरोर्वाक्यं विधातुमुपचक्रमे ॥ ३३१ ॥ इतः सुललिता सापि विचरन्त्यन्यदाययौ । तत्र चित्तरमोद्याने सूरीन्द्रं तं ददर्श च ॥ ३३२ ॥ तमेवं च तदा पौराः पप्रच्छुर्यदसौ प्रभो ! । वर्धमानः पौण्डरीकः कीदृग् भावी नृपात्मजः ? ॥ ३३३ ॥ सूरिरूचे क्रमादेष वर्द्धमानो भविष्यति । गुणानामेक आधारो रत्नानामिव सागरः ॥ ३३४ ॥ किञ्चैष जनितः कर्म्मपरिणामेन भूभुजा । शुभेन शुभया कालपरिणत्या च निश्चितम् ॥ ३३५ ॥ स्वयं च भव्यपुरुषः सुमतिश्चैष वर्त्तते । ततो योक्ष्यत एवायं सर्वैरपि गुणैः क्रमात् ॥ ३३६ ॥ यदि वालं बहूक्तेन भूत्वासौ मत्समो गुणैः । भविष्यत्यचिरादेवं भवतां नयनोत्सवः ॥ ३३७ ॥ तच्छ्रुत्वा तेषु सर्वेषु पौरेषु मुदितेष्वलम् । दध्यौ सुललिता सैवं विस्मयापूर्णमानसा ॥३३८॥ सर्वज्ञ इव को ह्येष भावानाख्याति भाविनः ? । कथं वा पौण्डरीकस्य पित्रोर्नामविपर्ययम् ?

१ पुण्ड° क० ख० ग० घ० । २ प्रशमगुणभाजनम् ता० । ३ °प भ° ता० ।

॥ ३३९ ॥ पौण्डरीकाभिधानोऽपि भूमर्त्तुरयमात्मजः । कथं वा भव्यपुरुषः सुमतिश्चेति शंसितः ? ॥ ३४० ॥ एनं सन्देहसन्दोहं तत्प्रक्ष्यामि प्रवर्त्तिनीम् । स्वरूपं सर्वभावानां वेत्ति प्रायेण सा यतः ॥ ३४१ ॥ पर्यालोच्येति वसतिं गत्वा सुललिता ततः । मनश्चिन्तितमप्राक्षीत् महाभद्रां सविस्मया ॥ ३४२ ॥ उपायेनामुनैवास्या मुग्धायाः श्रीजिनागमे । प्रीतिं संजनयामीति ध्यायन्ती साप्यदोऽवदत् ॥ ३४३ ॥ तत्र चित्तरमोद्याने भगवान् श्रीसदागमः । त्वया सुललिते ! मन्ये निन्ये नयनगोचरम् ॥ ३४४ ॥ यतो भूतभवद्भाविभावाभावावभासनम् । कर्तुं स एव पद्माक्षि ! पटिष्ठः कोऽपि नापरः ॥ ३४५ ॥ कर्म्मपरिणामकालपरिणत्यङ्गजन्मता । या पौण्डरीकमुद्दिश्य तेनोक्ता सापि सुन्दरा ॥ ३४६ ॥ विविधौ पितरौ बाह्यौ यतो यद्यपि जन्मिनाम् । तथापि तत्त्वतस्तेषां तावेव जनकौ मतौ ॥ ३४७ ॥ तौ विना हि न कोऽप्यन्यो विश्वमेतच्चराचरम् । क्षमः स्रष्टुं पौण्डरीकस्यापि तौ जनकौ ततः ॥ ३४८ ॥ पौण्डरीकाभिधानोऽपि भव्यत्वाद् भव्यपूरुषः । सन्मतित्वाच्च सुमतिः समाख्यातश्च तेन सः ॥ ३४९ ॥ ततो धन्यासि कल्याणि ! कल्याणैकनिकेतनम् । सदागमः स भगवान् यया साक्षान्निरैक्ष्यत ॥ ३५० ॥ मयापि च महाभागे ! ज्ञायते यत्किमप्यदः । तत्तस्य चरणाम्भोजसेवासंजनितं फलम् ॥ ३५१ ॥ तदेष परमो बन्धुः पिता माता प्रभुर्गुरुः । सर्वेषामपि सत्त्वानामिति भद्रे ! विभाव्यताम् ॥ ३५२ ॥ अथावोचत्सुललिता ललिताक्षरया गिरा । सार्द्धं भगवता तेन ममापि कुरु संस्तवम् ॥ ३५३ ॥ साधु साध्विति जल्पन्ती महाभद्राथ तां द्रुतम् । तदभ्यर्णेऽनयत् तं च प्रणमय्य न्यवेशयत् ॥ ३५४ ॥ विलोक्याद्भुतमाकारं तस्याकर्ण्य च

देशनाम् । बहुमानोऽभवद् भूपपुत्र्यास्तत्र सदागमे ॥ ३५५ ॥ अभ्यधाच्च महाभद्रां कृतार्था भगवत्यसि । यस्याः परिचयोऽनेन पुरुषेण महात्मना ॥ ३५६ ॥ अहं तु मन्दभाग्यास्मि विश्वत्रितयबान्धवः । ददृशे यद् दृशाप्येष नेयन्तं समयं यया ॥ ३५७ ॥ स्वार्थैकनिष्ठतां मन्ये तत्रापि भगवत्यहम् । यया न दर्शितः कालमियन्तं भगवानयम् ॥ ३५८ ॥ सम्प्रत्यपि ततो मेऽसौ दर्शनीयो दिने दिने । भवतीव भवाम्युच्चैर्येनाहमपि पण्डिता ॥ ३५९ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते प्रवर्त्तिन्याथ तद्युता । चक्रे सुललिता नित्यं भगवत्पर्युपासनम् ॥ ३६० ॥ लङ्घिते मासकल्पेऽथ सूरिरूचे प्रवर्त्तिनीम् । क्षीणजङ्घाबलासि त्वं तिष्ठात्रैव ततोऽनघे ! ॥ ३६१ ॥ विहृत्य वयमन्यत्र कतिचिद्दिवसान्पुनः । भूयोऽप्यत्र समेष्यामः प्रतिजागरणाय ते ॥ ३६२ ॥ विशिष्टालम्बनं युष्मत्प्रतिजागर एव नः । अस्यापि मासकल्पस्य करणेऽप्यत्र कारणम् ॥ ३६३ ॥ साधूनामन्यथा क्षेत्रे साध्वीभिः समधिष्ठिते । न विधातुं महाभद्रे ! मासकल्पोऽपि कल्पते ॥ ३६४ ॥ त्वया च प्रतिचर्योऽयं पौण्डरीको निरन्तरम् । ज्ञानभारमिहारोप्य निजं स्यां येन निर्वृतः ॥ ३६५ ॥ इत्याख्यायान्यतो जग्मुर्विहर्तुमथ सूरयः । महाभद्रापि तच्छिक्षामादृता कुरुतेऽन्वहम् ॥ ३६६ ॥ पौण्डरीकोऽपि महाभद्रायां स्निग्धमानसः । यथोदितगुणोपेतः क्रमाद्यौवनमासदत् ॥ ३६७ ॥ विहरन्तोऽथ भूयोऽपि सूरयस्ते समाययुः । निनाय पौण्डरीकं च महाभद्रा तदन्तिके ॥ ३६८ ॥ भव्यत्वात्सुमतित्वाच्च भगवन्तं विलोक्य तम् । निशम्य देशनां तस्य राजभूर्मुमुदेऽधिकम् ॥ ३६९ ॥ क एष भगवानेवमप्राक्षीच्च प्रवर्त्तिनीम् । तस्य जैनागमे भक्तिं तन्वानाख्यत साप्यदः ॥ ३७० ॥ अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सुरासुरनतक्रमः । तत्त्वज्ञैर्भगवान् भद्र !

प्रोच्यतेऽसौ सदागमः ॥ ३७१ ॥ तारकाणामपि व्योम्नि गणना क्रियते बुधैः । न तु गीःपतिरप्यस्य शक्तो गणयितुं गुणान् ॥ ३७२ ॥ राजसूनुरथोवाच यद्येवं भगवन्त्यहम् । आगमार्थं जिघृक्षामि पार्श्वेऽस्यैव दिवानिशम् ॥ ३७३ ॥ महाभद्रापि तद्वाक्यं श्लाघमाना न्यवेदयत् । तत्पित्रोस्तदभिप्रायं गत्वा सत्वरमेव तम् ॥ ३७४ ॥ ततस्तावपि सानन्दौ गत्वा भगवतः सुतम् । अर्प्पयामासतुर्भक्त्या सिद्धान्ताध्यायहेतवे ॥ ३७५ ॥ पौण्डरीकस्ततस्तस्य पार्श्वे भगवतः सुधीः । सिद्धान्ततत्त्वमादत्ते गृहस्थोचितमन्वहम् ॥ ३७६ ॥ अथान्यदात्रैव वने मनोनन्दननामनि । चैत्ये च सङ्घमध्यस्थे सूरौ तन्वति देशनाम् ॥ ३७७ ॥ महाभद्रासुललितापौण्डरीकेषु तेषु च । तत्पुरो विनिविष्टेषु मत्सैन्यतुमुलोऽभवत् ॥३७८॥ युग्मम् ॥ उत्कर्ण्णायां तमाकर्ण्य जातायामिह पर्षदि । महाभद्रां सुललिता पप्रच्छ किमिदं ननु ? ॥ ३७९ ॥ जाने नाहमिति तया प्रोक्तेऽथ भगवानसौ । सुललितापौण्डरीकप्रबोधायाभ्यधत्त ताम् ॥३८०॥ प्रज्ञाविशाले ! मुग्धेव किं न वेत्सि त्वमप्यदः ? । तावन्मनुजगत्याख्या विख्याता यदियं पुरी ॥ ३८१ ॥ महाविदेहरूपोऽयं हट्टमार्गश्च विश्रुतः । यत्र साम्प्रतमासीनाः सर्वेऽपि वयमास्महे ॥ ३८२ ॥ ख्यातः कर्म्मपरीणामनामा चात्र महीपतिः । विदिता कालपरिणत्यभिधा तस्य च प्रिया ॥ ३८३ ॥ संसारिजीवनामाथ तस्करोऽद्य सलोप्त्रकः । प्राप्य राज्ञेऽर्प्पितो दुष्टाशयाद्यैर्दण्डपाशिकैः ॥ ३८४ ॥ तदाज्ञयाधुना हन्तुं पापिपञ्जरनामके । वध्यस्थाने स तैश्चोरो हट्टमार्गेण नीयते ॥ ३८५ ॥ नीयमानस्य तस्यायं डिण्डिमध्वनिसंकुलः । श्रूयते विहितो बालैरतुलस्तुमुलोऽनघे ! ॥ ३८६ ॥ मुग्धा सुललिता साथ तामुवाच प्रवर्त्तिनीम् ।

महाभद्रा नहि प्रज्ञाविशाला भगवत्यसि ॥ ३८७ ॥ पुरं शङ्खपुरं चैतद्विख्यातं न तु सा पुरी । वनं चित्तरमं चेदं हट्टमार्गस्तु नैव सः ॥ ३८८ ॥ श्रीगर्भश्चात्र नो कर्म्मपरिणामो महीपतिः । कमलिन्यस्य नो कालपरिणत्यभिधा प्रिया ॥३८९॥ तत्किमित्येष भगवान् समाख्याति ? निवेदय ? । अपूर्वमिव मे सर्वमिदं हि प्रतिभासते ॥३९०॥ प्रोचेऽथ भगवानेवं परमार्थं न बुध्यसे । वत्सेऽगृहीतसङ्केता यतस्त्वमसि सर्वथा ॥ ३९१ ॥ स्थिरा भव ततो येन भवत्यपि शनैः शनैः । पृष्टमर्थमिमं नूनं सर्वमप्यवभोत्स्यते ॥ ३९२ ॥ ही ममाप्यपरं नाम कृतं भगवते-त्यथ । चिन्तयित्वा सुललिता बाढं हृदि विसिष्मिये ॥ ३९३ ॥ विज्ञातसूरिवाक्यार्था महाभद्रा त्वचिन्तयत् । पापः कोऽप्येष निर्दिष्टः प्रभुणा नरकंगमी ॥ ३९४ ॥ ततः सा जातकारुण्या भगवन् ! कथमप्यसौ । शक्यो मोच-यितुं चौरो नवेति प्रभुमभ्यधात् ॥ ३९५ ॥ प्रभुरप्येवमाचख्यावार्ये ! त्वदवलोकनात् । मत्समीपागमाच्चास्य मोक्षोऽवश्यं भविष्यति ॥ ३९६ ॥ महाभद्राह याम्यस्याभिमुखं भगवन्नहम् । गच्छेति प्रभुणा प्रोक्ते मत्पार्श्व-मियमाययौ ॥ ३९७ ॥ सदागममिमं भद्र ! शरण्यं शरणं श्रय । इत्युक्त्वा चाहमानीतो भगवत्पार्श्वमेतया ॥ ३९८ ॥ ददृशे पर्षदा चैवं तस्कराकारधारकः । मयापि शरणत्वेन प्रपन्नो भगवानसौ ॥ ३९९ ॥ प्रभुणा-श्वासितश्चाहं नष्टास्ते राजपूरुषाः । पृष्टस्त्वयाहं वृत्तान्तं कथितोऽसौ मया तव ॥ ४०० ॥ भगवत्प्रभृतीनां च वृत्तान्तो विदितोऽप्यमौ । स्वसंवित्तिनिमित्तं ते मया भद्रे ! निवेदितः ॥ ४०१ ॥ येनायं सत्यमेवाख्यातीति मर्नेन जायते । प्रत्ययस्ते मदाख्याते तत्तेऽभूत् प्रत्ययोऽधुना ? ॥ ४०२ ॥ साह बाढमभूदात्मगोचरः केवलं

यदि । अनुसुन्दरचक्री त्वं तत्कथं चौररूपभृत् ? ॥ ४०३ ॥ स प्राह युवयोर्भद्रे ! प्रतिबोधनहेतवे । तस्करस्य मया रूपं विदधे बहिरप्यदः ॥ ४०४ ॥ यतोऽहमान्तरं चौर्यमुद्दिश्य भवतां पुरः । प्रभुणाख्यातः संसारिजीवनामा मलिम्लुचः ॥ ४०५ ॥ ततोऽस्यां महाभद्रायां गतायां संमुखं मम । तद्दर्शनाच्च संजाते प्रबोधे चिन्तितं मया ॥ ४०६ ॥ वेत्ति प्रज्ञाविशालेयं महाभद्रा हि यद्यपि । इदं भगवदादिष्टं तस्करत्वं ममान्तरम् ॥ ४०७ ॥ तथापि गन्धमप्यस्य वेत्ति व्यतिकरस्य न । सुललिता साऽगृहीतसङ्केताद्यापि निश्चितम् ॥ ४०८ ॥ युग्मम् ॥ ततो विलोक्य मां चक्रवर्त्तिरूपभृतं भृशम् । सदागमवचस्यस्या विसंवादो भविष्यति ॥ ४०९ ॥ किञ्चायं पौण्डरीकोऽपीत्थमेव प्रतिभोत्स्यते । यतोऽसौ भव्यपुरुषः सुमतिश्चापि वर्त्तते ॥ ४१० ॥ विचिन्त्येत्यन्तरङ्गात्मस्वरूपावेदकं मया । रूपं वैक्रियलब्ध्येदृग् विदधे बहिरप्यदः ॥४११॥ ततः सुललिता प्राह कीदृक् तच्चौर्यमान्तरम् । यत्कृतं भवता ? तत्र कथं चेदृग् विडम्बना ? ॥ ४१२ ॥ वेत्ति स्वस्य परेषां च कथं वा चरितं भवान् ? । तदेतत्कथ्यतां सर्वं चक्रवर्ती ततोऽवदत् ॥ ४१३ ॥ अन्त्यग्रैवेयकात्तावत् सुकच्छविजयेऽभवम् । क्षेमपुर्यां युगन्धरनलिनीजोऽनुसुन्दरः ॥ ४१४ ॥ अत्रान्तरे महामोहप्रमुखानखिलानपि । इत्थं प्रोत्साहयामास भद्रे ! सा भवितव्यता ॥ ४१५ ॥ सम्यग्दर्शनदूरस्थो यावदेषोऽनुसुन्दरः । यतध्वं तावदेवात्र यूयं भोः ! स्वार्थसिद्धये ॥ ४१६ ॥ अन्यथा प्राप्य तं क्वापि परिपोष्य निजं बलम् । भवतां प्राग्वदेवायं बाधाकारी भविष्यति ॥ ४१७ ॥ ततश्च वेष्टितो विश्वग् बाल्यादारभ्य तैरहम् । विस्मृताशेषसद्बन्धुः पुनस्तन्मयतां गतः ॥ ४१८ ॥ कौमारे यौवने

चक्रवर्त्तित्वे च ततो मया । मांसाशनसुरापानाद्यकृत्यं किं व्यधायि न ? ॥ ४१९ ॥ एवं च वर्त्तमानेन मया ते भावशत्रवः । विस्मृत्य पूर्ववृत्तान्तं बन्धुबुद्ध्यावधारिताः ॥ ४२० ॥ तैः प्राप्तप्रसरैश्चित्तवृत्तिर्मलिनिताथ मे । चारित्रधर्म्मराजस्य निरुद्धं चाखिलं बलम् ॥ ४२१ ॥ तिरोहितं च तत् क्षान्तिमुख्यान्तःपुरमान्तरम् । जातं कर्म्म-परीणामराज्यं पापोदयोऽस्फुरत् ॥ ४२२ ॥ विस्फूर्जितं महामोहसैन्यं स्वस्वपुराणि च । संस्थापितानि पूरेणावहत् सिन्धुः प्रमत्तता ॥ ४२३ ॥ तद्विलसितमुख्यानि सज्जितान्यखिलानि च । किं बहूक्तेन सामग्री सर्वा साभूत्पुनर्नवा ॥४२४॥ पर्यालोचेऽथ विषयाभिलापः स्वानभापत । भो ! भोः ! सर्वे महीपालाः ! संचिन्तयत मद्वचः ॥ ४२५ ॥ मन्दादरात्पुरा नाशं वीक्ष्य तादृक्षमात्मनः । मन्दादरो न युक्तो वः साम्प्रतं कर्तुमत्र भोः ! ॥४२६॥ दृष्टदाहास्ततो यूयं यतध्वमधुना तथा । नित्यं निष्कण्टकं राज्यं युष्माकं जायते यथा ॥ ४२७ ॥ ते प्रोचुरिष्टतद्वाक्याः किमत्र क्रियते पुनः ? । सचिवोऽप्यभ्यधादेतदेतच्च क्रियतामिह ॥ ४२८ ॥ ततस्तदुपदेशेन प्रोत्साह्य स्वयमेव तैः । ग्राहि-तोऽहमिति ग्राज्यं वर्णाभिर्विनिर्मितम् ॥ ४२९ ॥ द्रव्यजातमकुशलनामकं क्षेत्रसंस्थितम् । तस्य कर्म्मपरीणाममही-पालस्य सुन्दरि ! ॥ ४३० ॥ युग्मम् ॥ ततस्तैस्तस्करत्वेन ज्ञापिते मय्यसौ नृपः । प्रोचे यथा त्रिडम्ब्यैष मार्यतां पापिपञ्जरे ॥ ४३१ ॥ तन्निशम्य महामोहादिभिः सर्वैः प्रमोदिभिः । परिलिप्तः कर्म्ममलभस्मना चर्चितस्तथा ॥ ४३२ ॥ राजसैर्गैरिकहस्तैर्मषीपुण्ड्रैश्च तामसैः । रागकल्लोलमालाख्यरूणवीरस्रजार्चितः ॥ ४३३ ॥ विडम्बितः कुविकल्पतनियशरावमालया । पापातिरेकपिटकखण्डेन च विनाटितः ॥४३४॥ आरोपितोऽसदाचाराभिधे

महति रासभे। बद्धाकुशललोष्ट्रश्च स्वरूपगलकन्दले ॥ ४३५ ॥ दुष्टाशयादिभिर्भूपपुरुषैः परिवेष्टितः। कषायाभिधडिम्भानां तुमुलैराकुलीकृतः ॥ ४३६ ॥ शब्दादिभोगविरसडिण्डिमध्वनिलक्षितः। बाह्यलोकविलासाख्यदुर्दान्तहसिताकुलः ॥ ४३७ ॥ महाविदेहरूपाट्टमार्गेणाहं स्वनीवृताम्। दर्शनच्छद्मना निःसारितो वध्यभुवं प्रति ॥ ४३८ ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥ तैरानीतस्य देशेऽत्र युष्माभिर्मम स श्रुतः। सैन्यकोलाहलो यावन्महाभद्रा जगाम माम् ॥ ४३९ ॥ इतश्चाहं तदा पश्चात् त्यक्त्वा सैन्यं स्वलीलया। सम्प्रापमिदमुद्यानं राजवल्लभवेष्टितः ॥ ४४० ॥ ततो वनश्रियं द्रष्टुमुत्तीर्णेन महेभतः। आगच्छन्ती मया भद्रे! महाभद्रा विलोकिता ॥ ४४१ ॥ ततोऽस्यां प्राग्भवाभ्यासाद् बहुमानोऽभवन्मम। एषापि मयि सस्नेहा निःस्पृहाप्यभवद् भृशम् ॥ ४४२ ॥ मया नमस्कृता दत्त्वा धर्म्मलाभाशिषं ततः। वैराग्यकारिणो मह्यमुपदेशानसौ ददौ ॥ ४४३ ॥ जातिस्मरणमस्याश्च जज्ञे मदवलोकनात्। ततोऽपि चावधिज्ञानं विशुद्धाध्यवसायतः ॥ ४४४ ॥ तद्बलाच्च विबुद्धात्ममत्पूर्वभवचेष्टिता। विशेषादुपदेशान्मे यावदेषा प्रयच्छति ॥ ४४५ ॥ तावन्मार्गे द्विषद्वर्गं निर्भिद्य प्रतिरोधकम्। सम्यग्दर्शनसद्बोधौ मत्समीपमुपेयतुः ॥ ४४६ ॥ युग्मम् ॥ ततो ममापि समभूदीहापोहं प्रकुर्वतः। जातिस्मृतिस्तयास्मार्षमवस्थां गौणधारणीम्[1] ॥ ४४७ ॥ ततोऽप्युपाययौ प्रौढशुभभावस्य मेऽन्तिकम्। सद्बोधमित्रमवधिर्निर्जित्यात्मविरोधिनम् ॥ ४४८ ॥ ततो दृष्टा मयासंख्या द्वीपाब्धिस्वभवास्तथा। स्मृतं[2] सर्वं श्रुतं सिंहाचार्यकालोररीकृतम्

1 °धारिणीम् क० ख० ग० घ०। 2 श्रुतं ता०।

॥ ४४९ ॥ निर्म्मलाचार्यनिर्दिष्टः परिस्फुट इवात्मनः । समस्तोऽपि हि संसारविस्तारो विदितस्तथा ॥ ४५० ॥ बहिरंप्यथ पूर्वोक्तहेतुना चौररूपभृत् । महाभद्रासमेतोऽत्र सभायामहमाययौ ॥ ४५१ ॥ ततश्च त्वां सुललिते ! ज्ञात्वा मदनमञ्जरीम् । पूर्वस्नेहात् कृपातश्च त्वत्प्रबोधनहेतवे ॥ ४५२ ॥ प्रभुप्रसादाद्विज्ञातं मया सकलमप्यदः । एवं सदागमे प्रीतिं तवोत्पादयता मया ॥ ४५३ ॥ षण्मासकथनीयोऽपि प्रभोरेव प्रसादतः । त्रियाम्यैव निजभवप्रपञ्चोऽयं निवेदितः ॥ ४५४ ॥ विशेषकम् ॥ भद्रे ! तदीदृक् तच्चौर्यं तत्रेदृक् च विडम्बना । अहमेवं च वृत्तान्तं वेद्मि स्वस्य परस्य च ॥ ४५५ ॥ निशम्येदं सुललिता भृशं हृदि विसिष्मिये । किञ्चिद्विज्ञातभावार्थः पौण्डरीकोऽब्रवीदथ ॥ ४५६ ॥ किमार्य ! चित्तवृत्तौ ते वर्त्तते साम्प्रतं पुनः । ततोऽनुसुन्दरः प्राह समाकर्ण्णय सुन्दर ! ॥ ४५७ ॥ यावत्संवेगमापन्नः प्रारब्धो निजचेष्टितम् । निवेदयितुमित्थं भोः ! पुरतो भवतामहम् ॥ ४५८ ॥ तावच्चारित्रधर्मोऽसौ स्वसैन्यपरिवारितः । प्रस्ताव इति विज्ञाय चलितो मम संमुखम् ॥ ४५९ ॥ तेन चागच्छतानन्दि पुरं सात्त्विकमानसम् । विवेकाद्यप्रमत्तत्वशिखरादि च सज्जितम् ॥ ४६० ॥ आगच्छतश्च मार्गेऽस्य महामोहादिभिः सह । लग्नमायोधनं तच्च दृष्टं प्रत्यक्षतो मया ॥ ४६१ ॥ ततः सद्बोधयुक्तेन सम्यग्दर्शनसंयुजा । जयी चारित्रधर्म्मोऽसौ मयावष्टम्भितोऽभवत् ॥ ४६२ ॥ ततश्चादाय तत्सर्वं क्षान्त्याद्यन्तःपुरं मम । मुदितः सपरिवारः स मदन्तिकमाययौ ॥ ४६३ ॥ महामोहादयस्ते तु लीनास्तस्थुर्मृतोपमाः । चित्तवृत्ताविदं भद्र ! वर्त्तते

१ 'रत्यर्थपू' क० ख० ग० घ० । २ °ग् मचौर्यं ग० ।

मग साम्प्रतम् ॥ ४६४ ॥ किञ्च दीक्षां जगद्वन्द्यां प्रपद्य जिनदेशिताम्। अधुना पोषणीयोऽसौ बन्धुवर्गो मयान्तरः ॥ ४६५ ॥ वदन्नेवं स तच्चौररूपं संहृत्य वैक्रियम्। निजं स्वाभाविकं चक्रिरूपमाविरभावयत् ॥ ४६६ ॥ तत्कालागतसामन्तामात्यानालोच्य चक्रभृत्। सोऽथ न्यवेशयद्राज्ये निजपुत्रं पुरन्दरम् ॥ ४६७ ॥ जिनार्चनादिकृत्येऽथ कृते श्रीगर्भभूपतिः। तत्राजगाम चक्रे च सर्वेषामुचितक्रियाम् ॥ ४६८ ॥ मिलितायां पुनः पर्षद्युद्भूते च महोत्सवे। चक्रिवृत्तं सुललिता दृष्ट्वा चित्ते चमत्कृता ॥ ४६९ ॥ अथ चन्नयार्थिते दीक्षां प्रयातुं प्रोद्यते गुरौ। चक्री सुललितां भूयोऽप्युद्भूतकरुणोऽन्वशात् ॥ ४७० ॥ मन्ये सुललिते! बोधस्तवाद्यापि न मानसे। संजातो वर्त्तसे मुग्धे! येनैवं चकितेक्षणा ॥ ४७१ ॥ त्वद्बोधार्थं मया ह्येवं तत्तद्वृत्तान्तसंकुलः। भवप्रपञ्चो निःशेषः स्वकीयः परिकीर्त्तितः ॥ ४७२ ॥ ततश्चैनमपि श्रुत्वा गाढनिर्वेदकारणम्। न चेत् त्वं प्रतिबुद्धासि नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥ ४७३ ॥ सत्यं पाषाणकल्पासि सत्यं काङ्कटुकोपमा। नेयताप्यभवद् यस्या निर्वेदो भवचारके ॥ ४७४ ॥ ततोऽद्यापि प्रबुध्यस्व तत्त्वं मा मुह्य बालिके!। येनायं जायते सर्वः सफलो मे परिश्रमः ॥ ४७५ ॥ अत्रान्तरे पौण्डरीको मूर्च्छया न्यपतद् भुवि। तन्मातापितरौ पर्षच्चाखिलाभूदथाकुला ॥ ४७६ ॥ वायुदानादिना लब्धचेतनः स्मेरलोचनः। सोऽथ स्वं पितरं प्राह श्रूयतां तात! मद्वचः ॥ ४७७ ॥ चौररूपभृतानेन चक्रिणा भ्रमणं निजम्। पूर्वं त्वदागतेरासीद्विरुद्धमिव शंसितम् ॥ ४७८ ॥ ततो मेऽबुद्ध्यमानस्य विकल्पोऽ-

१ तदद्यापि ता० ख०।

भूत्तदेहगः। महाभद्रामिमां पृष्ट्वा भोत्स्ये भावार्थमस्य यत् ॥ ४७९ ॥ यावतेमां सुललितां शिष्यमाणां निशम्य मे। जज्ञे कश्चिदनाख्येयो हर्षो जातिस्मृतिस्तथा ॥ ४८० ॥ भूतपूर्वोऽहमेतस्य सुहृन्नाम्ना कुलन्धरः। श्रुतो भवप्रपञ्चोऽस्य तदा निर्मलसूरितः ॥ ४८१ ॥ ततोऽनेन स एवायमेवमाख्यायतोऽधुना। त्रुटितो मम सन्देहो विरक्तं च भवान्मनः ॥ ४८२ ॥ ततो मामनुजानीत येनाहममुना सह। दीक्षां गृह्णामि तच्छ्रुत्वा कमलिन्यरुदत्प्रसूः ॥ ४८३ ॥ प्रोचे श्रीगर्भराजोऽथ मा रोदीर्देवि! यत्सुतः। स्वप्नसूचितजातोऽयं धर्मं साधयिता ध्रुवम् ॥ ४८४ ॥ तन्नास्य धारणं युक्तमावयोः किन्तु युज्यते। अनुव्रजनमेवास्य निर्मिथ्यस्नेहसूचकम् ॥ ४८५ ॥ बालश्चेत् कुरुते धर्ममेष भोगसुखोचितः। ततः किं युज्यते स्थातुमावयोर्भवचारके? ॥ ४८६ ॥ देव्यूचे देव! चारूक्तं प्रतिभात-मिदं मम। ततोऽनुज्ञाय तौ पुत्रं दीक्षामादातुमुद्यतौ ॥ ४८७ ॥ तदा च द्राविताख्यर्थमनुसुन्दरभाषितैः। ससंभ्रमा च तद्वीक्ष्य पौण्डरीकादिचेष्टितम् ॥ ४८८ ॥ कृताञ्जलिः सुललिता महाभद्रामभाषत। किं मयाघं पुराकारि येन जाताहमीदृशी? ॥ ४८९ ॥ युग्मम् ॥ धन्योऽयं पौण्डरीकस्तु क्षणमात्रेण योऽभवत्। विज्ञात-गर्वभावार्थः प्रसङ्गश्रवणादपि ॥ ४९० ॥ साक्षादुद्दिश्य मामेव कथ्यमानमपि स्फुटम्। अहं पुनर्न जानेऽत्र भावार्थं पशुसन्निभा ॥ ४९१ ॥ तदिदं मे महाभागे! स्वयं यद्वा सदागमम्। पृष्ट्वा कथय निःशेषं कस्य पापस्य जृम्भितम्? ॥ ४९२ ॥ ततस्तां तादृशीं दृष्ट्वा बाष्पपूरितलोचनाम्। कृपावेशवशादेवमब्रवीदनुसुन्दरः ॥ ४९३ ॥ त्वदुष्कृतस्य

१ 'यतेऽधुना क० ग० घ०, 'यितोऽधुना ख०। २ पुण्ड' क० ख० ग० घ०।

जिज्ञासा मुग्धे ! यद्यस्ति ते ततः । अहमेव तदाख्यामि श्रूयतां सादरं त्वया ॥ ४९४ ॥ तावन्मदनमञ्जर्या सत्या संजातभावया । भवत्या जगृहे दीक्षा विधिवत् पालिता च सा ॥ ४९५ ॥ केवलं तत्र संजाता तदा दुर्बुद्धि-रीदृशी । कियतां कार्यमेवात्र रोलेन बहुना किमु ? ॥ ४९६ ॥ ततस्ते रुरुचे नैव स्वाध्यायतुमुलस्तदा । केवलं समभूदिष्टा निद्रा मौनव्रतं तथा ॥ ४९७ ॥ न च ते तत्र संजातोऽभिनिवेशो महान् हृदि । यतो न प्रत्यनीकत्वं ज्ञानज्ञानवतां कृतम् ॥ ४९८ ॥ ततोऽनया लघीयस्या श्रुताशातनया तदा । त्वया सुललिते ! कर्म्म समुपार्जित-मीदृशम् ॥ ४९९ ॥ भ्रान्तासि यत्प्रभावेणासंख्यं कालं भवार्णवे । एवंविधा च जातासि जडधीरधुनापि हि ॥ ५०० ॥ किञ्च पूर्वभवाभ्यासो याति जन्मान्तरेष्वपि । पुरुषद्वेषिणी येनेहापि जातासि पूर्ववत् ॥ ५०१ ॥ अत एव सखीभिस्त्वं ब्रह्मचर्यरता सती । ब्राह्मणीत्युदिता तत्किं प्रत्ययस्ते मिलत्यसौ ? ॥ ५०२ ॥ सा जगाद भवद्वाक्ये किं नो मीलति ? किन्त्वहम्[1] । भावतोऽन्धनिभाद्यापि वर्त्तेऽहं भाग्यवर्जिता ॥ ५०३ ॥ इत्युक्त्वाश्रूणि वर्षन्तीं तां जगादानुसुन्दरः । मा विषीदानघे ! क्षीणप्रायं तव् कर्म्म तेऽधुना ॥ ५०४ ॥ सदागममिमं भक्त्या सम्यगाराधयानघे ! । अज्ञानतिमिरध्वंससूर्यो हि भगवानयम् ॥ ५०५ ॥ एवंविधैस्ततस्तस्य वचनैः पवनैरिव । सन्धुक्षितः प्रबबुधे तस्याः संवेगपावकः ॥ ५०६ ॥ ततः सदागमो ह्येष इति बुद्ध्या निपत्य सा । सूरेः समन्त-भद्रस्य पदयोरभ्यधादिति ॥ ५०७ ॥ अज्ञानपङ्कमग्नाया जगन्नाथ ! सदागम ! । त्वमेव मन्दभाग्याया ममो-

१ किं पुनः ता० । २ °भा चाद्यापि वर्त्ते भा° ख० ।

सारणवत्सलः ॥५०८॥ शरणं[1] त्वं महाभाग ! त्वं स्वामी त्वं च मे पिता । तदेष विमलो नाथ ! क्रियतां किङ्करो जनः ॥ ५०९ ॥ एवं वदन्त्याः संवेगात् तस्याः कर्म्माण्युटद् बहु । जज्ञे पादप्रणताया एव जातिस्मृतिस्ततः ॥ ५१० ॥ समुत्थाय पपाताथ सानुसुन्दरपादयोः । भद्रे ! किमेतदेवं च ? तेनोक्ता प्रत्यभाषत ॥ ५११ ॥ यत्प्रभोर्भवतश्च स्यात् प्रसादात्तदभून्मम । यतो जातिस्मृतिर्जाता त्वद्वचोनिर्णयस्तथा ॥ ५१२ ॥ चिरतं भव-वासाच्च मच्चित्तं चक्रयथावदत् । आर्येऽसावनुगृह्णाति स्वभक्तं भगवान् ध्रुवम् ॥ ५१३ ॥ यतोऽहं प्रभुणानेन नरकं प्रति गामुकः । भावचौर्येण बद्धोऽपि साक्षादेवं विमोचितः ॥५१४॥ कृच्छ्रेण किल बुद्धाहं मन्दभाग्येति चिन्तया । न चावभावना कार्या त्वया भद्रे ! स्वगोचरे ॥ ५१५ ॥ यतोऽहमपि तैः पूर्वमकलङ्कादिभिस्तदा । न बोधितो यदासीन्मे प्रबलं भूरिपातकम् ॥ ५१६ ॥ यदा ह्यस्य विलीयेत पापं कालादिहेतुभिः । जीवस्तदा प्रबुध्येत गुरवः सहकारिणः ॥ ५१७ ॥ प्रोचे सुललितापीदं सत्यमेवार्य ! केवलम् । प्रतिपन्नं मया पित्रोरेतदस्ति स्वकीययोः ॥ ५१८ ॥ दीक्षानामापि यद् ग्राह्यं नानुज्ञातया मया । तदार्य ! तत्कथं भावि ? चक्रवर्त्ती ततोऽभ्यधात् ॥ ५१९ ॥ मा भैषीरागतावेव भद्रे ! स्तः पितरौ तव । अत्रान्तरे च तौ तत्रैवायातौ सपरिच्छदौ ॥ ५२० ॥ ततो नत्वा जिनं सूरिं साधूंश्चक्रधरं तथा । पुत्र्या कृतानतिरुपाविक्षन्मगधसेनराट् ॥ ५२१ ॥ सुमङ्गलापि विहितसमस्त-प्रतिपत्तिका । सुतामाश्लिष्य तत्पार्श्वे निपद्य च जगाद ताम् ॥ ५२२ ॥ वत्से ! समुत्सुकत्वेन तव दर्शनलालसौ ।

---

१ शरणस्त्वं ग० । २ नाम कि॰ क० ख० ग० घ० । ३ तद्वचो॰ ता० । ४ तत्रा॰ ता० क० ख० घ० । ५ ॰भूपोऽनि॰ ग० ।

आवां राज्यं परित्यज्य त्वत्समीपमुपागतौ ॥ ५२३ ॥ कठोरहृदयत्वेन दत्ता वार्तापि नावयोः। इयत्कालं त्वया वत्से ! ततः सुललितावदत् ॥ ५२४ ॥ अम्ब ! किं बहुनोक्तेन मां प्रत्यद्य यथास्थितः। युवयोः स्नेह-सद्भावो नूनं व्यक्तीभविष्यति ॥ ५२५ ॥ यदि मां गृह्णतीं दीक्षां नाधुना वारयिष्यथः। युवामपि मया सार्द्धं यदि चैनां गृहीष्यथः ॥ ५२६ ॥ तच्छ्रुत्वा प्राह मगधसेनराजः सुमङ्गलाम्। विदधे मुखबन्धो नौ देवि ! प्रागेव वत्सया ॥ ५२७ ॥ सुदृष्टपरमार्थेयमधुना वर्त्तते ध्रुवम्। अस्या वचनविन्यासोऽपरथा कथमीदृशः ? ॥ ५२८ ॥ युक्तमेव व्रतादानमावयोरनया सह। स्नेहसूचकमेतद्धि प्राप्तकालं विशेषतः ॥ ५२९ ॥ तद्वाक्ये प्रतिपन्ने च राज्ञा हृष्टा तदात्मजा। महाप्रसाद इत्युक्त्वा द्वयोरप्यपतत्पदोः ॥ ५३० ॥ संक्षेपादथ चक्रयादिवृत्तान्ते कथिते तया। मुदितौ जातभावौ तौ सूरिं दीक्षामयाचताम् ॥ ५३१ ॥ तथा मगधसेनेन श्रीगर्भेण च भूभुजा। निजं पुरन्दरायैव राज्यं पाल्यतयार्प्पितम् ॥ ५३२ ॥ ततो निर्वर्त्तिताशेषकृत्यानि विधिपूर्वकम्। महेन महता सूरिस्तानि सर्वाण्य-दीक्षयत् ॥ ५३३ ॥ शिक्षां दत्त्वाथ गुरुभिर्विसृष्टाः स्वाश्रयं ययुः। महाभद्रायुताः साध्व्यः स्वयमेव जनाः पुनः ॥५३४॥ अथादित्योऽपि तद् दृष्ट्वा गुरोः श्रुत्वा च देशनाम्। शक्तोऽहं नेति मत्वेव गतो द्वीपान्तरे तदा ॥ ५३५ ॥ अथानुसुन्दरमुनिः शुद्धलेश्यतया निशि। आरुह्योपशमश्रेणीं शान्तमोहः क्रमादभूत् ॥ ५३६ ॥ ज्ञात्वा भगवदा-देशादन्तं तस्याथ साधवः। तस्थुः पार्श्वे तदानीं च तस्यायुष्कं समाप्यत ॥ ५३७ ॥ विमाने सोऽथ सर्वार्थ-सिद्धे गत्वा महर्द्धिकः। त्रयस्त्रिंशदकूपारोपमायुस्त्रिदशोऽभवत् ॥ ५३८ ॥ तज्ज्ञात्वा मिलिते प्रातः श्रीसंघे

विधिनात्यजन् । तदङ्गं साधवस्तस्य कृतार्चा च नरामरैः ॥ ५३९ ॥ एष मे धर्म्मदायीति पूर्वस्नेहाच्च किञ्चन । शोचन्तीं तां सुललितां प्रत्यूचुरथ सूरयः ॥५४०॥ आर्ये ! न शोचनीयोऽसौ महाभागोऽनुसुन्दरः । येनैकदिन-मात्रेण साधितं स्वप्रयोजनम् ॥५४१॥ यथा पापभरं कृत्वा प्रवृत्तो नरकं प्रति । यदि गच्छेत्तथैवात्र ततः शोच्यो भवेदसौ ॥५४२॥ यः पुनः प्राप्य सद्धर्म्मं निर्द्धूय निजकल्मषम् । सर्वार्थसिद्धे सम्प्राप्तो नासौ शोकस्य गोचरः ॥ ५४३ ॥ अन्यच्चायं ततश्च्युत्वा पुष्करार्द्धस्य भारते । अयोध्याधीशगान्धारतनयः पद्मिनीभवः ॥ ५४४ ॥ भूत्वा नाम्नाऽमृतसारो दीक्षां चादाय शुद्धधीः । विपुलाशयगुर्वन्ते करिष्यति चिरं तपः ॥ ५४५ ॥ युग्मम् ॥ नितवृत्तौ ततस्तस्य क्षान्त्याद्यन्तःपुरं पुनः । तच्च चारित्रधर्म्माद्यं सैन्यमाविर्भविष्यति ॥ ५४६ ॥ ततस्तत्पालयन् राज्यं विद्विपस्तान्निहत्य सः । आरूढः क्षपकश्रेण्यां केवलालोकमाप्स्यति ॥ ५४७ ॥ कृत्वाथान्ते समुद्घातं शैलेशीं प्राप्य च क्रियाम् । हत्वा शेषान् द्विषस्तांश्च गन्तायं पुरि निर्वृतौ ॥५४८॥ निजबान्धवसम्पूर्णः सिद्धानन्तचतुष्टयः । तत्र चैष सदाकालं मोक्ष्यते राज्यसत्फलम् ॥ ५४९ ॥ इतश्च तेन सा त्यक्ता तदानीं भवितव्यता । महामोहबले क्षीणे शोकमेवं करिष्यति ॥ ५५० ॥ दुर्बुद्ध्या बत जातैवमहं भग्नमनोरथा । महामोहबलेऽभूवमध्रुवे या कृतादरा ॥ ५५१ ॥ यद्वा ममापि को दोषो ? रूढेयमपि वर्तिनी । यन्मुख्यत्वेव लोकोऽयं समस्तः स्वप्रयोजने ॥ ५५२ ॥ एवं निश्चित्य साऽपरलोकं व्यापारयिष्यति । तदेवं सति शोच्योऽयं न महात्मानुसुन्दरः ॥ ५५३ ॥ तच्च श्रुत्वा

१ गन्धा° ग० । २ °मारं भो° ता० । ३ वर्तनी ता० ख० । ४ °ते च लो° ग० । ५ °रं लोकं ता० ।

सुललिता जाता शोकविवर्जिता। परितुष्टाश्च ते सर्वे पौण्डरीकादिसाधवः ॥५५४॥ तपांसि नानारूपाणि स्वात्मनः शुद्धिहेतवे। चक्रे सुललिता साथ सर्वदा गुर्वनुज्ञया ॥ ५५५ ॥ इतश्च पौण्डरीकोऽपि गीतार्थः समभूत् क्रमात्। पप्रच्छ चैवमन्येद्युः सूरिं विरचिताञ्जलिः ॥ ५५६ ॥ भदन्त! द्वादशाङ्गस्य किं सारमिति कथ्यताम्?। सूरिः प्रोवाच सारोऽत्र ध्यानयोगः सुनिर्म्मलः ॥५५७॥ मूलोत्तरगुणाः सर्वे सर्वा चेयं बहिष्क्रिया। मुनीनां श्रावकाणां च ध्यानयोगार्थमीरिता ॥५५८॥ मनःप्रसादः साध्योऽत्र मुक्त्यर्थं ध्यानसिद्धये। अहिंसादिविशुद्धेन सोऽनुष्ठानेन साध्यते ॥ ५५९ ॥ तच्छ्रुत्वा पुनरप्याह पौण्डरीकमहामुनिः। यद् भदन्त! मया बाल्ये पृष्टाः सारं कुतीर्थिकाः ॥ ५६० ॥ ततो मे स्वं स्वमाश्रित्य मतं तैरप्यनेकधा। परं तत्त्वमिह ध्यानयोग एव निवेदितः ॥ ५६१ ॥ तत् किं सर्वेऽपि ते तीर्थ्या भवेयुर्मोक्षसाधकाः?। ध्यानयोगेन यद्येष सारः सूरिस्थावदत् ॥ ५६२ ॥ आर्य! सामान्यगीतार्थस्त्वमेवं तेन भाषसे। विशेषतो न विज्ञातमैदम्पर्यं जिनागमे ॥ ५६३ ॥ एते हि तीर्थ्या सर्वेऽपि कूटवैद्यसमानकाः। जिनसद्वैद्यशास्त्रस्य पल्लवग्राहिणो मताः ॥ ५६४ ॥ तथा चात्र कथैकत्र पुरे रोगिजनाकुले। अस्त्येकः संहितास्रष्टा दिव्यज्ञानी महाभिषग् ॥ ५६५ ॥ तद्वचः पतिपद्यन्ते केचिद् धन्यतमा जनाः। अधन्यत्वेन केचिच्च न तदाकर्णयन्त्यपि ॥ ५६६ ॥ निजेभ्यः स च शिष्येभ्यो व्याख्यानं कुरुते सदा। तच्चोपश्रुत्यान्यैर्धूर्त्तैः कियदप्यवधारितम् ॥५६७॥ ततस्तन्निश्रया तैः स्वपूजार्थं संहिता निजाः। विधाय वैद्यकं कर्त्तुमारभ्यत समन्ततः

१ °षेण न ग०।

॥ ५६८ ॥ अन्यैस्तु पण्डितंमन्यैः संहिताश्चक्रिरे निजाः। महावैद्यस्य वचसां प्रतीपा इव सर्वथा ॥ ५६९ ॥ विचित्ररुचयो लोका रोगिणस्ते तु केचन। केषाञ्चित् कूटवैद्यानां रज्यन्ते वचनेऽन्वहम् ॥ ५७० ॥ ततः प्रसिद्धिं सर्वेऽपि ते कूटभिषजो ययुः। व्याचख्युश्च स्वशिष्येभ्यः संहितास्ता निजा निजाः ॥ ५७१ ॥ स्थिते चैवं महावैद्ये मृतेऽप्येतेऽत्र रोगिणः। मुच्यन्ते तद्विनेयोपदिष्टं विदधतो गदैः ॥ ५७२ ॥ ये पुनः कूटवैद्यानां तच्छिष्याणां च गोचरम्। गतास्ते रोगिणोऽत्यन्तं बाधिता [2]विविधैर्गदैः ॥ ५७३ ॥ तद्वाक्यादपि यत्तु स्यात्कस्यचिद् रोगतानवम्। स महावैद्यवचनलवसंजनितो गुणः ॥ ५७४ ॥ यतः स एव वातादिदोषत्रितयभेषजम्। महावैद्यो विजानाति न कूटभिषजः पुनः ॥ ५७५ ॥ कार्यात्र योजना त्वेवमिह तावद् भवः पुरम्। बोद्धव्या रोगिणो लोकाः पुनः कर्म्म-प्रपीडिताः ॥ ५७६ ॥ सिद्धान्तसंहितास्रष्टा केवलालोकभास्करः। महावैद्योऽत्र विज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ५७७ ॥ तद्वचः प्रतिपद्यन्ते केचिदप्यल्पकर्म्मकाः। प्राज्यपापाः पुनर्जीवा न तन्निशमयन्त्यपि ॥ ५७८ ॥ भगवांश्चैव समवसरणस्थो यथातथम्। मोक्षमार्गं स्वशिष्येभ्यः प्ररूपयति सर्वदा ॥ ५७९ ॥ प्रसङ्गेनागतास्तत्र शृण्वन्ति कलुषाशयाः। केचित्तां भगवद्वाचमनेकनयसंकुलाम् ॥ ५८० ॥ तन्मध्ये चास्तिकैः सांख्यादिभिः शास्त्राणि चक्रिरे। दयादानादिगर्भाणि भगवद्वाक्यनिश्रया ॥ ५८१ ॥ नास्तिकैस्तु महापापैर्बृहस्पतिसुतादिभिः। सर्वं सर्वज्ञवाक्यस्य विपरीतं विकल्पितम् ॥ ५८२ ॥ नानारुचित्वाल्लोकाश्च रज्यन्ते केऽपि केषुचित्। ततः सर्वेऽप्ययुैर्लोकैः

१ पत्र ता०। २ विविधैर्महैः क० ग० घ०। ३ °गुर्लोके ग०।

प्रसिद्धिं ते कुतीर्थिकाः ॥ ५८३ ॥ स्थिते चैवं निर्वृत्तेऽपि सर्वज्ञेऽमी शरीरिणः । मुच्यन्ते कर्मभिर्वर्त्तमानास्तच्छिष्यभापिते ॥ ५८४ ॥ ये तु तेषां कुतीर्थ्यानां तच्छिष्यानां च गोचरम् । गच्छन्ति ते प्रपीड्यन्ते कर्मभिर्विविधैर्ध्रुवम् ॥५८५॥ तदुक्तादपि यत्तु स्यात् कस्यचित्कर्मलाघवम् । प्रभावो भगवद्वाक्यलेशस्यैव स निश्चितम् ॥ ५८६ ॥ यतो रागद्वेषमोहप्रतिपक्षतया स्थितम् । ज्ञानादिकं स एवैको वेत्ति तीर्थ्यास्तु नापरे ॥ ५८७ ॥ पौण्डरीक ! मुनेस्तस्मान्महावैद्यसधर्मणः । सर्ववेदिन एवोपदेशो मोक्षनिबन्धनम् ॥ ५८८ ॥ न पुनः शेषतीर्थ्यानां कुवैद्योपमताजुषाम् । तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं पौण्डरीकोऽवदत्पुनः ॥ ५८९ ॥ यथा नाथ ! वयं ब्रूमो व्यापकं निजदर्शनम् । तथा तीर्थ्या यदि निजं ब्रूयुस्तत्र किमुत्तरम् ? ॥ ५९० ॥ अथ प्रोचे गुरुर्देवो रागद्वेषविवर्जितः । क्षान्त्यादिकस्तथा धर्मस्तत्त्वं ज्ञानादिकं पुनः ॥ ५९१ ॥ मुक्तिरप्यात्मनोऽनन्तचतुष्टययुजा स्थितिः[1] । इति चेद् ब्रुवते तेऽपि तद्विवादो न तैः सह ॥ ५९२ ॥ नाभिधाने हि विद्वांसो विवादं वत्स ! कुर्वते । एतच्च दृष्टिवादाङ्गे ज्ञास्यसि त्वमपि क्रमात् ॥ ५९३ ॥ विध्वस्ताशेषसन्देहः पौण्डरीकोऽथ हर्षभाक् । विनयात्तद्गुरोर्वाक्यं तथेति प्रत्यपद्यत ॥ ५९४ ॥ सोऽथ सिद्धान्तमभ्यस्यन् गुरुमूले विशेषतः । कालक्रमेण सम्पन्नो द्वादशाङ्गस्य पारगः ॥ ५९५ ॥ तमाचार्यपदे न्यस्य महेन महता ततः । जग्मुः समन्तभद्राख्याः सूरयस्ते परं पदम् ॥ ५९६ ॥ अथ प्राप्तावधिमनःपर्यायः समजायत । सूरिः स पौण्डरीकाख्यो जिनशासनदीपकः ॥ ५९७ ॥ विहृत्य सुचिरं सोऽथ भूरिलोकं

[1] °जः स्थितिः ता० ।

प्रबोध्य च । धनेश्वराभिधं सूरिं निजस्थाने न्यवेशयत् ॥ ५९८ ॥ ततः संलेखनां कृत्वा गत्वा च गिरिकन्दरे । पादपोपगमेनायं तस्थौ शुद्धशिलातले ॥ ५९९ ॥ समाधिस्थः समासाद्य केवलं देवपूजितः । सोऽथ सम्प्राप निःशेषक्लेशहीनं परं पदम् ॥ ६०० ॥ महाभद्रासुललिते अपि भक्तपरिज्ञया । क्रमेण प्रापतुर्मोक्षं कर्म्मण्युन्मूल्य मूलतः ॥ ६०१ ॥ ते तु श्रीगर्भराजाद्याः साधवो निखिला अपि । सुमङ्गलाद्याः साध्व्यश्च देवलोकमुपाययुः ॥ ६०२ ॥ अयं चासंव्यवहारपुरादारभ्य सन्निभः । अनुसुन्दरवृत्तान्तः प्रायः सर्वशरीरिणाम् ॥ ६०३ ॥ ततः समन्तभद्रस्य तस्य सूरेरयं यथा । प्रत्यक्षः कथ्यमानं तु महाभद्रा विवेद तम् ॥ ६०४ ॥ जिनागमस्य संसारिजीववृत्तमिदं तथा । प्रतीतं वर्ण्यमानं तु स्वत एव सुसाधवः ॥ ६०५ ॥ बुध्यन्ते विशद ! प्रज्ञाविशालत्वेन सर्वथा । संजायन्ते परेभ्यश्च प्रतिपादयितुं क्षमाः ॥ ६०६ ॥ युग्मम् ॥ यथा च पौण्डरीकेण बुद्धं सुललितां प्रति । कथ्यमानं लघुकर्म्मतया श्रुत्वा प्रसङ्गतः ॥ ६०७ ॥ बोधानुरूपं चक्रे च तथा युष्माभिरप्यदः । निशम्य बुध्यतां बोधानुरूपं च विधीयताम् ॥ ६०८ ॥ यथा सुमतिता भव्यपुरुषत्वं च जायते । भवतामप्यथेदृक्षा नैवास्ति लघुकर्म्मता ॥ ६०९ ॥ ततो यथा सुललिता भूयो भूयः प्रणोदिता । प्रतिबुद्धा तथा युष्माभिरपि प्रतिबुध्यताम् ॥ ६१० ॥ बोध्यमानास्तथा किन्तु गुरूणां कण्ठशोषकाः । अगृहीतसङ्केताश्च भव्या यूयं भविष्यथ ॥ ६११ ॥ तथापि गुरुभिर्यूयं बोध्या एव महात्मभिः । युष्माभिरपि नोद्वेग्यं भवोच्छेदविधित्सुभिः ॥ ६१२ ॥ श्रुत्वैनामनुसुन्दरस्य च महीभर्तुः कथामद्भुतां भो भव्याः ! शरणं जिनागममिमं यूयं श्रयध्वं सदा । येनोच्चैर्गुरुकर्म्मका

अपि जवादस्य प्रसादादघं निर्द्धूयाखिलमप्यनश्वरसुखां श्रेयःश्रियं प्राप्नुत ॥ ५१२ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे पूर्वसूचितमीलकवर्णनो नाम अष्टमः प्रस्तावः समाप्तः ।

अथ ग्रन्थकारप्रशस्तिः

समाश्रितो यः शरणं क्षमाभृद्गणेन कर्म्माशनिपातभीत्या । अवारपारश्रियमादधानः स चन्द्रगच्छोऽस्ति भुवि प्रसिद्धः ॥ १ ॥ भव्यारविन्दप्रतिबोधहेतुरखण्डवृत्तः प्रतिषिद्धदोषः । अयत्नपूर्वेन्दुतुलामिह श्रीभद्रेश्वरो नाम बभूव सूरिः ॥ २ ॥ तत्पट्टपूर्वाचलचण्डरोचिरजायत श्रीहरिभद्रसूरिः । मुदं न कस्मै रहितं विकृत्या तपश्च चित्तं च तनोति यस्य ॥ ३ ॥ श्रीमानथाजायत शान्तिसूरिर्यतः समुद्रादिव शिष्यमेघाः । ज्ञानामृतं प्राप्य शुभोपदेशवृष्ट्या व्यधुः कस्य मनो न शस्यम् [1] ॥ ४ ॥ ततो बभूवाभयदेवसूरिर्यदीयवाणी गुणरत्नहृद्या । मेधाभरेन्दूल्लसिता विभाति वेलेव मध्यस्थजिनागमाब्धेः ॥ ५ ॥ प्रसन्नचन्द्रोऽथ बभूव सूरिर्वक्तुं गुणान्यस्य नहि क्षमोऽभूत् । सहस्रवक्त्रोऽपि भुजङ्गराजस्ततो ह्रियेवैष रसातलेऽगात् ॥ ६ ॥ अथाजनि श्रीमुनिरत्नसूरिः स्वबुद्धि-निर्द्धूतसुरेन्द्रसूरिः । रत्नन्ति शास्त्राण्यखिलानि यस्य स्थिरोन्नते मानसरोहणाद्रौ ॥ ७ ॥ श्रीचन्द्रसूरिः सुगुरुस्ततोऽ-

१ °वोदय° क० ख० ग० घ० ।

भूत्प्रसन्नतालङ्कृतमस्तदोषम् । चित्तं च वाक्यं च वपुश्च यस्य कं न प्रमोदोत्पुलकं करोति ? ॥ ८ ॥ सूरिर्यशोदेव इति प्रसिद्धस्ततोऽभवद्यत्पदपङ्कजस्य । रजोभिरालिङ्गितमौलयोऽपि चित्रं पवित्राः प्रणता भवन्ति ॥ ९ ॥ तत्पाणिपद्मोल्लसितप्रतिष्ठः श्रीचन्द्रसूरिप्रभुशिष्यलेशः । देवेन्द्रसूरिः किमपीति सारोद्धारं चकारोपमितेः कथायाः ॥१०॥ इतश्च शिष्यो गणधारिदेवानन्दस्य रत्नप्रभसूरिपट्टे । बभूव सूरिः कनकप्रभाख्यो निधिर्गुणानामिह चन्द्रगच्छे ॥ ११ ॥ तदीयशिष्यः किल बालचन्द्रसूरेः कवीन्द्रादुदितप्रतिष्ठः । अशोधयद् बोधिविशुद्धयेऽमुं प्रद्युम्नसूरिर्विनयोपरुद्धः ॥ १२ ॥ यच्चान्यदप्यत्र निवेशितं स्यादन्यादृशं किञ्चन बुद्धिमान्द्यात् । अयं निबद्धोऽञ्जलिरस्ति सर्वं तत्साधुभिः साधु निवेशनीयम् ॥ १३ ॥ श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालादष्टानवत्यर्यमसंख्यवर्षे [१२९८] । पुण्यार्कभूत्कार्त्तिककृष्णपक्ष्यां सम्पूर्णतामेष समाससाद ॥ १४ ॥ यावन्नौरिव भव्यतारणविधावास्ते भवाम्भोनिधौ, श्रीसिद्धेन कृता कथेयमसमार्हद्वाक्यकाष्ठोच्चयैः । तावत् तद्गतसत्पदार्थनिचयस्योदञ्चनेऽसौ क्षमा, सारोद्धारकृतिः सदा तदनुगा नौकेव संसर्प्पतु ॥ १५ ॥ प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम् । शतानि सप्तपञ्चाशत्त्रिंशत्समधिकान्यहो ! ॥ १६ ॥ ग्रन्थाग्रम्–५७३० ॥

श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः समाप्तः

॥ १९४ ॥

आचार्य-श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी-जैन-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क (१४)

卐 श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः 卐

प्राप्तिस्थान—श्रीकेसरबाईज्ञानमन्दिर पाटण